विक्रमोर्वशीयम्

कविरत्न-चक्रधर-हंस

Presented to Pt. Charudev ji Shastri
by Chakra Dhar

THE

VIKRAMORVASHIYA

OF

KĀLIDĀSA

WITH

THE SANSKRIT COMMENTARY and HINDI TRANSLATION

BY

KAVIRATN CHAKRADHAR SHASTRI 'HANS',

HINDI PRABHAKAR, P. H. K. S. MEDALIST,

GARHWAL.

REVISED BY

PANDIT PARMESHWARANAND SHASTRI,

VIDYA BHASKAR, SAHITYOPADHYAYA

Principal Sanatan Dharm Sanskrit College,

LAHORE.

1926.

PUBLISHED BY

LAXMAN DASS, PYARE LAL,

PROPRIETORS, SANSKRIT BOOK DEPOT,

SAIDMITHA STREET, LAHORE.

PRINTED BY LALJI DASS THE ANGLO ORIENTAL PRESS,

CHAMBERLAIN ROAD, LAHORE.

First Edition 1000

THE

VIKRAMORVASHIYA

OF

KĀLIDĀSA

WITH

THE SANSKRIT COMMENTARY and HINDI TRANSLATION

BY

KAVIRATN CHAKRADHAR SHASTRI 'HANS',

HINDI PRABHAKAR, P. H. K. S. MEDALIST,

GARHWAL.

REVISED BY

PANDIT PARMESHWARANAND SHASTRI,

VIDYA BHASKAR, SAHITYOPADHYAYA

Principal Sanatan Dharm Sanskrit College,

LAHORE.

1926.

PUBLISHED BY

LAXMAN DASS, PYARE LAL,

PROPRIETORS, SANSKRIT BOOK DEPOT,

SAIDMITHA STREET, LAHORE.

PRINTED BY LALJI DASS THE ANGLO ORIENTAL PRESS,

CHAMBERLAIN ROAD, LAHORE.

First Edition 1000.

* श्रीः *

महाकवि-कालिदास-प्रणीतम्

विक्रमोर्वशीयम्

त्रोटकम् ।

गढ़वालप्रान्तवास्तव्येन श्रीपण्डित-हृदयराम-तनयेन हंसोपाह्वेन
कविरत्न-चक्रधर-शास्त्रिणा हिन्दी प्रभाकरेण
विरचितया चन्द्रकलाख्यया व्याख्यया
सुललित-हिन्दी भाषया च
समलंकृतम् ।

श्रीमत्पण्डितवर परमेश्वरानन्द-शास्त्रि-विद्याभास्कर-साहित्योपाध्यायेन
श्रीसनातनधर्म संस्कृत महाविद्यालय-प्रधानाध्यापकेन च
संशोधितम् ।
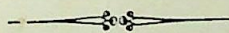
तच्चेदम्
लक्ष्मणदास प्यारेलाल इत्येतद् द्वारा
लवपुरे
लालजीदासप्रबन्धेन ऐंग्लो ओरियन्टल मुद्रणालये संमुद्राप्य प्रकाशितम् ।
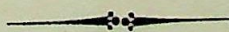
नवम्बर १९२६] प्रथमावृत्तिः १००० [कार्तिक १९८३

❀ टीकाकार की मनोऽभिलाषा ❀

नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत् ।
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः ॥

पाठकवृन्द ! वहाई किसने अमृतमयी यह धारा है ?
किसके गुण से वञ्चित अब भी भूमण्डल यह सारा है ?
किसने जग में गीर्वाणी का पूर्णतया आभास किया ?
कविमण्डल के नव रत्नों में किसने खूब विलास किया ?

विश्वविदित इस योरप में अब किसने धूम मचाई है ?
नव-जीवन से संस्कृत भाषा किसने आज बचाई है ?
शेक्सपियर का गौरव किसने जग से आज घटाया है ?
सरस्वती के मग से तम को किसने आज मिटाया है ?

विश्वविदित है कालिदास, सब जिसकी उपमा देते हैं ?
पदलालित्य, सरलता जिसकी रचना से सब लेते हैं ।
प्रस्तुत कविवर के त्रोटक का दर्शन मैंने किया जभी
नव रस पूर्ण कटोरे से फिर मैंने भी रस पिया तभी ॥

कविवर के इस रस से कोई जग में वञ्चित रहे नहीं,
'आस्वादन के विना कटोरा कोरा' कोई कहे नहीं ।
इसके आस्वादन का मैंने नूतन पथ दिखलाया है,
अपने अनुभव से रसिकों को सुरस पान सिखलाया है ॥

पथिकों को यदि मेरा अनुभव नूतन मार्ग दिखावेगा,
तो पाठकजन प्रेम मुझे भी सेवा भाव सिखावेगा ।
त्रोटक का यदि अमृत पीकर पाठक प्रेम जनावेगा,
तो निज मानस में मानस का 'हंस' अतुल सुख पावेगा ॥

विनीत—

कविरत्न चक्रधर 'हंस'

विद्वदभ्यर्थनम्
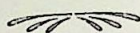
ते सज्जनाः किल भवन्तु सदा प्रसन्ना,
ये प्रीणयन्ति जगतीजनतामनांसि ।
शश्वत्परोपकृतिकर्मपरा वचोभि-
र्वारां भरैर्घनघटा इव काननानि ॥

कर्णेजपा अपि सदाऽसहनस्वभावा,
दुष्टाशया निरभिसंधितवैरिभूताः ।
सौहार्दहृष्टहृदया मयि सन्तु तेषां,
जिह्वापटुर्विनिमयेषु गुणागुणानाम् ॥

किंवानयानृजुजनार्थनयापि मे स्या-
न्मां स्वीकरोति यदि साधुजनो गुणज्ञः ।
पूर्णेन्दुना कुवलयं प्रतिबोधितं स-
त्संमीलितं भवति किं तमसां वितानैः ॥

---o---

विदाङ्कुर्वन्तु श्रीमन्तो विद्वद्रसिकशिरोमणयः सहृदयहृदयाः, यद्यप्येतस्य पुस्तकस्याक्षिमनश्चापल्योपलब्धिमान्द्यानवधानादिमानुष शेमुषीनैसर्गिकभावेन मयानतिप्रयासेनास्मिन्संस्करणे शोधनं समकारि तथापि मन्ये स्युर्बह्वोऽशुद्धयोऽत्र ग्रन्थे । नचाप्यशुद्धिपत्रप्रदानं मह्यं रोचते, यतोऽन्तेवासिनामल्पमप्युपकारं नास्मात् संजायते । उपकार-परायणै र्निसर्गदयालुभिरध्यापकैरेव संशोधनं कारयितव्यम् ।

विदुषामनुचरः—

[illegible] 'हंसः'

'हंस' निवास लाहौर ।

"समर्पण"

पं० ठाकुरदत्त जी वैद्य शास्त्री, मुलतानी।
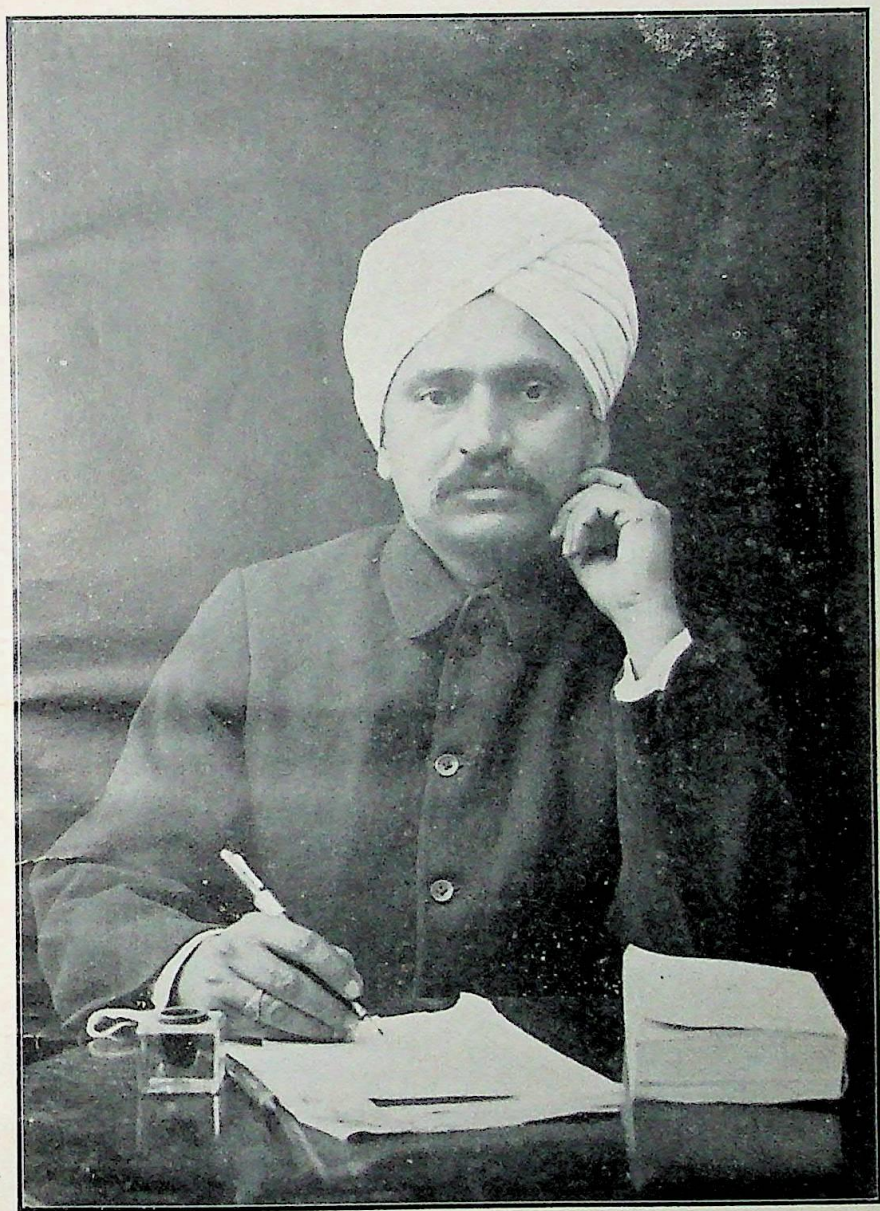
भगवन् ! दयादाक्षिण्यठाकुर ! वैद्यनागर आप हैं,
त्रैलोक्यदुर्लभरत्न के परिपूर्ण सागर आप हैं।

गुणलुब्ध इस उपहार को हे देव ! स्वीकृत कीजिये,
सगुणज्ञ ! मानस'हंस' सम, मत धृष्टता को लीजिए॥

कालिदास ।

इस समग्र ब्रह्माण्ड का निर्माता ब्रह्मा है, मगर कवि की सृष्टि ब्रह्मा से भी विचित्र है। कवि निराश्रय आकाश में विशाल भवन बना डालता है, मुख को कमल तथा कमल को मुख बना देता है। जितने भी प्राचीन तथा आधुनिक संस्कृत के कवि हुए हैं, उन में कविकुल-शिरोमणि श्री कालिदास का आसन सबसे ऊंचा है। इन की रचना में नैसर्गिक पद-लालित्य और प्रसाद गुण अपना जोड़ नहीं रखता। शृङ्गार रस वर्णन में कोई भी कवि इनकी समता नहीं करता। इनकी विजय वैजयन्ती न केवल भारत में बल्कि योरोप में भी फहरा रही है।

कालिदास का जन्म। यह कविशिरोमणि कब और कहां पैदा हुआ ? और इन के माता पिता कौन थे? और ये कब मृत्यु को प्राप्त हुए। इत्यादि विषयों का विश्वसनीय तथा सन्तोष जनक उत्तर अभी तक अन्धकार में पड़ा हुआ है, क्योंकि कविने कहीं भी अपने जन्म तथा अपने मरण के विषय में कहीं भी कुछ नहीं लिखा। तथापि हम आधुनिक अन्वेषकों का मत लेकर कुछ अन्वेषण का प्रयत्न करेंगे। कुछ अन्वेषकों का मत है कि कालिदास उज्जयिनी (संवत् बनाने वाले विक्रमादित्य की राजधानी) के निवासी थे क्योंकि कवि ने जहां पर उज्जयिनी का वर्णन किया है वहां महाकाल शिप्रा और अच्छे २ उज्जयिनी के प्राकृतिक दृश्यों का खूब वर्णन किया है। और कवि ने विक्रमादित्य का भी कई स्थलों पर नामाङ्कित* किया है। और अपनी रचना में विक्रमादित्य की सभा का भी वर्णन किया है। दूसरों का मत है कि कालिदास काशमीर के निवासी थे क्योंकि इन्होंने 'वहां पैदा होने वाले फूलों का तथा लताओं का' पूर्णतया

---

* 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः' विक्रमोर्वशीयम्-'विक्रमसहिम्ना वर्धते भवान्।'

वर्णन किया है जिनका वर्णन केवल वहां का निवासी हो कर सकता है। ये ब्राह्मण कुल में पैदा हुए और शिव जी के परम भक्त थे। डा० बौडा जी का मत भी यही है कि कालिदास ने उत्तरीय भारत का ही नहीं बल्कि हिमालय पर्वत का भी अच्छा वर्णन किया है जिसका वर्णन वही मनुष्य कर सकता है कि जिसने हिमालय को अपनी आंखों से देखा हो। कवि ने न केवल पर्वतों का, बल्कि समस्थलों (मैदानों) का भी अच्छा वर्णन किया है जिससे पहिले ही के मत की पुष्टि होती है।

कालिदास के जीवन के विषय में एक और किम्वदन्ती प्रायः समग्र भारत में प्रचलित है। कहते हैं–प्राचीन काल में मालव देश में एक ब्राह्मण का लड़का रहता था। वह बहुत मूर्ख तथा निर्धन था, गौरक्षण से वह अपनी आजीविका किया करता था। उसी देश में विद्युत्तमा नाम वाली एक राजा की लड़की रहती थी। वह परम विदुषी थी। उसकी प्रतिज्ञा थी कि—जो मुझे शास्त्रार्थ में हरा देगा, मैं उस के साथ विवाह करूंगी। कई पण्डित शास्त्रार्थ के लिए आये मगर सब हार गये। अन्त में पण्डितों ने सलाह की कि यदि यह पण्डितों से विवाह करना नहीं चाहती तो इसका विवाह किसी मूर्ख से करना चाहिये ताकि यह जन्म भर रोती रहे। पण्डित महा-मूर्ख को ढूंढ़ने के लिए जा ही रहे थे कि उन्होंने उसी मूर्ख को एक पेड़ की शाखा को काटते हुए देखा। मूर्ख जिस शाखा पर बैठा हुआ था उसी को काट रहा था। पण्डितों ने उस ब्राह्मण के मूर्ख लड़के से कहा कि हम तेरा विवाह करते हैं; तू हमारे साथ चल, मगर चुप रहना। पण्डितों ने उसे स्नान कराया; अच्छे २ वस्त्र पहनाये; और विद्युत्तमा के पास ले गये। पण्डितों ने कहा कि ये हमारे गुरु जी हैं, इन्होंने आजकल मौन धारण किया हुआ है; ये संकेतों से शास्त्रार्थ करेंगे। शास्त्रार्थ में विद्युत्तमा ने एक अंगुली उठाई अर्थात् ब्रह्म एक है, मूर्ख ने अंगुलियां उठाईं अर्थात् यदि तू मेरी आंख एक अंगुली से फोड़ेगी तो मैं तेरी आंख दो से। मगर सब पण्डितों ने उसका अर्थ यय किया कि—ब्रह्म और शक्ति दो हैं। आखिर पण्डितों ने उस

मूर्ख के साथ विद्वत्तमा का विवाह करवा ही दिया। रात्रि को दोनों सोये हुए थे कि मूर्ख 'ऊट्र, ऊट्र' चिल्लाने लगा। विद्वत्तमा ने पण्डितों का छल पहिचान लिया और लात मारकर उस मूर्खको बाहर फेंक दिया, सामने काली का मन्दिर था। मूर्ख की जिह्वा से खून बह रहा था। भगवती काली ने मूर्ख से पूछा कि-क्या चाहता है? मूर्ख ने समझा कि यह पूछती है कि 'तुझे किसने मारा'। कहने लगा-'विद्वा, विद्वा'। भगवती ने समझा विद्या मांगता है उसने कहा 'तथास्तु'। उसी वक्त जब वह घर को लौटा और 'द्वारं देहि, द्वारं देहि' कहने लगा, तो उस की स्त्री ने पति की आवाज पहिचान कर पूछा-'अस्ति कश्चिद्वाग् विशेषः' कालिदास ने 'अस्ति' से 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि 'कुमार संभव, 'कश्चित्' से 'कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा' इत्यादि मेघदूत, और वाक् से 'वागर्थाविव संपृक्तौ' इत्यादि रघुवंश महाकाव्य, बनाये। नगर निवासियों ने जब उसकी अद्भुत कवित्व शक्ति देखी तो उसका नाम काली के प्रसाद से 'कालिदास' रख दिया।

कालिदास की विद्वत्ता

कालिदास के काव्य पठन से प्रतीत होता है कि यह कवि रामायण, पुराण, धर्मशास्त्र और स्मृति आदि समग्र शास्त्रों का ज्ञान रखते थे। भूगोल विज्ञान, तथा इतिहास आदि का भी इन्होंने अच्छा अनुशीलन किया है। शृंगार रस वर्णन तथा उपमालंकार के ये अद्वितीय हैं। योरोपीयन विद्वान् इनका मुकाबला शैक्सपीयर से करते हैं मगर प्राकृतिक दृष्य Natural sceneries वर्णन करने में कालिदास, शैक्सपीयर से बहुत आगे बढ़ गये हैं।

कालिदास निर्मित ग्रन्थ

कालिदास ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी यह नहीं लिखा कि मैंने कौन २ से ग्रन्थ बनाये हैं। पर कालिदास के नाम से निम्नलिखित चालीस पुस्तकें मिलती हैं:-

१—शाकुन्तल। २—विक्रमोर्वशीय। ३—मालविकाग्निमित्र। ४—रघुवंश। ५—कुमार संभव। ६—मेघदूत। ७—कुन्तेश्वर दौत्य। ८—अम्बास्तव। ९-ऋतु संहार। १०-कल्याणस्तव। ११-श्रुतबोध। १२-नलोदय। १३-शृंगार तिलक। १४-ज्योतिर्विदाभरण इत्यादि।

हमें एक और उदाहरण ऐसा मिलता है कि जिस से पता चलता है कि कालिदास तीन हुये हैं—

"एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ।
शृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥"

अगर तीन कालिदास हुये हैं तो हम कह सकते हैं कि कवि सम्राट् रघुवंश का निर्माता कालिदास वही है कि जिसने शाकुन्तल आदि केवल ६ ही ग्रन्थ बनाये हैं।

कालिदास का समय

कवि कालिदास के समय निर्णय की समस्या सब से कठिन है। क्योंकि कालिदास ने कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं किया। आधुनिक योरोपीयन विद्वानों ने कालिदास के समय निर्णय का बड़ा अन्वेषण किया है और अनेक विद्वानों की भिन्न २ सम्मतियां हैं। हम विद्यार्थियों को बड़े झगड़े में न डाल कर, केवल दो चार मतों का उल्लेख करके अन्त में अपनी राय देंगे।

(क) पहिला और सब से अर्वाचीन मत (The earliest mention of kalidas by name is in the Aihole inscription dated 634 A. D.) कालिदास का समय सातवीं शताब्दि में बताता है क्योंकि प्रायः समग्र संस्कृत के बाण भारवी आदि कवि यहीं से प्रारम्भ हुये हैं। और कालिदास भी बड़े २ नौ कवियों में विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से थे।

(ख) दूसरा मत कहता है कि कालिदास छठी शताब्दि में हुए हैं। और विक्रमादित्य भी इसी समय के हैं। यह मत मैण्डेसोर का है।

(ग) तीसरा मत इन्हें नव रत्नों में बताता है। नव रत्न जो कि विक्रमादित्य की सभा के थे। यथा—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंह शङ्कुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

इन में अमरसिंह आया है जोकि सन् ४२४ से ६४२ के मध्यवर्ती रहा है। और विक्रमादित्य सन् ५८७ में मरा है। इन्हीं के समकालीन कालिदास को बताया जाता है।

(घ) चौथा मत प्रो० मैक्समूलर का है। इन्होंने संस्कृत साहित्य को २ भागों में विभक्त किया है १—वैदिक २—संस्कृत। वैदिक साहित्य को इन्होंने पहिली शताब्दि में और संस्कृत साहित्य को छठी शताब्दि में रक्खा है। इनके मतानुसार कालिदास का समय ६ ठी शताब्दी में है जिस में विक्रमादित्य भी हुये हैं।

(ङ) पञ्चम मत का कहना है कि कालिदास विक्रमोर्वशीय में लिखते हैं 'आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहगतस्करः' इस में चोर के लिये उचित दण्ड 'वध' लिखा है जो कि स्मृति के बिल्कुल अनुकूल है। इस लिये मनु आदियों का इन्हें समकालीन कहना चाहिये। अर्थात् इस मत के अनुसार कालिदास पहिली शताब्दि में हुए हैं।

सारांश

बाण और भवभूति सप्तम शताब्दि में हुए हैं इस में किसी का भी मत भेद नहीं। मगर कालिदास के ग्रन्थों में इनका कहीं भी वर्णन नहीं आता। इस पर विचार करने से निश्चित होता है कि कालिदास इन से छः, सात सौ वर्ष पहिले हुए हैं। इस लिये स्पष्ट हो चुका है कि कालिदास प्रथम विक्रमीय संबत् में हुए हैं। यह वही विक्रमादित्य हैं कि जिन्होंने सम्बत् चलाया है और कालिदास इन के नव रत्नों में मुख्य थे। अर्थात् कालिदास ईशा से ५७ वर्ष पहिले हुये हैं।

विक्रमोर्वशीय समालोचनम्।

विक्रमोर्वशीय त्रोटक महाकवि श्री कालिदास ने बनाया है। इस में कवि ने अति मनोहर कथा को संनिवेशित किया है। इस आख्यायिका का आधार विष्णु पुराण के चतुर्थ अंश का छटा अध्याय है। कवि ने इस अख्यायिका को इस तरह मधुर शब्दों में वर्णन किया है कि पढ़ने वालों को जिस से अत्यन्त आनन्द होता है। इस त्रोटक के चतुर्थ अङ्क में कवि ने राजा का अपनी प्राणप्यारी के लिये अन्वेषण अत्यन्त ही सुन्दर रखा है। और इस काव्य में भी कवि ने और २ अपने काव्यों की तरह ललित तथा मधुर पद रखे हैं। तृतीय अङ्क में जब औशीनरी आती है तो राजा पूर्व दिशा को देख कर कहते हैं:—

उदय गूढशशाङ्कमरीचिभिस्तमसि दूरतरं प्रतिसारिते ।
अलकसंयमनादिव लोचने हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम् ॥

चन्द्रमा का उदय होते देखकर, वाराङ्गना की भांति केश कलाप को दूर कर के जो कवि ने नवीन ढंग से दिशा का वर्णन किया है वह केवल कालिदास की लेखनी का ही प्रभाव है।

इस त्रोटक की जब हम समालोचना करते हैं और देखते हैं कि उर्वशी जो कि स्वर्ग के भोगों से परितृप्त मनुष्यों से उत्कृष्ट पद (अप्सरा योनि) को प्राप्त होती हुई भी जो सोमवंश में उत्पन्न राजा पुरूरवा पर, चाहे देवताओं से अधिक पराक्रमी होने से चाहे कृतज्ञता से, चाहे कामदेव से भी अधिक सुन्दर होने से, केवल दर्शन मात्र से मस्त हो जाती है तो हम कहे विना नहीं रह सकते कि उर्वशी तथा राजा का अनुराग नाटक राज शकुन्तला के दुष्यन्त और शकुन्तला के अनुराग से वहुत उत्कृष्ट है। शाकुन्तल में अगरचे राजा दुष्यन्त, नाना गुण सम्पन्न, वीर्यवान्, लावण्यवान् और चक्रवर्ती भी हैं तो भी उन का शकुन्तला के साथ वैसा प्रणय नहीं होता जैसा कि विक्रमोर्वशीय में है।—कविवर ने चित्रलेखा के मुख से राजा का महत्व थोड़े से शब्दों में क्या ही सुन्दर रखा है।

उर्वशी—(चक्षुषी उन्मील्य) 'किं सम्पहारदंसिणा महेन्देण अवभुवस्मह्मि' ?

चित्रलेखा—'ण महेन्देण महेन्दसरिसाणुभावेणा रापसिण पुरूरवसेण'।

प्रथम ही परिचय में यहां पर उर्वशी की, देवेन्द्र के समान पराक्रमी राजा को समझ कर और भी आसक्ति होजाती है। काव्यांश में केशि दानव के भय से डरी हुई, मूर्छित और कांपती हुई उर्वशी के मोह को स्वप्नवत् दूर कर के तथा राजा को देख कर उर्वशी को जो आनन्द होता है, उसे कविवर कालिदास ने विचित्र ही रखा है। इस की मूल अख्यायिका का विष्णुपुराण में इस प्रकार वर्णन आता है—

"भगवान् मित्रावरुण ने उर्वशी को शाप दिया कि 'तू मनुष्य योनि में उत्पन्न होगी।' मानुषी होते ही उर्वशी प्रतिष्ठान नगर के

राजा पुरूरवा के यहां आई और उन के आलौकिक रूप को देख कर उन पर मोहित हो गई। उर्वशी ने महाराज से प्रतिज्ञा की कि 'जब तक मेरे मेष के बच्चे का हरण न होगा और मैं आपको नग्न न देखूंगी, तब तक आपके यहां रहूंगी'। जब बहुत समय तक उर्वशी राजा के साथ ऐश्वर्य का उपभोग करती रही तो इन्द्र ने विश्वावसु से कहा कि-'तुम मेष के शावक को चुराओ'। निदान रात्रि में जब उर्वशी ने अपने बच्चे के भय से व्याकुल शब्द को सुना तो राजा से अनुरोध किया कि आप चोर को उचित दण्ड दें। राजा जल्दी में नग्न विमान मार्ग से जा ही रहे थे कि गन्धर्वों ने बिजली का प्रकाश किया। उर्वशी ने राजा को नग्न देखा और अपनी पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरण कर अन्तर्धान हो गई। तब से ले कर राजा उर्वशी के विरह में पृथ्वी में इधर उधर घूमने लगा। बहुत दिनों के बाद उन्हों ने उर्वशी को बहुत सी सखियों के साथ एक तालाब में विहार करते देखा। और देखकर हृदयद्रावक स्तुति से गन्धर्वों को प्रसन्न करने लगे। उस स्तुति से गन्धर्व प्रसन्न हो गये और उन्हों ने राजा को वर दिया कि तुम्हारा उर्वशी के साथ फिर समागम होगा"। चाहे कुछ ही क्यों न हो मगर इस में सन्देह नहीं कि यह कथा पौराणिक है।

जब औशीनरी रानी को विदित हो जाता है कि राजा का उर्वशी के साथ प्रेम है, और फिर भी उस का भगवान् चन्द्रमा से यह प्रार्थना करना "अज्जप्पहुदि अज्जउत्तो जं इत्थिअं कामेदिं जा अज्जउत्तसमागमप्पणयिनी ताए सह अप्पदिबन्धेण वत्तिदव्वम्'। सहृदय पुरुषों के चित्तों में अत्यन्त आश्चर्य और माधुर्य को पैदा करता है। इस से अधिक अपने स्वामी के लिये स्त्रियों का कर्तव्य और गौरव हो ही नहीं सकता। कवि ने चित्रलेखा का चरित्र चित्रण भी अजीव ढंग से रक्खा है जहां २ हम उसके सरस वाग्विभव को देखते हैं, अति प्रसन्न हो जाते हैं। जिस समय उर्वशी विमान में चित्रलेखा से पूछती है—'सहि रोअदि दे मे अअं मोत्ताहरण-भूसिदो णीलंसुअपुरिग्गहो अहि सारि आवेसो' इस के उत्तर में चित्रलेखा अपने चातुर्य को इस प्रकार दिखाती है। "णत्थि मे वाआ-

विहवो पसंसिदुं, इदं तु चिन्तेमि, अचिणाम अहं एव्व पुरूरवा भवेअं ति" इति। इस से अधिक क्या ही उत्तम वस्तु नाट्य संसार में हो सकती है कि—स्त्री के रूप को देख कर स्त्री भी उसका पति बनना चाहती है।

दोष समीक्षा।

कवि ने प्रधान पात्र, सोमवंश में उत्पन्न, राजा का चरित्र दानवों का मथन करने वाला, अतुल पराक्रमी, इन्द्र के समान वर्णन किया है। और फिर उसी राजा का एक वेश्या के लिए इतना अनुराग वर्णन करके कवि ने उस के चरित्र को हीन कर दिया हैं।

राजा के चरित्र में हम देखते हैं, कि औशीनरी देवी राजा को इतना प्रसन्न करती थी परन्तु राजा उसकी परवाह न करके उर्वशी के लिये इतना विलाप करता है कि राज्य की चिन्ता रूपी अपने कर्तव्य को भी भूल जाता है। इस प्रकार का वर्णन एक अच्छे चरित्र में दोष जनक है।

इस त्रोटक की साम्यता कई स्थलों पर शकुन्तला नाटक से की गई है जिस से इस त्रोटक की मनोहरता कम होजाती है। यथा—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्थितं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥

इस श्लोक से दुष्यन्त ने अपने हृदय के भाव को बड़ी मनोहरता से वर्णन किया है जिस से उसकी चित्तवृत्ति मूर्त्तिमती सी प्रतीत होती है। "एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्" इस प्रकार पुरूरवा के कथन से प्रतीत होता है कि केवल उर्वशी के साथ मेरा मन जाता है। भाव सादृश्य भी है मगर दुष्यन्त का चित्त तो शकुन्तला के पीछे जड़ (निर्जीव) हो गया है, मगर पुरूरवा का चित्त सजीव होते हुए भी केवल उर्वशी के ही साथ जा रहा है। इस लिये जिस प्रकार शाकुन्तल के श्लोक में माधुर्य है उस प्रकार उर्वशीय के नहीं।

प्रथमाङ्क का संक्षेप।

सूत्रधार की सूचना के अनन्तर राजा पुरूरवा का केशिदैत्य से उर्वशी को छुड़ाना, उसका सखियों से मिलना, इसके बाद एक दूसरे पर मोहित होकर राजा और उर्वशी अपने २ घर को जाते हैं।

द्वितीय अङ्क का संक्षेप।

प्रमद वन में काम बाण-पीडित राजा को, स्वर्ग से उतर कर तिरस्करिणी विद्या से छिपी हुई, चित्रलेखा सहित उर्वशी का प्रेम पत्र देना, राजा का पत्र को पढ़ कर विदूषक के हाथ में देना, सखी को भेज कर उर्वशी का स्वयं राजा के सामने जाना, लक्ष्मी स्वयंबर रूपक को खेलने के लिये बुलाये जाने पर उर्वशी का दुःखित होकर स्वर्ग को जाना, राजा का हवा से उड़े हुए पत्र को ढूंढ़ना, दौर्भाग्य से चेटी के साथ आती हुई रानी का पत्र को पाना, राजा को पत्र समर्पण कर, उसकी अनेक खुशामद तथा पादपतन की लापरवाही कर रानी का महल को जाना। अन्त में राजा और विदूषक चले जाते हैं।

तृतीय अङ्क का संक्षेप।

भरत शिष्यों में स्वर्ग के लक्ष्मी स्वयंवर के विषय में बात चीत होती है कि जब मेनका-वारुणी, और उर्वशी-लक्ष्मी बनी हुई थी तो वारुणी ने लक्ष्मी से पूछा—'तू हृदय से किस को चाहती है'। लक्ष्मी ने 'पुरुषोतम' के स्थान पर 'पुरूरवा' कह दिया, जिस से कुपित होकर भरतजी ने उसे शाप दिया कि—'तूने मेरे उपदेश पर ध्यान नहीं दिया इस लिये तेरा वास स्वर्ग में नहीं होगा'। इस पर देवराज ने कहा— युद्ध में मेरे सहायक, प्रिय मित्र पुरूरवा के साथ तू तब तक रहेगी जब तक वे पुत्र का मुंह नहीं देखते। मणिहर्म्य घर में राजा तथा विदूषक के आने पर, तिरस्कारिणी विद्या से अभिसारिका वेश में सखी के साथ उर्वशी का छिपना. औशीनरी का प्रसादन के बहाने वहां आना, रोहिणी के साथ चन्द्रमा, कञ्चुकी, विदूषक और राजा की पूजा कर के उसका लौटना। उर्वशी का राजा के पास आना, चित्रलेखा का स्वर्ग को जाना।

चतुर्थ अङ्क का संक्षेप।

कुमार वन में प्रवेश करते ही उर्वशी का लता बन जाना, तथा मोक्षोपाय संगममणिका कथन। विरह से व्याकुल राजा का, मेघ-मयूर-पिक-मराल-मधुकर–गज-शैल-सरित-सारङ्ग-नीपों से प्रिया

का वृत्तान्त पूछना अन्त में संगममणि को पाकर लताभूत प्यारी का अलिङ्गन कर शाप से मुक्त उर्वशी के साथ राजा का मेल होता है।

पञ्चम अङ्क का संक्षेप।

गीध का मणि को हरना, आयु, कुमार का आना, तथा राजा से परिचय; पुत्र के दर्शन से प्रसन्न राजा का उर्वशी को बुलाने पर दुःखित होना; वनवास के लिये प्रस्थान करते हुए राजा को स्वर्ग से आकर नारद ने इन्द्र की आज्ञा सुनाई। इसके बाद राजा ने पुत्र को युवराज बना कर उर्वशी के साथ सुख से वास किया।

समालोचना।

'विक्रमोर्वशीय' शब्द का वाच्यार्थ तथा उपयोग।

पुरूरवसा विक्रमेण पराक्रमेण (केशिदानवात्) गृहीता उर्वशी यत्र तत् 'विक्रमोर्वशीयम्'। शाकपार्थिवेति सूत्रेण मध्यमपदलोपः, तदधीत्येनेन छः, आयनेत्यनेन छस्येयादेशे निरुक्तरूपस्य निष्पत्तिः।

'महाराज पुरूरवा ने अपने अतुल पराक्रम द्वारा केशि दानव के हाथ से उर्वशी को ग्रहण किया' जिस पुस्तक में ऐसा वर्णन हो उसे "विक्रमोर्वशीय" कहते हैं।

दृश्य और श्रव्य में 'विक्रमोर्वशीय' दृश्य काव्य है।

'दृश्य श्रव्यत्वभेदेन काव्यं तावद्द्विधा स्मृतम्' दृश्य तथा श्रव्य भेद से काव्य दो प्रकार का होता है। क्योंकि 'विक्रमोर्वशीय' में सूत्रधार आदि पात्रों को देखा जाता है, इस लिये यह दृश्य काव्य है। जोकि नाटक के भेदों में त्रोटक है।

त्रोटक का लक्षण।

सप्ताष्टनवपञ्चाकं दिव्यमानुषसंश्रयम्।
त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम्॥

जिस में सात, आठ, नौ, या पांच अङ्क हों, देवता और मनुष्यों का सम्बन्ध हो, और जिस के प्रत्येक अंक में विदूषक हो उसे त्रोटक कहते हैं। (सविदूषक) इस पद से शृंगारमात्र विवक्षित है। इस लिये किसी अङ्क में अगर विदूषक न भी हो तो कोई क्षति नहीं। 'विक्रमोर्वशीय' में उपर्युक्त प्रायः सब बातें हैं, इस लिये यह त्रोटक है।

अंक का लक्षण।

प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः॥ इत्यादि...
अन्तेनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः॥ इति

जिस में नायक का चरित्र किसी पौराणिक गाथा से सम्बन्ध रखता हो; रस भाव से उज्ज्वल हो, कहीं पर गूढ शब्दार्थ न हो, क्षुद्र चूर्णक से युक्त हो...... और जिस के अन्त में सब पात्र चले जाते हों, उसे अङ्क कहते हैं।

पात्र का लक्षण।

रङ्गे विशन्ति कार्यार्थं ये हि कार्यार्थिनो जनाः।
ते सर्व एव पात्राणि कीर्तितानि मनीषिभिः॥

रङ्ग में कार्य के लिये जो सूत्रधार आदि कार्यकर्ता प्रवेश करते हैं, उन्हें सहृदय 'पात्र' कहते हैं।

नायक का लक्षण।

अनन्यसाधारणकान्तिकान्तं लोकानुरक्तं प्रथितं मनुष्यम्।
कलैधितं नाटकमुख्यपात्रं नेताजनं तं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥

असाधारण कान्ति से भूषित, लोगों पर अनुरक्त, विख्यात कीर्ति वाला, समग्र कला पूर्ण और नाटक के मुख्य पात्र को नायक कहते हैं।

धीरोदात्त नायक (पुरूरवा) का लक्षण।

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥

अपनी प्रसंशा न करने वाला, क्षमा युक्त, अति गम्भीर, सात्विक प्रकृति, धैर्यशाली, गूढ चरित्रों वाला नायक धीरोदात्त तथा दृढ प्रतिज्ञ होता है।

विदूषक का लक्षण।

"विकृताङ्गवचो वेषैर्हास्यकारी विदूषकः"

अङ्ग, वचन और वेष को विगाड कर हंसी कराने वाले को विदूषक कहते हैं।

कञ्चुकी का लक्षण ।

अन्तःपुरचरो राज्ञो वृद्धो गुणगणान्वितः ।
उक्तिप्रत्युक्तिकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥

राजा के अन्तःपुर में रहने वाला, वृद्ध, अनेक गुणों से युक्त और उक्ति प्रत्युक्ति में चतुर मनुष्य, कञ्चुकी कहलाता है ।

सूत्रधार का लक्षण ।

नाट्यस्य यदनुष्ठानं तत्सूत्रं स्यात्सबीजकम् ।
रङ्गदैवतपूजाकृत्सूत्रधार उदीरितः ॥

नाटकीय डोरी को बीज के साथ जुड़ाने वाला, तथा रङ्ग में देवता की पूजा करने वाले को सूत्रधार कहते हैं ।

नान्दी का लक्षण ।

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥

क्योंकि इस से देव, ब्राह्मण और राजाओं की स्तुति आशीर्वाद के वचन से युक्त होती है, इस लिए इसे नान्दी कहते हैं ।

पारिपार्श्वक का लक्षण ।

सूत्रधारस्य पार्श्वे यः प्रवदन्कुरुतेऽर्थनाम् ।
काव्यार्थसूचनालापं स भवेत्पारिपार्श्वकः ॥

जो सूत्रधार के पास काव्य के अर्थ की सूचना के लिये प्रार्थना रूप आलाप करता है उसे पारिपार्श्वक (नट) कहते हैं ।

नेपथ्य का लक्षण ।

"नेपथ्यं स्याज्जवनिका रङ्गभूमिः प्रसाधनम्"

जवनिका (पर्दा) के भीतर वाले स्थान को नेपथ्य कहते हैं ।

प्रस्तावना का लक्षण ।

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्वक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ।

चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुतापेक्षितैर्मिथः
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ।

जिस में नटी, विदूषक और पारिपार्श्वक अपने कार्य के लिए सूत्रधार से आपस में बात चीत करें उसे आमुख या प्रस्तावना कहते हैं। इस त्रोटक में (उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक, अवलगित इन पाञ्चों भेदों में से) प्रयोगातिशय का लक्षण–

यदि प्रयोग एकस्मिन्प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा ॥

यदि एक प्रयोग में अन्य प्रयोग द्वारा पात्र का प्रवेश कराया जाय तो उसे प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना कहते हैं।

स्वगत का लक्षण।

"अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्"

जो वस्तु किसी को सुनाने के योग्य न हो उसे 'स्वगत' कहते हैं।

प्रकाश का लक्षण।

"सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्" सब को सुनाने योग्य वस्तु को 'प्रकाश' कहते हैं।

प्रवेशक का लक्षण।

"प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रः प्रयोजितः"

अनुदात्तउक्ति द्वारा नीच पात्रों का प्रयोग 'प्रवेशक' कहलाता है।

विष्कम्भक का लक्षण।

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य कीर्तितः ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः ।
शुद्धःस्यात्सतु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ।

होने वाले वृत्त का संक्षेप से बताने वाला, विष्कम्भक होता है, जो कि अङ्क के आदि में मध्यम पात्र से प्रयुक्त होता है। तथा नीच और मध्यम पात्र से प्रयुक्त शुद्ध कहलाता है।

प्राज्ञ ।

PRAJNA.—PAPER I.

Time allowed: Three hours.

Maximum Marks: 100.

विशेष सूचना–**प्रश्नों के उत्तर हिन्दी भाषा में देने चाहिये ।**

I. "पुरुरूपरूपनिरूपणम्" और "विक्रमोर्वशीयम्" यह दोनों नाम सार्थक हैं अथवा निरर्थक ? यदि निरर्थक हैं तो क्यों ? और यदि सार्थक हैं तो किस प्रकार ? ५

II. "विक्रमोर्वशीय" के कर्ता का नामोल्लेख करो ॥ २

III. निम्नलिखित शब्दों के अर्थ बताओ:—

(१) अकूपारः । (२) अनिलाशनः । (३) अनिमिषः । (४) श्वभ्रम् । (५) शतह्रदा । (६) तिरस्करिणी ॥ ६

IV. निम्नलिखित शब्दों के ऊपर आवश्यक टिप्पण करो:–

(१) त्रिपथगा । (२) हरिवाहनः ॥ ६

V. निम्नलिखित व्यक्तिओं का संक्षेप से परिचय दो:—

पुरुरूपरूपनिरूपण--(१) काव्य । (२) अम्बा ॥

विक्रमोर्वशीय-- (३) आयुः । (४) सत्यवती ॥ ८

VI. निम्नलिखित श्लोकों का अर्थ लिखो :—

**(क) वेदानुद्धरतेऽचलं निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः** ६

**(ख) यश्चिन्त्यमानो मनसा सद्यः पापं व्यपोहति ।
नमस्तस्मै विशुद्धाय पराय हरिवेधसे ॥** ३

**(ग) ववुर्वाताः सुखस्पर्शाः विरजस्कमभून्नभः ।
धर्मे च सर्वभूतानां तदा मतिरजायत ॥** ३

**(घ) यावच्छशाङ्कधवलामलबद्धमौलि–
र्न प्रीयते पशुपतिर्भगवान् महेशः ।
तावज्जरामरणजन्मशताभिघातै–
र्दुःखानि देहविहितानि समुद्वहामि ॥** ४

(ङ) उष्णार्त्तः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरि कर्णिकारकलिकामाशेरते षट्पदाः ।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जर शुकः क्लान्तो जलं याचते ॥ ६

(च) रविमाविशते सतां क्रियायै
सुधया तर्पयते पितॄन् सुरांश्च ।
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे
हरचूडानिहितात्मने नमस्ते ॥ ४

(छ) नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया मम नोर्वशी ॥ ५

(ज) शमयति गजानन्यान् गन्धद्विपः कलभोऽपि सन्
प्रभवतितरां वेगोदग्रं भुजङ्गशिशोर्विषम् ।
भुवमधिपतिर्बालावस्थोऽप्यलं परिरक्षितुम्,
न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो गणः ॥ ५

VII. छठे प्रश्न में अधोरेखाङ्कित पदों का विग्रह करो ॥ ८

VIII. पूर्वापरप्रकरण निरूपणपूर्वक निम्नलिखित उद्धरणों का अर्थ विशद करोः—

(क) उपकारो ह्यसाधूनामपकाराय केवलम् ॥
(ख) श्लाघ्य एव हि वीराणां दानादापत्समागमः ।
नाबाधकारि यद्दानं तदमङ्गलवत्स्मृतम् ॥
(ग) गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥
(घ) णं पढमं मेहराई दीसदि पच्छा विज्जुलदा ॥
(ङ) छिन्नहत्थो पुरदो वज्झे पलाइदे भणादि—'गच्छ धम्मो भविस्सदि" त्ति ॥
(च) निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ॥ २४

IX. आठवें प्रश्न के (घ) और (ङ) भाग में जो प्राकृतभाषा है उसका पुनरुल्लेख करते हुए उसके प्रत्येक शब्द के संस्कृतभाषा के शब्दों का उल्लेख करो ॥ ५

विक्रमोर्वशीय में—

रीति—पाञ्चाली है। गुण—माधुर्य है।
अङ्गीरस—शृंगार है। अङ्गरस—हास्य, करुणादि हैं।

प्रथम अंक के पात्र।

१-सूत्रधार। २-नट (पारिपार्श्वक) ३-राजा। ४-उर्वशी। ५-रम्भा, ६-मेनका। ७-चित्रलेखा। ८-सूत। ९-चित्ररथ। १०-सहजन्या।

द्वितीय अंक के पात्र।

१-विदूषक। २-चेटी। ३-राजा। ४-उर्वशी। ५-देवी (औशीनरी) ६-चित्रलेखा। ७-देवदूत। ८-वैतालिक।

तृतीय अंक के पात्र।

१-भरत मुनि के दो शिष्य २-राजा, ३-उर्वशी, ४-कञ्चुकी, ५-विदूषक, ६-परिजन, ७-चित्रलेखा, ८-निपुणिका (चेटी) ९-देवी।

चतुर्थ अंक के पात्र।

१-चित्रलेखा। २-सहजन्या। ३-राजा। ४-उर्वशी।

पञ्चम अंक के पात्र।

१-विदूषक। २-राजा। ३-किरात ४-परिजन। ५-यवनी। ६-कुमार। ७-कञ्चुकी। ८-तापसी। ९-उर्वशी। १०-रम्भा। ११-नारद। १२-दो वैतालिक।

विक्रमोर्वशीय त्रोटक के पात्र।

पुरूरवा--प्रतिष्ठान नगर (इलाहाबाद) का राजा, प्रकृत त्रोटक का नायक।
उर्वशी—स्वर्ग की अप्सरा तथा प्रकृत त्रोटक की नायिका।
सूत्रधार—प्रकृत त्रोटक के सूत्र को बांधने वाला नट।
सूत—राजा का सारथी। चित्ररथ—गन्धर्व।
विदूषक—हास्य करने वाला। कञ्चुकी—अन्तःपुरचारी, वृद्ध पुरुष।
चेटी—देवी की सखी। देवी—(औशीनरी) राजा की रानी।
रम्भा—स्वर्ग की प्रसिद्ध अप्सरा।
रेचक—(किरात)—नायक का दास।
आयु—राजा का पुत्र।
नारद—देवर्षि।

मेनका, चित्रलेखा, सहजन्या } उर्वशी की सहेलियां।

तापसी—च्यवनाश्रम की निवासिनी। भरतमुनि के दो शिष्य।

॥ श्रीः ॥

महाकविकालिदासप्रणीतम्

विक्रमोर्वशीयम्

त्रोटकम्

चन्द्रकलाटीकोपेतम्

प्रथमोऽङ्कः ।

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥१॥

शंकरं शंकरं ध्यात्वा नत्वा गीर्वाणभारतीम् ।
करोमि बालबोधाय टीकां चन्द्रकलामहम् ॥

(१) अन्वयः—वेदान्तेष्विति—यं वेदान्तेषु रोदसी व्याप्य स्थितम् एकपुरुषम् आहुः, यस्मिन् ईश्वर इति अनन्यविषयः शब्दः यथार्थाक्षरः (अस्ति) यश्च नियमित-प्राणादिभिः मुमुक्षुभिः अन्तर् मृग्यते, स्थिरभक्तियोगसुलभः स स्थाणुः वः निःश्रेयसाय अस्तु ।

च० टी०—यं देवं वेदान्तेषु उपनिषत्सु रोदसी द्यावापृथिव्यौ व्याप्य अधिष्ठाय स्थितं विद्यमानं सर्वव्यापिनमित्यर्थः । एकपुरुषम् सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदरहितं ब्रह्म आहुः वर्णयन्ति तत्वाविद इतिशेषः । यस्मिन् देवे ईश्वर इति अनन्यविषयः नास्ति अन्यस्त-द्भिन्नः कश्चित् विषयः वाच्यः यस्य स तथाविधः शब्दः यथार्थाक्षरः अणिमादिविविधैश्वर्यशालित्वाद् अनुगतावयवार्थः अस्ति । यश्च

ईश्वरः, नियमिताः अन्तर्निरुद्धाः प्राणाद्यो प्राणापानसमानोदानव्यानाख्याः पञ्चशरीरवायवो यैस्तैः मुमुक्षुभिः मोक्षाकाङ्क्षिभिः योगिभिरितिभावः। अन्तः हृदयपुण्डरीके मृग्यते अन्विष्यते। स्थिरभक्तियोगसुलभः स्थिरः अचलः दृढः यो भक्तियोगः उपासनायोगस्तेन सुलभः सुप्रापः। स स्थाणुः शिवः वः युष्माकं सामाजिकानामितियावत्, निःश्रेयसाय कल्याणाय मोक्षाय अस्तु स रुद्रः मुक्तिप्रदो भवतु इत्यर्थः। "आशीर्नमस्क्रिया रूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः। नान्दीति कथ्यते" इति नान्दीलक्षणमनुसन्धाय काव्यार्थसूचनमप्यत्रैवावगन्तव्यम्—अनन्यसामान्यप्रजापालनदयादाक्षिण्यादियोगाद्यं पुरुषमेकं मुख्यमाहुर्वर्णयन्ति। वुधा इति शेषः। रोदसी द्यावाभूमी व्याप्य स्थितम्। स्वकीर्त्येति शेषः। यस्मिन् राजनि ईश्वरशब्दः यथार्थाक्षरः निग्रहानुग्रहादिप्रभुशक्तिसम्पत्तेरितिभावः। चोऽप्यर्थे। तथा च नियमितप्राणादिभिः मुमुक्षुभिरपि समलोष्टाश्माकाञ्चनैरत्युदासीनैरपीत्यर्थः। यः राजा अन्तःकरणे मृग्यते चिन्त्यते। नैतादृशो धर्मशीलो जगति दृष्टपूर्व इति सर्वदा चेतस्यनुसन्धीयत (ते तस्य सुधयः) इतिभावः। स्थाणुः स्थिरतरः अतिधीर इति यावत्। स्थिरा भक्तिर्यासां प्रजानां ताभिर्योगेन चित्तानुसरणरूपेणोपायेन सुलभो ऽभिगम्यः। यद्वा स्थिरा भक्तिरर्थाद्राजनि यस्या उर्वश्यास्तया योगेनार्थात्संगमनीयाख्यमणिसम्बन्धेन सुलभः सुप्रापः। एतेनास्योर्वशीकामुकत्वम् लतारूपायाश्चास्याः संगमनीयद्वारा सङ्गम इत्याद्यसूचि। एवं विशेषणविशिष्टः स प्रसिद्धविभवः विशेषणमहिम्ना विशेष्यलाभात्पुरूरवा वो युष्माकं सभासदां निःश्रेयसाय प्रायेण योगक्षेमादिरूपकल्याणाय अस्तु भवत्विति। एकत्वं चाथर्वशिरोपनिषदि—'स एको य एकः स रुद्रो' इत्यादि। तैत्तिरीयेऽपि–'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' इत्यादि। ईश्वरत्वं च तस्य सकलश्रुतिसिद्धम् तथाहि—'ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः' इति तैत्तिरीये। स्थाणुः शिवः "स्थाणू रुद्रः उमापतिः" इत्यमरः। अस्मिन् श्लोके शार्दूलविक्रीडितं छन्दः "सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्" इति लक्षणात्।

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) मारिष ! इतस्तावत् ।

(प्रविश्य)

पारिपार्श्वकः—भाव, अयमस्मि ।

सूत्रधारः—मारिष, परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा । अहमस्यां कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन त्रोटकेनोपस्थास्ये । तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु स्वेषु पाठेष्ववहितैर्भवितव्यमिति । (२)

हि० टी०-*उपनिषदादि ग्रन्थों में जिसे आकाश और पृथ्वी में व्याप्त अखण्ड ब्रह्म बताया गया है; असाधारण 'ईश्वर' शब्द जिस में पूर्ण सार्थक होता है; और मोक्ष को चाहने वाले योगी, प्राणादि वायुओं को रोककर जिसे अपने हृदय कमल में ढूंढते हैं । वह निश्चल भक्ति के द्वारा प्राप्त होने वाला भगवान् शंकर तुम्हारा* (नाट्य द्रष्टा *सामाजिकों का*) *कल्याण करे ।*

(नान्दी के बाद)

सूत्रधार-*अधिक विस्तार की आवश्यतकता* नहीं (नेपथ्य की *तरफ* देखकर) *मारिष ! इधर आओ ।*

(प्रवेश करके)

पारि०-*आर्य ! उपस्थित होगया हूं ।*

(२) परिषत् सभा, दृष्टरसप्रबन्धा दृष्टः विलोकितः रसस्य शृङ्गारादेः प्रबन्धः सन्दर्भः यया । ग्रथितवस्तुना निर्मितवस्तुना, त्रोटकेन त्रोटकाख्य दृश्यकाव्येन, उपस्थास्ये उपस्थितो भविष्यामि । पात्रवर्गः अभिनेतृसमुदायः, स्वेषुपाठेषु स्वपाठितव्येषु स्वाभिनेयेषु च अवहितैः सावधानैः । (२)

सूत्र०-*मारिष !* इस सभा के सामाजिकों ने प्राचीन कवियों के बनाये हुए अनेक सरस नाटक देखे हैं । मैं इस सभा में महाकवि कालिदास के बनाए हुए नवीन त्रोटक को लेकर उपस्थित होता हूं अर्थात् इस त्रोटक को खेलूंगा । इसलिये नाटक के पात्रों से कहदो कि अपने अपने पाठों में सावधान रहें ।

पारिपार्श्वकः—यथाज्ञापयति भावः। (इति निष्क्रान्तः)

सूत्रधारः—यावदिदानीमार्यविदग्धमिश्रान्विज्ञापयामि। (३)

(प्रणिपत्य)

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात्।
शृणुत जना अवधानात्क्रियामिमां कालिदासस्य ॥(४)

(नेपथ्ये)

(अज्जा परित्ताअध परित्ताअध। जो सुरपक्खवादी, जस्स वा अम्बर अले गई अत्थि)

आर्याः, परित्रायध्वं परित्रायध्वम्। यः सुरपक्षपाती यस्यवाम्बरतले गतिरस्ति ॥ (५)

पारिपार्श्वक—जैसी आपकी आज्ञा हो (ऐसा कहकर चला गया)

सूत्रधार—आर्याः सत्कुलोत्पन्नाः विदग्धाः सकलकलावेदिनः, मिश्राः माननीयाः विज्ञापयामि सूचयामि। (३)

सूत्र०—तो अब मैं कुलीन, सकलकलाप्रवीण, माननीयसभासदों को सूचित करता हूं। (प्रणाम करके)

(४) अन्वयः—हे जनाः, प्रणयिषु दाक्षिण्यवशात् अथवा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात् इमां कालिदासस्य क्रियाम् अवधानात् शृणुत।

च० टी०—हे जनाः! हे सरसहृदयाः! प्रणयिषु प्रियमित्रेषु दाक्षिण्यवशात् दाक्षिण्यमानुकूल्यंतद्वशात् तद्धेतोः, अथवा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात् सत् समीचीनं वस्तु वृत्तं यस्यैतादृशः पुरुषः वर्णनीयो नायकः तस्य बहुमानात् आदरातिशयात् इमां कालिदासस्य क्रियां नाटकरूपां कृतिम् अवधानात् अप्रमादात् शृणुत।

हि० टी०—सज्जनगण! प्रिय मित्रों के अनुरोध (लिहाज़) से अथवा अच्छे वंश और आचार वाले नायक के अधिक आदर से इस कालिदास के बनाये हुए प्रबन्ध को सावधान होकर सुनो।

(आकाश में)

(५) परित्रायध्वं रक्षत, सुरपक्षपाती देवप्रियः, अम्बरतले आकाशे, गतिः गमनम्।

सूत्रधारः—(कर्णं दत्वा) अये ! किंनु खलु मद्विज्ञापनानन्तरमार्तानां कुररीणामिवाकाशे शब्दः श्रूयते । (६)

मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां
शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः ।
आकाशे सुरगणसेविते समन्तात्
किं नार्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः ॥ ७ ॥

क्वचिदधिकः श्लोकः ।

(विचिन्त्य) भवतु । ज्ञातम् ।

हि० टी०—"बचाओ ! बचाओ ! है कोई देवताओं का प्यारा अथवा आकाश में गमन करने वाला जो हमारी रक्षा करे" ।

(६) विज्ञापनानन्तरं सूचनानन्तरम् . आर्तानां दुःखितानाम् कुररीणाम् पक्षिविशेषाणाम् ।

सूत्रधार—[सुनकर] अहो ! मेरी सूचना देने के बाद आकाश में व्याकुल कुररियों की सी आवाज क्यों सुनाई देती है !

(७) अन्वयः—मत्तानामिति । कुसुमरसेन मत्तानां षट्पदानां किमयं शब्दः ? किमुत एष धीरः परभृतनादः ? अथवा समन्तात् सुरगणसेविते आकाशे नार्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः किम् ?

च० टी०—कुसुमरसेन पुष्परसेन, मत्तानाम् उन्मादवताम्, षट्पदानां भ्रमराणाम्, शब्दः ध्वनिः किमिति वितर्के । यद्वा किमेष धीरः गम्भीरः परभृतनादः परभृतानां कोकिलानाम्, नादः शब्दः । यद्वा आकाशे वियति, समन्तात् इतस्ततः सुरगणसेविते सुरगणैः देवगणैः सेविते युक्ते, नार्यः स्त्रियः कलमधुराक्षरं कलानि अव्यक्तानि मधुराणि मनोहराणि अक्षराणि यत्र तत् प्रगीताः प्रगातुमुपक्रान्ताः किम् आदिकर्मणिक्तः । षट्पदाः भ्रमराः 'षट्पदो भ्रमरालयः' इत्यमरः । प्रहर्षिणीवृत्तम्—"म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षणीयम्" इतिलक्षणात् ।

हि० टी०—क्या यह शब्द फूलों के रस से मस्त भौंरों का है ! अथवा यह कोयलों की गम्भीर आवाज है ! अथवा चारों तरफ से

ऊरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री
कैलासनाथमनुसृत्य निवर्तमाना ।
बन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे
क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम् ॥ ८ ॥

(इति निष्क्रान्तः)

प्रस्तावना

देवताओं से घिरे हुए आकाश में स्त्रियों ने सुन्दर और मधुराक्षरों वाले गान को प्रारम्भ किया है ! [सोचकर] हां मालूम होगया है ।

(८) **अन्वयः**—ऊरूद्भवेति । नरसखस्य मुनेः ऊरूद्भवा सुरस्त्री कैलासनाथमनुसृत्य निवर्तमाना अर्धमार्गे विबुधशत्रुभिः बन्दीकृता, अतः अयम् अप्सरसां गणः करुणं क्रन्दति ।

च० टी०—**नरस्य तन्नामधेयस्य मुनेः नारायणस्य, ऊरूद्भवा ऊरोत्पन्ना सक्थ्यवयवोत्पन्नेत्यर्थः, सुरस्त्री देवाङ्गना उर्वशीत्यर्थः, कैलासनाथमनुसृत्य कैलासनाथः शिवः तम् अनुसृत्य सेवित्वा ।** (यद्वा कैलासनाथं कुबेरम् उपसृत्य स्तुतिवन्दनादिकं कृत्वा) **निवर्तमाना प्रत्यागच्छन्ती अर्धमार्गे मध्येमार्गे विबुधशत्रुभिः दैत्यैः वन्दीकृता बद्धा, हठगृहीतेत्यर्थः । अतः अस्मात्कारणात् अयम् अप्सरसांगणः स्वर्गस्त्रीसमूहः करुणं यथास्यात्तथा क्रन्दति विलपति, रोदितीत्यर्थः । वसन्ततिलका वृत्तम्—"उक्ता वसन्ततिलकास्तभजा जगौ गः" इति लक्षणात् ।**

हि० टी०—नर के मित्र नारायण की जांघ से उत्पन्न देवस्त्री, उर्वशी जब कुबेर या शिवजी की सेवा करके लौट रही थी, आधे रास्ते में राक्षसों ने उसे घेर लिया है । इसलिये उसके साथ की अप्सरायें करुणा के साथ विलाप कर रही हैं ।

(इतना कहकर सूत्रधार चला गया)

प्रस्तावना

—०—

(ततः प्रविशन्त्यप्सरसः)

अप्सरसः-(अज्जा, परित्ताअध परित्ताअध । जो सुरपक्खवादी जस्स वा अम्बरअले गई अत्थि)

आर्याः ! परित्रायध्वं परित्रायध्वम् । यः सुरपक्षपाती यस्य वाऽम्बरतले गतिरस्ति ।

(ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण राजा रथेन सूतश्च ।)

राजा—अलमाक्रान्दितेन । सूर्योपस्थाननिवृत्तं पुरूरवसं मामेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रातव्या इति ।

रम्भा—(असुरावलेपादो)

असुरावलेपात् । (१)

राजा—किं पुनरसुरावलेपेन भवतीनामपराद्धम् ?

रम्भा —(सुणादु महाराओ । जा तवोविसेससङ्किदस्स सुउमारं पहरणं महेन्दस्स, पच्चादेसो रूवगव्विदाए सिरिगोरिए, अलंकारो सग्गस्स, सा णो पिअसही उव्वसी कुवेरभवणादो णिअत्तमाणा केणावि दाणवेण चित्तलेहादुदीआ अद्धपथं ज्जेव वन्दिग्गाह गिहीदा ।)

(इसके बाद अप्सराओं का प्रवेश होता है ।)

अप्सरा–*आर्यगण ! रक्षा करो ! रक्षा करो ! जो देवताओं के पक्षपाती हों अथवा आकाश में भ्रमण कर सकते हों, वे हमें बचा सकते हैं ।*

(पर्दा हटा कर रथ में चढे हुए राजा और सूत का प्रवेश होता है)

राजा–*अब विलाप करने की आवश्यकता नहीं, जब मैं सूर्योपस्थान से निवृत्त होजाऊं तब मुझ पुरूरवा के पास आकर कहो कि किससे तुम्हारी रक्षा की जाय ?*

(१) असुरावलेपात् असुराणां राक्षसानाम् अवलेपात् गर्वाद्, "अवलेपस्तु दोषे स्याद् गर्वे लेपेच संगमे" इति विश्वः ।

रम्भा–राक्षसों के अभिमान से ।

राजा–राक्षसों के अभिमान ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ?

श्रृणोतु महाराजः। या तपोविशेषशङ्कितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य, प्रत्यादेशो रूपगर्विताया: श्रीगौर्याः, अलङ्कारः सर्गस्य, सा नः प्रियसख्युर्वशी कुबेरभवनान्निवर्तमाना केनापि दानवेन चित्रलेखाद्वितीया अर्धपथ एव बन्दिग्राहं गृहीता।(१०)

राजा—अपि ज्ञायते कतमेन दिग्विभागेन गतः स जाल्मः ?

अप्सरसः—(इसाणीय दिसाए)

ऐशान्या दिशा।

राजा—तेन हि मुच्यतां विषादः। यतिष्ये वः सखी प्रत्यानयनाय। (११)

अप्सरसः—(सरिसं एदं सोमवंस संभवस्स)

---

(१०) तपोविशेषशङ्कितस्य तपोविशेषेण उग्रतपसा शङ्कितस्य भीतस्य देवराजस्य इन्द्रस्य सुकुमारं कोमलं प्रहरणम् आयुधम् रूपगर्विताया: रूपस्य सौन्दर्यस्य गर्विताया: अभिमानिन्याः श्रीगार्या: पार्वत्याः प्रत्यादेशः निराकृतिः सर्गस्य संसारस्य अलङ्कारः भूषणम् निवर्तमाना प्रत्यागच्छन्ती, बन्दिग्राहं बन्दीवग्रहीत्वा "आयुधंतु प्रहरणम्" इति त्रिकाण्डी। "प्रत्यादेशा निराकृतिः" इति च।

रम्भा—महाराज सुनिये, उग्र तपस्या से भय खाने वाले इन्द्र का कोमल शस्त्ररूप, रूप से गर्वीली पार्वती के सौन्दर्याभिमान को चूर्ण करने वाली, संसार का अलंकार, हमारी प्रिय सखी उर्वशी को चित्रलेखा सहित कुवेर के भवन से लौटते हुए किसी राक्षस ने आधे रास्ते में कैद कर लिया।

राजा—सुन्दरि ! क्या तुम जानती हो कि वह अविवेकी तुम्हारी सखी को लेकर किस ओर गया है ?

रम्भा—ईशान (पूर्व और उत्तर के बीच की दिशा) की ओर गया है।

(११) मुच्यताम् त्यज्यताम्, विषादः दुःखम्, वः युष्माकं सखीप्रत्यानयनाय उर्वशीमानेतुम्, यतिष्ये उद्योगं करिष्यामि।

सदृशमेतत्सोमवंशसंभवस्य । (१२)

राजा—क्व पुनर्मां भवत्यः प्रतिपालयिष्यन्ति ?

अप्सरसः—(एदस्सिं हेमकूडसिहरे)

एतस्मिन्हेमकूटशिखरे ।

राजा—सूत ! ऐशानीं दिशं प्रति नोदयाश्वानाशुगमनाय । (१३)

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति यथोक्तं करोति)

राजा—(रथवेगं रूपयित्वा) साधु साधु । अनेन रथवेगेन पूर्वप्रस्थितं वैनतेयमप्यासादयेयम् । किं पुनस्तमपकारिणं मघोनः।मम-(१४)

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घना-
श्चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम् ।

राजा—तो खेद को छोड़दो, मैं तुम्हारी सखी को छुड़ाकर वापिस लाने का यत्न करूंगा ।

(१२) एतत् कार्यम् प्रत्यानयनरूपं सोमवंशसम्भवस्य चन्द्रकुलोत्पन्नस्य तव सदृशमुचितमेव ।

अप्सरायें—चन्द्रवंशमें उत्पन्न पुरुषके लिये यह कार्य उचित ही है ।

राजा—तो तुम मेरी प्रतीक्षा कहां पर करोगी ?

अप्सरायें—राजन् ! इसी हेमकूट पर्वत के शिखर पर हम आप के दर्शन करेंगी ।

(१३) नोदय प्रेरय आशुगमनाय शीघ्रचलनाय ।

राजा—सूत ! घोड़ों को ईशान कोण की तरफ जल्दी चलाओ।

सूत—आयुष्मन् ! आपकी जो आज्ञा (घोड़ों को वेग से चलाता है ।)

(१४) पूर्वप्रस्थितं पूर्वं प्रचलितं, वैनतेयं गरुड़मपि आसादयेयम् प्राप्नुयाम् । मघोनः इन्द्रस्य अपकारिणम् शत्रुम् ।

राजा—(रथ के वेग को देखकर) ठीक है । रथ के इस वेग से तो पहले चले हुए गरुड़ को भी पकड़ सकता हूं । उस इन्द्र के अपकारी (पापी को पकड़ना तो कौन बड़ी बात है ।) मेरे तो—

चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरम्
यन्मध्ये समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात्॥(१५)

(निष्क्रान्तो रथेन राजा सूतश्च)

सहजन्या—(हला, गदो राएसी। ता अम्हे वि जधासंदिट्ठं पदेसं गच्छम्ह)

---

(१५)अन्वयः—अग्रेयान्तीति—रथस्य अग्रे चूर्णीभवन्तः घनाः रेणुपदवीं यान्ति, चक्रभ्रान्तिः अरान्तरेषु अन्याम् अरावलीमिव वितनोति। चित्रारम्भविनिश्चलं चामरं हयशिरसि आयामवत् (अस्तीतिशेषः) वेगानिलात् ध्वजपटः यन्मध्ये प्रान्ते च समवस्थितः।

च० टी०—रथस्य अग्रे समीपे चूर्णीभवन्तः चूर्णतां गच्छन्तः, जवात् आपतद्भिश्चक्रैः प्रतिघातेन अश्वखुरोल्लेखनेन वा क्षोदीभवन्तः घनाः मेघाः, रेणुपदवीं धूलीसादृश्यं यान्ति प्राप्नुवन्ति। तथा चक्राणां भ्रांतिर्भ्रमणम् अरांणां चक्रमध्यगतकाष्ठखण्डानाम् अन्तरेषु मध्येषु अन्याम् द्वितीयाम् अरावलीम् अरपङ्क्तिम् इव वितनोति विस्तारयति। वेगातिशयाद्धि तादृशं भासत इत्यर्थः। चित्रे आरम्भः न्यासः यस्य तद्वन्निश्चलम् जातमितिशेषः। यद्वा चित्रः अद्भुतः विस्मयकरः यः आरम्भः धावनव्यापारः तेन निश्चलं निष्कम्पं चामरं हरिशिरसि अश्वमूर्ध्नि आयामवत् दीर्घं वर्तते इति शेषः। वेगवशात् दीर्घतराकृतिर्लक्ष्यत इतिभावः। वेगानिलात् वायुवेगात् ध्वजपटः पताका यस्य रथस्य मध्ये प्रान्ते च उभयोः पार्श्वयोश्च समवस्थितः अतिवेगवता वायुना ध्वजपटः कदापि रथमध्ये कदापि च प्रान्तयोः नीयते। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः।

हि० टी०—रथ के आगे बादल, घोड़ों के पैरों से या रथ के चक्रों के लगने से चूर्ण हो रहे हैं। चक्रों का घूमना, चक्रों के बीच की लकड़ियों में दूसरी अरावली (अरपंक्ति) की भ्रान्ति करता है। अधिक और अद्भुत दौड़ने के कारण घोड़ों के सिरों में चामर निश्चल और बड़े दीखते हैं। बहुत तेज वायु, रथ की ध्वजा को कभी बीच में और कभी दोनों ओर ले जाता है।

[रथ में चढ़ा हुआ राजा और सूत चले जाते हैं।]

हला, गतो राजर्षिः । तद्वयमपि यथासंदिष्टं प्रदेशं गच्छामः ।

मेनका—(सहि, एव्व करम्ह)

सखि, एवं कुर्मः ।

(इति हेमकूटशिखरे नाट्येनाधिरोहन्ति)

रम्भा—(अवि णाम सो राएसी उद्धरदि णो हिअअसल्लम्)

अपि नाम स राजर्षिरुद्धरति नो हृदयशल्यम् ?

मेनका—(सहि, मा दे संसओ भोदु)

सखि, मा ते संशयो भवतु ।

रम्भा—(णं दुज्जआ दाणवा)

ननु दुर्जया दानवाः ।

मेनका—(उवट्ठिदसंपराओ महिन्दो वि मज्झमलोआदो सबहुमाणं आणाविअ तं एव्व विबुधविजआअ सेणामुहे णिओजेदि ।)

उपस्थितसंपरायो महेन्द्रोऽपि मध्यमलोकात्सबहुमानमानाय्य तमेव विबुधविजयाय सेनामुखे नियुङ्क्ते । (१६)

जहजन्या—सखि ! राजर्षि चले गये हैं । इसलिए हमको भी अपने अभीष्ट स्थान में जाना चाहिये ।

मेनका—सखि ! ठीक है चलो ।

[यह कह कर लीला से हेमकूटपर्वत के शिखर पर चढ़ती हैं ।]

रम्भा—बहन मेनका ! क्या वह राजर्षि हमारे हृदय के कांटे को निकाल सकेगा ?

मेनका—सखि ! ऐसा सन्देह न कर ।

रम्भा—सखि ! राक्षसों का जीतना बड़ा कठिन है ।

(१६) उपस्थितसंपरायः उपस्थितः प्राप्तः संपरायः संग्रामः यस्य सः, सबहुमानम् सादरम् , आनाय्य आहूय विबुधविजयाय देवविजयाय ।

मेनका—सखि ! युद्ध में सङ्कट पड़नें पर इन्द्र भी बड़े सम्मान के साथ मध्यमलोक से इन्हीं को बुलाकर देवताओं का सेनापति बनाते हैं ।

रम्भा—(सव्वहा विअई भोदु)

सर्वथा विजयी भवतु।

मेनका—(**क्षणमात्रं स्थित्वा**) (हला, समस्ससध समस्ससध। एस उल्लसिदहरिणकेदणो तस्स राएसिणो सोमदत्तो रहो दीसदि। ण एसो अकिदत्थो पडिणिउत्तिस्सदि त्ति तक्कमि।)

सख्यः समाश्वसित समाश्वसित। एष उल्लसितहरिणकेतनस्तस्य राजर्षेः सोमदत्तो रथो दृश्यते। नैषोऽकृतार्थः प्रतिनिवर्तिष्यत इति तर्कयामि। (१७)

(निमित्तं सूचयित्वावलोकयन्त्यः स्थिताः)

(ततः प्रविशति रथारूढो राजा सूतश्च। भयनिमीलिताक्षी चित्रलेखादक्षिणहस्तावलम्बिता उर्वशी च)

चित्रलेखा—(सहि, समस्सस समस्सस)

सखि, समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

रम्भा—*परमात्मा इनको विजय दे।*

(१७) उल्लसितहरिणकेतनः उल्लसितः हरिणः मृगः केतने ध्वजे यस्य सः। सोमेन चन्द्रेण दत्तः। चन्द्रीयत्वादेव हरिणध्वजत्वमपियुक्तम्। अकृतार्थः असम्पादितकार्यः। प्रतिनिवर्तिष्यते प्रत्यागमिष्यति। तर्कयामि चिन्तयामि।

मेनका—(*कुछ समय चुप रहकर*) *सखियो! चित्तको स्थिर करो, वह देखो उस राजर्षि का सोमदत्त नामक रथ इधर ही आरहा है, जिसकी हिरन के चिन्हवाली पताका विजयवैजयन्ती की तरह आकाश में फहरारही है, निःसन्देह शत्रु मारा गया है, वह राजर्षि काम को पूर्ण न करके कभी नहीं लौटेगा मैं ऐसा सोचती हूं।*

(शुभ शकुन को सूचित करके राजा की ओर देखती हैं।)

(इसके बाद रथ में चढा हुआ राजा, सूत तथा भय से आंख को मीचती हुई, चित्रलेखा के दक्षिण हाथ से पकड़ी हुई उर्वशी का प्रवेश होता है।)

चित्रलेखा—*धीरज धरो सखि! धीरज धरो!!*

राजा—सुंदरि ! समाश्वसिहि ।

गतं भयं भीरु सुरारि सम्भवं
त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिणः ।
तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं,
निशावसाने नलिनीव पङ्कजम् ॥ (१८)

चित्रलेखा—(अम्महे, कहं उस्ससिदमेत्तसंभाविदजीविदा अज्ज वि एसा सण्णं ण पडिवज्जदि ।)

अहो, कथमुच्छ्वसितमात्रसंभावितजीविता अद्याप्येषा संज्ञां न प्रतिपद्यते । (१९)

राजा—सुन्दरि ! धैर्य धारण करो ।

(१८) अन्वयः–गतमिति । हे भीरु ! सुरारिसम्भवं भयं गतं, हि वज्रिणः महिमा त्रिलोकरक्षी तत् निशावसाने नलिनी पङ्कजमिव एतत् आयतं चक्षुः उन्मीलय ।

च० टी०—हे भीरु ! भयशीले ! उर्वशि ! सुरारिसम्भवं राक्षससम्बन्धि भयं गतम् निरस्तम् । इदानीं भयकारणं नास्तीति भावः । हि यतः वज्रिणः इन्द्रस्य महिमा माहात्म्यं त्रिलोकरक्षी त्रिभुवनविपदुद्धारसमर्थः । तत् तस्मात् निशावसाने निशायाः रात्रेः अवसाने अन्ते नलिनी पंकजमिव पद्ममिव एतत् आयतं विस्तृतं चक्षुः नेत्रम् उन्मीलय उद्घाटय । वंशस्थनामकं वृत्तम् "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" इति लक्षणात् ।

हिं० टी०—हे भीरु ! तीनों लोकों के रक्षक इन्द्र के प्रताप से राक्षसों का भय दूर होगया है । इस लिये रात्रि के अन्त में जिस तरह कमल को कमलिनी उन्मीलित (विकसित) कर देती है इसी तरह तुम भी अपने विशाल नेत्रों को उन्मीलित करो (खोलो ।)

१९ उच्छ्वसितमात्रसंभावितजीविता उच्छ्वासनिर्गममात्रादेव सम्भाव्यते जीवनं यस्याः सा संज्ञां चेतनाम्, प्रतिपद्यते प्राप्नोति ।

चित्रलेखा—आश्चर्य है, सांस लेने मात्र से यद्यपि इस के जीवन की संभावना होती है पर अभी तक इसे चेत नहीं हुआ ।

राजा—बलवदत्रते सखी परित्रस्ता । तथाहि ।

मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुरस्याः सूच्यते हृदयकम्पः ।
मुहुरुच्छ्वसता मध्ये परिणाहवतोः पयोधरयोः ॥ (२०)

चित्रलेखा—(सकरुणम्) (हला उव्वसि, पज्जवत्थावेहि अत्ताणम् । अणच्छरा विअ पडिभासि ।)

सखि उर्वशि, पर्यवस्थापयात्मानम् । अनप्सरेव प्रतिभासि ।

राजा—मुञ्चति न तावदस्या भयकम्पः कुसुमकोमलं हृदयम् ।
सिचयान्तेन कथंचित्स्तनमध्योच्छ्वासिना कथितः ॥ (२१)

राजा—हां आपकी सखी बहुत ही डरगई है। क्योंकि—

(२०) **अन्वयः**—मन्दारेति । अस्याः परिणाहवतोः पयोधरयोः मध्ये मुहुः उच्छ्वसता मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुः हृदयकम्पः सूच्यते ।

च० टी०—**अस्याः उर्वश्याः परिणाहवतोः सुविशालयोः पीनयोरित्यर्थः, पयोधरयोः स्तनयोः मध्ये अन्तरप्रदेशे मुहुः वारंवारं उच्छ्वसता प्रकम्पिना मन्दारकुसुमदाम्ना मन्दारस्य तदाख्यसुर वृक्षस्य यानि कुसुमानि पुष्पाणि तेषां दाम्ना स्रजा मालयेत्यर्थः, गुरुः बलवान् हृदयकम्पः सूच्यते द्योत्यते । "परिणाहो विशालता" इत्यमरः । आर्या वृत्तम् ॥**

हि० टी०—*जिस समय उर्वशी सांस लेती है, उस समय उस के पीन स्तनों के बीच में हिलती हुई मन्दार के फूलों की माला, इस के हृदय की बड़ी भारी धड़कन को प्रकट कर रही है ।*

चित्रलेखा—(*करुणा के साथ*) *प्यारी उर्वशि ! अपने आपको संभालो, तुम्हारा यह चरित्र अप्सराओं के अनुकूल नहीं है ।*

राजा—(२१) **अन्वयः**—मुञ्चतीति । स्तनमध्योच्छ्वासिना सिचयान्तेन कथञ्चित् कथितः भयकम्पः अस्याः कुसुमकोमलं हृदयं न तावत् मुञ्चति ।

च० टी०—**स्तनमध्योच्छ्वासिना स्तनयोः कुचयोः मध्ये अन्तरप्रदेशे उच्छ्वासिना कम्पमानेन सिचयान्तेन सिचयस्य वस्त्रस्य अन्तेन अञ्चलेन कथञ्चित् दुःखेन कथितः सूचितः भयकम्पः**

(उर्वशी प्रत्यागच्छति)

राजा—(सहर्षम्) चित्रलेखे, दिष्ट्या वर्धसे। प्रकृतिमापन्ना ते प्रियसखी। पश्य—

आविर्भूते शशिनि तमसा रिच्यमानेव रात्रि-
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना
गङ्गा रोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्॥ (२२)

दानवोत्पन्नः कम्पः अस्याः उर्वश्याः कुसुमकोमलं पुष्पसुकुमारं हृदयं चेतः न मुञ्चति तावत् अद्यापि न त्यजतीतिभावः। "वस्त्रं सिचयः पटः पोतः" इति हलायुधः। आर्या वृत्तम्॥

हि० टी०—स्तनों के बीच में हिलते हुए वस्त्र से प्रकटित यह भयकम्प, अभी भी इस उर्वशी के फूल के समान कोमल हृदय को नहीं छोड़ता।

(उर्वशी सचेत होती है)

राजा—(हर्ष के साथ) चित्रलेखे! बड़े सौभाग्य की बात है कि तुम्हारी प्यारी सखी सचेत होगई है। देख—

(२२) अन्वयः—आविर्भूत इति। अन्तर्मोहेन मुच्यमाना इयं वरतनुः, शशिनि आविर्भूते तमसा रिच्यमाना रात्रिरिव, छिन्नभूयिष्ठधूमा नैशस्य हुतभुजः आर्चिः इव (लक्ष्यते) रोधः पतनकलुषा गङ्गा इव प्रसादं गच्छति।

च० टी०—अन्तः अन्तःकरणे मोहेन मूर्च्छया मुच्यमाना परित्यज्यमाना शनैः शनैश्चैतन्यमधिगच्छन्तीत्यर्थः, इयं वरतनुः उर्वशी शशिनि चन्द्रे आविर्भूते प्रकटीभूते उदितवतीत्यर्थः तमसा अन्धकारेण रिच्यमाना मुच्यमाना रात्रिरिव तथा छिन्नभूयिष्ठधूमा छिन्नः नष्टः भूयिष्टः बहुलः धूमः धूम्रः यस्याः अपगतबहुलधूमा भास्वरा नैशस्य रात्रौ प्रज्वलितस्य हुतभुजः अग्नेः आर्चिः ज्वाला शिखेव लक्ष्यते भातीत्यर्थः। अथवा जलाघाताद् रोधसस्तटस्य पतनेन कलुषा आविला गङ्गा भागीरथीव पश्चात् प्रसादं प्रसन्नतां गच्छति

चित्रलेखा—(सहि उव्वसि, वीसद्धा भव। आवण्णाणुकम्पिणा महाराएण पडिहदा क्खु दे तिदसपरिबन्थिणो हदासा दाणवा)

सखि उर्वशि, विस्रब्धा भव। आपन्नानुकम्पिना महाराजेन प्रतिहताः खलु ते त्रिदशपरिपन्थिनो हताशा दानवाः। (२३)

उर्वशी-(चक्षुषी उन्मील्य) (।किं पहावदंसिणा महिन्देण अब्भुववपह्मिह)

किं प्रभावदर्शिना महेन्द्रेणाभ्युपपन्नास्मि ?

चित्रलेखा—(ण महिन्देण। महिन्दसरिसाणुभावेण राएसिणा पुरूरवसेण)

न महेन्द्रेण। महेन्द्रसदृशानुभावेन राजर्षिणा पुरूरवसा।

प्राप्नोति। 'अर्चिर्हेतिः शिखा स्त्रियाम्' इति त्रिकाण्डी। मन्दाक्रान्तावृत्तम् "मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौनतौ ताद्गुरूचेत्" इति लक्षणात्।

हि० टी०—*चन्द्रमाके उदय होने से अन्धकार रहित रात्रि की तरह, या धूएं से रहित रात्रि में प्रज्वलित अग्नि की ज्वाला की तरह अथवा जिस प्रकार किनारे की मिट्टी गिरने से गङ्गा मैली होजाती है मगर फिर थोड़ी देर के बाद स्वच्छ होजाती है उसी प्रकार तुम्हारी सखी उर्वशी मनोविकार मे मुक्त होकर चेतना को प्राप्त करचुकी है, और प्रसन्नता को प्राप्त होरही है।*

(२३) विस्रब्धा विश्वासयुक्ता, आपन्नः विपद्ग्रस्तः, अनुकम्पिना दयावता।

चित्रलेखा—*सखि उर्वशि, अब निर्भय होजा, दुखियों पर दया करने वाले महाराज ने देवशत्रु सब राक्षसों को परास्त कर दिया है, वे (राक्षस) अब निराश होगए हैं।*

उर्वशी—(*आंखें खोलकर*) *क्या प्रभावशाली देवराज इन्द्र ने मुझपर अनुग्रह किया है ?*

चित्रलेखा—*सखि महेन्द्र ने नहीं, किन्तु महेन्द्र ही के समान प्रतापी राजर्षि पुरूरवा ने।*

उर्वशी—(राजानमवलोक्य, आत्मगतम्) (उवकिदं क्खु दाणवेन्दसंरम्भेण)

उपकृतं खलु दानवेन्द्र संरम्भेण। (२४)

राजा—(उर्वशीं विलोक्य आत्मगतम्) स्थाने खलु नारायणमृषिं विलोभयन्त्यस्तदूरुसम्भवामिमां विलोक्य व्रीडिताः सर्वा अप्सरस इति। अथवा नेयं तपस्विनः सृष्टिरित्यवैमि। कुतः (२५)

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः,
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजड़ः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो,
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ (२६)

---

(२४) संरम्भेण त्रासेन कोपेन वाः "संरम्भः सम्भ्रमे कोपे" इति विश्वः।

उर्वशी—(*राजा को देखकर मन ही मन में*) *निःसन्देह राक्षसों के भय ने मुझपर उपकार किया है।* (अन्यथा इस अपूर्व सौन्दर्यवान् राजर्षि के दर्शन किस तरह होते)।

(२५) स्थाने खलु युक्तमेवैतत्, विलोभयन्त्यः प्रलोभनार्थं गताः, ऊरुसम्भवाम् सक्थ्युत्पन्नाम्, विलोक्य दृष्ट्वा, व्रीडिताः लज्जिताः, सृष्टिः उत्पत्तिः अवैमि जानामि।

राजा-(*उर्वशी को देखकर अपने मन में*) *नारायण ऋषि को लुभाने वाली अप्सराओं का उनकी (नारायण की) जंघा** *से उत्पन्न हुई उर्वशी को देखकर लज्जित हो जाना सर्वथा उचित ही था। अथवा मैं समझता हूं तपस्वी ने इसे पैदा नहीं किया, क्योंकि*—

(२६) **अन्वयः**—अस्या इति। अस्याः कान्तिप्रदः चन्द्रः प्रजापतिः सर्गविधौ अभूत् नु ? शृंगारैकरसः मदनः स्वयं नु प्रजापतिः अभूत् ? अथवा पुष्पाकरः मासः नु प्रजापतिः अभूत्। वेदाभ्यासजड़ः विषयव्यावृत्तकौतूहलः पुराणः मुनिः इदं मनोहरं रूपं निर्मातुं कथं नु प्रभवेत् ?

च० टी०—**अस्याः उर्वश्याः सर्गविधौ निर्माणक्रियायां कान्ति-**

---

* तपोनुष्ठान में लीन नारायण ऋषि को तपोभ्रष्ट करने के लिये कुछ अप्सराएं गई थीं परन्तु जब उन्होंने यह देखा कि जिसकी जङ्घा से उर्वशी जैसी सुन्दरी स्त्री पैदा होसकती है उसे डिगाना सहज नहीं है इस प्रकार लज्जित होकर लौट आईं।

उर्वशी—(हला चित्तलेहे, सहीअणो कहिंक्खु भवे)
सखि चित्रलेखे, सखीजनः कुत्र खलु भवेत् ?

प्रदः सौन्दर्यप्रदाता चन्द्रः प्रजापतिः स्रष्टा अभूत् नु इति वितर्के, अभूत् किमित्यर्थः। किम्वा शृंगारैकरसः शृंगार एव एकः रसः यस्य स मदनः कामः स्वयं नु किं प्रजापतिः विधाता अभूत् ? शृंगाररसस्य नेता मदनः अस्याः स्रष्टा अभूत् किमिति भावः ? अथवा पुष्पाकरः पुष्पाणां कुसुमानाम् आकरः कुसुमयोनिरित्यर्थः, मासः चैत्रः किं नु प्रजापतिः अभूत् ? किमर्थमियं जिज्ञासा इत्यत आह—वेदाभ्यास-जड़ इति। वेदानामृग्वेदादीनाम् अभ्यासेन निरन्तरपाठेन जड़ः मन्दप्रज्ञः शृङ्गारादिशून्य इतिभावः। विषयव्यावृत्तकौतूहलः विषयेभ्यः इन्द्रियग्राह्येभ्यः रूपरसादिभ्यः व्यावृत्तं प्रतिवृत्तं कौतूहलं लालसा यस्य इत्यर्थः। एवम्भूतः पुराणे अत्यन्तजरठः मुनिः ब्रह्मा कथं केन-प्रकारेण इदं मनोहरं रूपं निर्मातुं प्रभवेत् ? क्व वा रसज्ञानरहितः पुराणोमुनिः ? क्वेदं सौन्दर्य्यम् ? न चापीयं निर्मितिः जराजीर्ण-प्रकृतेः वेदाभ्यासनियतहतचेतसो नारायणमुनेः, अपितु कस्यापि चन्द्रमदनवसन्तादिकस्य सुकुमारतरस्य विलसितमेतदितिभावः। "स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृक् विधिः" इत्यमरः। शार्दूल-विक्रीडितं छन्दः॥

हि० टी०—*सचमुच उर्वशी के शरीर को बनाने वाला, और इस के शरीर में सौन्दर्य्य को प्रदान करने वाला चन्द्रमा है; शृंगार रस का आचार्य कामदेव ही इसके शरीर का निर्माता है; अथवा वसन्त मास ने इस उर्वशी के शरीर को बनाया है। निःसन्देह यह तपस्वी की सन्तान नहीं है, जिन ब्रह्मा आदि ऋषियों के हृदय वेदों का अभ्यास करते २ पत्थर हो गए हों, जिनके हृदयों से विषय वासनाएं नष्ट हो गई हों, वे ऐसे मनोहर रूप को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं। सच पूछो तो उर्वशी का सौन्दर्य ब्रह्मा की सृष्टि से बाहर है।*

उर्वशी—*सखि ! चित्रलेखा ! इस समय सखियां कहां हैं ?*

चित्रलेखा—(सहि, अभ अप्पदाई महाराओ जाणादि)
सखि, अभयप्रदायी महाराजो जानाति ।

राजा—(उर्वशीं विलोक्य) महति विषादे वर्तते सखीजनः । पश्यतु भवती ।

यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः,
पथि स्थिता सुन्दरि ! यस्य नेत्रयोः ।
त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्,
सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः ॥ (२७)

चित्रलेखा–सखि, उर्वशि ! तुझे अभय प्रदान करने वाले महाराज जानते हैं ?

राजा–(उर्वशी को देखकर) तुम्हारी सखियां बड़े दुख में थीं । देखो सुन्दरी ?

२७ अन्वयः—यदृच्छयेति । सुन्दरि ! त्वं यदृच्छया सकृदपि यस्य अवन्ध्ययोः नेत्रयोः पथि स्थिता, त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत् आर्द्रसौहृदः ते सखीजनः किमुत ?

च० टी०—हे सुन्दरि ! उर्वशि ! त्वं यदृच्छया स्वेच्छया विनाकारणेनापीति निष्कर्षः । सकृदपि एकवारमपि यस्य जनस्य अवन्ध्ययोः त्वद्दर्शनलाभादित्यर्थः नेत्रयोः नयनयोः पथि स्थिता यस्य दर्शनपथं गच्छसीत्यर्थः । सोऽपि त्वया विना समुत्सुकः उत्कण्ठितः भवेत् त्वद्दर्शनाभिलाषादित्यर्थः । आर्द्रसौहृदः आर्द्रं निरन्तरसहवासेन सरसं सौहृदं सौहार्दं यस्य सः ते सखीजनः चिरपरिचितः सखीजनः त्वद्दर्शनाकांक्षया यत् समुत्सुकः भवेत्, तत्र किं वक्तव्यमित्यर्थः "वन्ध्योऽफलोऽवकेशी च" इत्यमरः । अत्र वंशस्थनामकं वृत्तम्—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" इति लक्षणात् ॥

हि० टी०–सुन्दरि ! जब कोई मनुष्य तुम्हें अचानक एक वार भी देख लेता है तो फिर दुबारा तुम्हें देखने के लिये उसका जी तरसता है; तो फिर वे सखियां जो सदैव तुम्हारे प्रेम की डोरी से बंधी

उर्वशी–(**आत्मगतम्**) अमियंक्खु दे व्रअणम् । अहवा चंदादो अमिअं त्ति किं अच्चरिअम् । (**प्रकाशम्**) अदो एव्व मे पेक्खिदुं तुवरदि हिअअम्)

अमृतं खलु ते वचनम् । अथवा चन्द्रादमृतमितिकिमाश्चर्यम् । अतएव मे प्रेक्षितुं त्वरते हृदयम् ।

राजा—(**हस्तेन दर्शयन्**

एताः सुतनु मुखं ते सख्यः पश्यन्ति हेमकूटगताः ।
उत्सुकनयना लोकाश्चन्द्रमिवोपप्लवान्मुक्तम् ॥ (२८)

(**उर्वशी साभिलाषं पश्यति**)

चित्रलेखा—(हला किं पेक्खसि)

सखि, किं प्रेक्षसे ?

हुई हैं तुम्हें देखने को उत्सुक होती होंगी, इसका क्या कहना है, अर्थात् वे तो निःसन्देह उत्सुक होंगी ।

उर्वशी—(अपने मनही मन में) 'अहह ! क्या ही मधुर वाणी है, और हो भी क्यों न चन्द्रमा ही से अमृत निकला करता है इसमें आश्चर्य क्या है, (**प्रकाशित करके**) इस ही कारण सखियों को देखने के लिए मेरा चित्त बहुत उत्कण्ठित है ।

राजा—(हाथ के संकेत से दिखाकर)

(२८) **अन्वयः**—एता इति । हे सुतनु ! उत्सुकनयनाः लोकाः उपप्लवात् मुक्तम् चन्द्रमिव हेमकूटगताः एताः सख्यः ते मुखं पश्यन्ति ।

च० टी०—**हे सुतनु ! हे शुभगात्रि ! उत्सुकनयनाः उत्सुकानि उत्कण्ठितानि नयनानि नेत्राणि येषां ते लोकाः जनाः उपप्लवात् राहुग्रासात् मुक्तम् रहितं चन्द्रमिव, हेमकूटगताः हेमकूटनामकपर्वतारूढाः एताः सख्यः ते तव मुखम् आननं पश्यन्ति । आर्यावृत्तम् ।**

हि० टी०—हे सुतनु ! जिस प्रकार लोक राहु से छूटे हुए चन्द्रमा को उत्सुक होकर देखते हैं, उसी प्रकार हेमकूट में बैठी हुई तुम्हारी सखियां चन्द्रमा के समान तुम्हारे मुंह को देखती हैं ।

(उर्वशी बड़े चाव से अपनी सखियों को देखती है)

उर्वशी—(णं समदुक्खगदो पिवीअदि लोअणेहिं)

ननु समदुःखगतः पीयते लोचनाभ्याम् ।

चित्रलेखा—(सस्मितम्) (अइ को)
अयि, कः ?

उर्वशी—(णं पणइअणो)

ननु प्रणयिजनः ।

रम्भा—(सहर्षमवलोक्य) (हला, चित्तलेहादुदीअं पिअसहीं उव्वसीं गेण्हिअ विसाहासहिदो विअ भअवं सोमो समुवट्ठिदो राएसी)

सखि, चित्रलेखाद्वितीयां प्रियसखीमुर्वशीं गृहीत्वा विशाखा सहित इव भगवान्सोमः समुपस्थितो राजर्षिः । (२९)

मेनका—(निर्वर्ण्य) (हला, दुवे वि णो एत्थ प्पिआ उवणदा । इअं पच्चाणीदा पिअसही, अअं च अपरिक्खदसरीरो राएसीं दीसदि)

सखि, द्वे अपि नोऽत्र प्रिय उपनते । इयं प्रत्यानीता प्रियसखी अयं चापरिक्षतशरीरो राजर्षिर्दृश्यते । (३०)

चित्र०—हे सखि, क्या देखती हो ?

उर्वशी—निःसन्देह मैं अपनी आंखों से अपने विपत्ति के साथी मनुष्य को देखती हूं ।

चित्रलेखा—(हंसी के साथ) प्यारी सखि, कौन ?

उर्वशी—प्रेमी मनुष्य ।

(२९) विशाखा नक्षत्र विशेषः, सोमः चन्द्रः, समुपस्थितः प्राप्तः ।

रम्भा—(हर्ष के साथ देखकर) प्रिय सखि, जिस प्रकार विशाखा नक्षत्र से भगवान् चन्द्र विशेष शोभित होजाते हैं, उसी प्रकार चित्रलेखायुक्त, उर्वशी से सुशोभित होकर राजर्षि पुरूरवा आगए हैं ।

(३०) निर्वर्ण्य दृष्ट्वा, नः अस्माकम्, उपनते प्राप्ते, अक्षतशरीरः क्षतरहितः कायः ।

मेनका—(विशेष प्रकार देखकर) सखि, भगवान् ने हमें दो प्रकार से हर्ष दिया है, हमारी सखी भी आगई और महाराज को भी युद्ध में कोई घाव नहीं लगा ।

सहजन्या—(सहि जुत्तं भणासि दुज्जओ दाणओत्ति)
सखि, युक्तं भणसि दुर्जयो दानव इति ।

राज।—सूत, इदं तच्छैलशिखरम् । अवतारय रथम् ।

सूत—यथाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति तथा करोति)

(उर्वशी रथावतारक्षोभं नाटयन्ती सत्रासं राजानमवलम्बते ।)

राजा—(स्वगतम्) हन्त, सफलो मे विषयावतारः ।

यदिदं रथसंक्षोभादङ्गेनाङ्गं ममायतेक्षणया ।
स्पृष्टं सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥ (३१)

सह०—सच कहती हो वहिन ! ये राक्षस बड़े निर्दयी और क्रूर होते हैं ।

राजा—सूत ! यह वही हेमकूट का शिखर है, यहीं रथ को उतारो ।

(३१) **अन्वयः**—यदिदमिति । रथसंक्षोभात् यत् इदं मम अङ्गं आयतेक्षणया अङ्गेन स्पृष्टं सरोमकण्टकित जातम् तत् मनसिजेनेव अंकुरितं मन्ये ।

च० टी०—**रथसंक्षोभात् निम्नोन्नतेषु स्यन्दनोपघातात् यत् इदं मम अङ्गं शरीरम् आयतेक्षणया विशाललोचनया अङ्गेन स्पृष्टं सत् सरोमकण्टकं रोमाञ्चितं जातम्, तत मनसिजेन कामेनेव अंकुरितम् अंकुरमिवोत्पादितम् मन्ये । उर्वश्याः विलोकनादन्तसञ्जातकामेन स्पर्शाच्चांकुरितं पुलकच्छलेन वहिरुद्भिन्नमितिभावः । आर्यावृत्तम् ।**

सूत—बहुत अच्छा, जैसी आपकी आज्ञा । (**सारथी रथ को उतारता है) (रथ के हिलने के कारण उर्वशी भय के सहित राजा को पकड़ती है)**

राजा—(**मन ही मन में**) मेरा इस देश में आना सफल हो गया है । अथवा इन्द्रियग्राह्य रूपादिक भोगने के लिए मेरा मनुष्य जन्म धारण करना सफल होगया है ।

हि० टी०—ऊंची नीची जमीन में रथ के हिलने से मेरा शरीर जब उर्वशी के शरीर से छूकर रोमाञ्चित होता है, तो ऐसा मालूम दतो है मानो मेरे शरीर से काम के अंकुर फूट २ कर निकल रहे हैं।

उर्वशी—(हला किं वि परदो ओसर)

सखि, किमपि परतोऽपसर ।

चित्रलेखा—(णाहं सक्केमि)

नाहं शक्नोमि ।

रम्भा—(एत्थ पिअआरिणं संभावेम्ह राएसिम्)

अत्र प्रियकारिणं संभावयामो राजर्षिम् ।

(सर्वा उपसर्पन्ति)

राजा—सूत, उपश्लेषय रथम् ।

यावत्पुनरियं सुभ्रूरुत्सुकाभिः समुत्सुका ।
सखीभिर्याति सम्पर्कं लताभिः श्रीरिवार्तवी ॥ (३२)

(सूतो रथं स्थापयति)

उर्व०—सखि, थोडी दूर हट जा ।

चित्र०—नहीं, मैं हटने में असमर्थ हूं ।

रम्भा—यहां पर भलाई करने वाले राजा का सम्मान करें ।

(सब अप्सरायें राजा के सम्मान के लिये उठती हैं)

राजा—सूत ! रथ को रोको ।

अन्वयः—यावदिति । यावत् पुनः समुत्सुका इयं सुभ्रूः उत्सुकाभिः सखीभिः आर्तवी श्रीः लताभिरिव सम्पर्कं याति ।

च० टी०—यावत् पुनः समुत्सुकाः उत्कण्ठिताः इयं सुभ्रूः उर्वशी उत्सुकाभिः उत्कण्ठिताभिः सखीभिः सह आर्तवी ऋतुसम्बन्धिनी श्रीः लक्ष्मीः वसन्तलक्ष्मीरितियावत लताभिरिव सम्पर्कं सम्बन्धं याति गच्छति । वसन्तलक्ष्मीः यथा ताभिः सङ्गता सती कुसुमादिना लतानां शोभातिशयम् पुष्णाति तथा उर्वशी तासामपि विकासकारणं भवतीति भावः । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०—जिस प्रकार वसन्त शोभा, लताओं से सम्बद्ध होती है, उसी तरह जब तक यह उत्कण्ठित उर्वशी अपनी उत्कण्ठित सखियों से मिलती है । (तब तक तुम रथ को रोक रक्खो ।)

अप्सरसः—(दिहिआ महाराओ विजएण वड्ढदि)

(दिष्ट्या महाराजो विजयेन वर्धते)

राजा—भवत्यश्च सखीसमागमेन।

उर्वशी—(चित्रलेखादत्तहस्तावलम्बना रथादवतीर्य) हला, अधिअं परिस्सजह। णक्खु मे आसी आसासो जहा पुणो वि जहीअणं पक्खिस्सम्)

सख्यः अधिकं परिष्वजथ। न खलु मे आसीदाश्वासो यथा पुनरपि सखीजनं प्रेक्षिष्य इति।

(सख्यः परिष्वजन्ते)

मेनका-(साशंसम्) (सव्वहा कप्पसदं महाराओ पुहविं पालअन्तो होदु)

सर्वथा कल्पशतं महाराजः पृथिवीं पालयन्भवतु।

सूतः-आयुष्मन्, पूर्वस्यां दिशि महता रथवेगेनोपदर्शितः शब्दः।

अयं च गगनात्कोऽपि तप्तचामीकराङ्गदः।
अधिरोहति शैलाग्रं तडित्वानिव तोयदः॥ (३३)

(सूत रथ को रोकता है।)

अप्सरायें—बड़े सौभाग्य की बात है कि आपकी जय हुई है।

राजा—अपनी सखी से मिलकर तुम्हारी भी विजय हुई है।

उर्वशी—प्यारी बहिनो! मेरी छाती से छाती मिलाओ, मुझे बिलकुल आशा न थी कि तुम्हें देखूंगी।

(सब उसकी छाती से छाती मिलाती हैं)

मेनका—(प्रशंसा के साथ) महाराज! सैकड़ों वर्ष सर्वथा आप पृथ्वी का पालन करें।

सूत—आयुष्मन्! पूर्व दिशा में बड़े जल्दी चलने से रथ की आवाज मालूम होती है।

(३३) अन्वयः—अयमिति। तप्तचामीकराङ्गदः अयं कोऽपि तड़ित्वान् तोयदः इव गगनात् शैलाग्रम् अधिरोहति।

च० टी०—तप्तचामीकराङ्गदः-तप्तं सद्योगालितं यत् चामीकरं सुवर्णं तस्य अङ्गदं यस्यसः सुवर्णनिर्मितं अङ्गदं बाहुभूषणं यस्य सः,

अप्सरसः—(पश्यन्त्यः) (अम्मो, चित्तरहो)
अहो, चित्ररथः ।

(ततः प्रविशति चित्ररथः)

चित्ररथः—(राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम्) दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्नावर्धते भवान् ।

राजा—अये, गन्धर्वराज ? (रथादवतीर्य) स्वागतं प्रियसुहृदे ।

(परस्परं हस्तौ स्पृशतः)

चित्ररथः—वयस्य, केशिना हृतामुर्वशीं नारदादुपश्रुत्य प्रत्याहरणार्थमस्याः शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा । ततो वयमन्तरा चारणेभ्यस्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागताः । स

अयं कोऽपि तडित्वान् तडिद्युक्तः विद्युल्लेखाविराजितः तोयदः मेघः इव गगनात् आकाशात् शैलाग्रम् पर्वतशिखरम् अधिरोहति । यथा विद्युद्युक्तः मेघः शैलशिखरमधिरोहति तद्वदित्यर्थः । "चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने" इत्यमरः । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०—राजन् ! बहुत दूर आकाश में कोई पुरुष तपने से चमकते हुए सोने के बाजुबन्दों (बाहुभूषणों) को भुजाओं पर बांधे इस प्रकार इस पर्वत पर उतरता प्रतीत होता है जैसे जल से भरा हुआ बादल बिजली के साथ पृथिवी पर वृष्टि करने के लिए जा रहा हो।

अप्सरायें–(देखती हुई) अहो ! (गन्धर्वराज) चित्ररथ हैं ।

(इसके बाद चित्ररथ आता है)

चि०–(राजा को देखकर अधिक मान के साथ) राजन् ! आपकी जय हो । बड़े सौभाग्य की बात है कि आप इन्द्रोपकार करने में समर्थ पराक्रम से सुशोभित हो ।

राजा—अहह ! गन्धर्वराज (रथ से उतर कर) आपका स्वागत हो ।

(राजा और चित्ररथ हाथ मिलाते हैं)

भवानिमां पुरस्कृत्य सहास्माभिर्मघवन्तं द्रष्टुमर्हति महत्खलु तत्र भवतो मघोनः प्रियमनुष्ठितं भवता (३४)।

पश्य,

पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते ।
दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा सम्प्रति त्वया ॥ (३५)

राजा—सखे, मैवम् ।

---

(३४) केशिना तन्नामकेन दानवेन, उपश्रुत्य श्रुत्वा, प्रत्याहरणार्थम् आनयनार्थम् शतक्रतुना इन्द्रेण, अन्तरा मध्ये, चारणेभ्यः स्तुतिपाठकेभ्यः, जयोदाहरणं यशः, विजयचर्चा वा। मघवन्तम् इन्द्रम्, अनुष्ठितम् कृतम् ।

चित्ररथ—मित्र, केशी नामक दैत्य उर्वशी को हर लेगया है, महर्षि नारद के मुंह से यह समाचार सुन कर इन्द्रदेव ने उस के लौटाने के लिए चतुराङ्गिणी सेना को भेजा, परन्तु रास्ते ही में भाटों के मुख से आपके यश (अथवा विजय की चर्चा) को सुनकर कि आप ने केशी पर विजय पाई है हम आप के पास आए हैं। इस लिए अब आप उर्वशी को लेकर देवराज इन्द्र को दर्शन दीजिए। निःसंदेह आप ने इन्द्र का बड़ा भारी उपकार किया है। देखिये—

(३५) **अन्वयः**—पुरेति। पुरा नारायणेन इयं मरुत्वते अतिसृष्टा सम्प्रति त्वया सुहृदा दैत्यहस्तात् अपाच्छिद्य (तस्मै अतिसृष्टा)।

च० टी०—**पुरा पूर्वकाले नारायणेन नारायणाख्यमुनिना इयं उर्वशी मरुत्वते इन्द्राय अतिसृष्टा दत्ता, सम्प्रति अधुना सुहृदा प्रिय मित्रेण त्वया दैत्यहस्तात् केशिकरात् अपाच्छिद्य बलाद्गृहीत्वा पुनः तस्मै अतिसृष्टा दत्ता।** "इन्द्रोमरुत्वान्मघवा" इत्यमरः। अनुष्टुप् छन्दः

हि० टी०—हे राजन् ! पहले नारायण ने इसे इन्द्र के लिए दिया, और अब उस के मित्र (आपने) (पुरूरवा ने) राक्षस से छुड़ा कर इसी उर्वशी को देवराज इन्द्र को सौंपा है।

राजा—प्रिय मित्र ! ऐसा मत कहो।

ननु वज्रिण एव वीर्यमेत-
द्विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्याः।
वसुधाधरकन्दराविसर्पी,
प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागान्॥ (३६)

चित्ररथः—युक्तमेतत्। अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः। (३७)

राजा—सखे, नायमवसरोममशतक्रतुं द्रष्टुम्। अतस्त्वमेवात्र भवतीं प्रभोरन्तिकं प्रापय।

---

(३६) अन्वयः—नन्विति। ननु वज्रिणः एव एतत् वीर्यम् यत् अस्य पक्ष्याः द्विषतः विजयन्ते, हि हरेः वसुधाधरकन्दराविसर्पी प्रतिशब्दः नागान् हिनस्ति।

च० टी०—ननु निश्चयेन वज्रिणः इन्द्रस्य एव एतत् वीर्यम् पराक्रमः यत् अस्य इन्द्रस्य पक्ष्याः पक्षभवाः पक्षपातिनः सहचराः द्विषतः शत्रून् विजयन्ते, तथाहि हरेः सिंहस्य वसुधाधरकन्दराविसर्पी वसुधाधरस्य पर्वतस्य कन्दरायां गुहायां विसर्पति प्रसरति गिरिगह्वरव्यापीत्यर्थः प्रतिशब्दः प्रतिध्वनिः नागान् गजान् हिनस्ति पराभवति। यथा यद्यपि पर्वतगुहाध्वानिना सिंहगर्जितेनैव हस्तिनो दूरं पलायन्ते परन्तत्र न गर्जितस्य माहात्म्यम् किन्तु तत्कर्तुः सिंहस्यैव, तथैव द्विषतां विजयेन नास्माकं महत्त्वम्, किन्तु इन्द्रस्यैव, यतो वयं तत्पक्षसमाश्रयणेनैव विजयामहे। औपच्छन्दसिकम् वृत्तम्॥

हि० टी०—देवराज के पक्षपाती जो शत्रुओं के ऊपर विजय प्राप्त करते हैं वह इन्द्र ही का प्रताप है। पहाड़ की गुफा में गूंजने वाली सिंह की प्रतिध्वनि भी हाथियों को भगा दिया करती है। अर्थात् हमने जो शत्रुओं के ऊपर विजय प्राप्त किया है वह भी एक इन्द्र का ही प्रताप है।

(३७) अनुत्सेकः अनभिमानः, विक्रमालङ्कारः विक्रमस्य पराक्रमस्य अलङ्कारः भूषणम्।

चित्र०—सत्य है राजन्! निःसन्देह नम्रता वीरता का भूषण है।

राजा—मित्र! अत्यावश्यक कार्य होने से मैं इस समय देवराज के दर्शन नहीं कर सकता, इस लिये उर्वशी को आप ही महेन्द्र के पास पहुंचा दीजिये।

चित्ररथः—यथाभवान्मन्यते इत इतो भवत्यः ।

(सर्वाः प्रस्थिताः)

उर्वशी—(जनान्तिकम्) (हला, चित्तलेहे, उवआरिणं राएसिं ण सक्कणोमि आमन्तेदुम् । ता तुमं एव्व मे मुहं होदि)

सखि चित्रलेखे, उपकारिणं राजर्षिं न शक्नोम्यामन्त्रयितुम् । तत्त्वमेव मे मुखं भव ।

चित्रलेखा—(राजानमुपेत्य) (महाराअ, उव्वसी विण्णवेदि–महाराएण अब्भणुण्णादा इच्छामि पियसहिं विअ महाराअस्स कित्तिं सुरलोअं णेदुम्)

महाराज, उर्वशी विज्ञापयति महाराजेनाभ्यनुज्ञातेच्छामि प्रियसखीमिव महाराजस्य कीर्तिं सुरलोकं नेतुम् ।

राजा—गम्यतां पुनर्दर्शनाय ।

(सर्वाः सगन्धर्वा आकाशोत्पतनं रूपयन्ति)

उर्वशी—(उत्पतनभङ्गं रूपयित्वा) [अम्मो, लदाविडवे एसा एआवली वैअअन्तिका मे लग्गा (सव्याजमुपसृत्य राजानं पश्यन्ती) सहि, चित्तलेहे, मोआवेहि दावणम्] ।

चित्ररथः—जो आज्ञा महाराज की, चलिए श्रीमती, (महेन्द्र आपके वियोग में घबरा रहे होंगे ।)

(सब अप्सरायें जाने के लिये तय्यार होती हैं)

उर्वशी—(एकान्त में) सखि चित्रलेखा, उपकार करने वाले महाराज के साथ मैं बात चीत नहीं कर सकती, इस लिए तूही मेरा मुख बन जा । अर्थात् मेरी ओर से बात चीत कर ।

चित्रलेखा—(राजा के पास जाकर) महाराज हमारी प्यारी सखी उर्वशी प्रार्थना करती है कि महाराज की अनुज्ञा हो तो प्रिय सखी के सदृश आपकी कीर्ति को, स्वर्गलोक में ले जाने की इच्छा करती हूं ।

राजा—हां जा सकती है, मगर फिर दर्शन दें ।

(गन्धर्वों के साथ सारी अप्सरायें आकाश में जाना चाहती हैं)

अहो लताविटप एवैकावली वैजयन्तिका मे लग्ना । सखि चित्रलेखे, मोचय तावदेनाम् । (३८)

चित्रलेखा—(विलोक्य विहस्य च) (आम्, दिढं क्खु लग्गा सा । असक्का मोआविदुम्)

आम्, दृढं खलु लग्ना सा । अशक्या मोचयितुम् ।

उर्वशी—(अलं पडिहासेन । मोआवेहि दावणम्)

अलं परिहासेन । मोचय तावदेनाम् ।

चित्रलेखा—(आम्, दुम्मोआ विअ मे पडिहादी तहा वि मोआविस्सं दाव) ।

आम्, दुर्मोच्येव मे प्रतिभाति । तथापि मोचयिष्ये तावत् ।

उर्वशी—(स्मितं कृत्वा) (पिअसहि, सुमरेहि, क्खु एदं अत्तणो वअणम्) ।

प्रिय सखि, स्मरस्व खल्वेतदात्मनो वचनम् ।

राजा—(स्वगतम्) ।

उर्वशी—(गमन में विघ्न को प्रकट करके) अहो लतावाली झाड़ी में मेरा एक लड़ी वाला वैजयन्तीहार उलझ गया है । सखि चित्रलेखा ! जरा इसे छुड़ादे ।

(३९) एकावली एकयष्टिका वैजयन्तिका पञ्चरागमयी जानुपर्यन्तलम्बिता माला ।

चित्र०—(देखकर और हंसकर) हां निःसन्देह यह अच्छी तरह उलझ गया है । इसका छुड़ाना कठिन है ।

उर्वशी—सखि, बहुत हंसी न कर । इसे छुड़ादे ।

चित्र०—सच है बहिन ! मेरा विचार है कि यह बड़ी कठिनता से छूटेगा । फिर भी छुड़ाने का यत्न करूंगी ।

उर्वशी—(हंसी के साथ) प्रिय सखि, इस अपने बचन को याद रखना ।

राजा—(अपने मन ही मन में) ...

प्रियमाचरितं लते त्वया मे,
गमनेऽस्याः क्षणविघ्नमाचरन्त्या ।
यदियं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा,
परिवृत्तार्धमुखी मया हि दृष्टा ॥ (३९)

(चित्रलेखा मोचयति उर्वशी । राजानमवलोकयन्ती सनिःश्वासं सखीजनमुत्पतन्तं पश्यति) ।

सूतः—आयुष्मन्,

अदः सुरेन्द्रस्य कृतापराधा-
न्प्रक्षिप्य दैत्यांल्लवणाम्बुराशौ ।

---

(३९) अन्वयः—प्रियमिति । लते अस्याः गमने क्षणविघ्नमाचरन्त्या त्वया मे प्रियम् आचरितम्, यत् मया पुनरपि अपाङ्गनेत्रा परिवृत्तार्धमुखी इयं दृष्टा ।

च० टी०—हे लते ! अस्याः उर्वश्याः गमने क्षणविघ्नमाचरन्त्या क्षणं क्षणमात्रं विघ्नम्, क्षण उत्सवस्तद्रूपं विघ्नमिति वा आचरन्त्या कुर्वत्या त्वया मे मम प्रियं हितम् आचरितम् । उर्वशीगमने विघ्नभूतया त्वया मम हितं कृतम् इतिभावः । यत् यतः मया पुनरपि भूयोऽपि अपाङ्गनेत्रा अपाङ्गयुक्ते नेत्रे यस्याः सा यद्वा अपाङ्गः मदनः तज्जनके नेत्रे यस्यास्तादृशी परिवृत्तम् अर्धम् मुखं यस्याः सा दृष्टा विलोकिता । "क्षण उद्धव उत्सवः इत्यमरः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ।

हि० टी०—*हे कंटीली झाड़ी ! स्वर्ग को जाती हुई इस उर्वशी के गमन में विघ्न करते हुए तूने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है क्योंकि मैं इस नीची या टेढी निगाहवाली उर्वशी को फिर दोबारा देख रहा हूं ।*

(चित्रलेखा उसकी माला को छुड़ाती है । उर्वशी राजा को देखती हुई, और सांस लेती हुई, ऊपर जाती हुई सखियों को देखती है ।)

सूत–*आयुष्मन् !*

वायव्यमस्त्रं शरधिं पुनस्ते
महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम् ॥ (४०)

राजा—तेन ह्युपश्लेषय रथम्, यावदारोहामि । (४१)

(सूतस्तथा करोति । राजा नाट्येन रथमारोहति)

उर्वशी—(सस्पृहं राजानमवलोकयन्ती) (अवि णाम पुणो वि उअआरिणं एदं पेक्खिस्सम् ।)

अपि नाम पुनरप्युपकारिणमेतं प्रेक्षिष्ये ।

---

(४०) अन्वयः-अद इति । ते अदः वायव्यम् अस्त्रम् सुरेन्द्रस्य कृतापराधान् दैत्यान् लवणाम्बुराशौ प्रक्षिप्य पुनः महोरगः श्वभ्रमिव शरधिं प्रविष्टम् ।

च० टी०-ते तव अदः वायव्यम् वायुदेवताकम् अस्त्रं सुरेन्द्रस्य इन्द्रस्य कृतापराधान् कृतः अपराधः यैस्तान् इन्द्रविरोधिन इत्यर्थः दैत्यान् दानवान् लवणाम्बुराशौ लवणसमुद्रे प्रक्षिप्य पुनः महोरगः महासर्पः श्वभ्रमिव विलमिव शरधिं निषङ्गम् तूणीरमितियावत् प्रविष्टम् । सर्पो यथा विलं प्रविशति तद्वत्तवापि अस्त्रं तूणीरं प्रविशतीति निर्गलितोऽर्थः । "रन्ध्रंश्वभ्रं वपासुषिः" इत्यमरः । उपजातिः वृत्तम् । "अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः" इति लक्षणात् ॥

हि० टि०—हे राजन् ! वायु देवताक यह आपका अस्त्र, देवेन्द्र के अपराधी राक्षसों को मार कर और उन्हें लवण समुद्र में फेंक कर इस प्रकार तरकस में घुस गया है जिस प्रकार बड़ा भारी सांप विल में घुस जाता है । अर्थात् जिस प्रकार जहरीला सांप किसी को डस कर विल में घुस जाता है, उसी जहरीले सांप के समान आपका वाण दानवों का नाश कर विल के समान तरकस में घुसगया है ।

(४१) उपश्लेषय समीपे समानय, आरोहामि आरूढो भवामि ।

राजा—सूत ! रथ को मेरे पास लाओ, ताकि मैं रथ में चढूं ।

(सूत रथ को लाता है । राजा रथ में चढता है)

उर्वशी—[प्यासे लोचनों से राजा की तरफ देख कर]

(इति सगन्धर्वा सह सखीभिर्निष्क्रान्ता)

राजा—(उर्वशीवर्त्मोन्मुखः) अहो, दुर्लभाभिलाषी मदनः ।

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्, पितुः पदं मध्यमुत्पतन्ती ।
सुराङ्गना कर्षति, खण्डिताग्रात्, सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥ (४३)

(इति निष्क्रान्तौ)

इति श्री कविकुलचूडामणि महाकवि कालिदास प्रणीते
विक्रमोर्वशीये त्रोटके प्रथमोऽङ्कः समाप्तः ।

अहो ! क्या मैं फिर कभी इस उपकार करने वाले राजर्षि को देखूंगी ।

[गन्धर्व और अपनी सखियों के साथ उर्वशी जाती है]

राजा—[उर्वशी के रास्ते की ओर ऊपर देखता हुआ] *अहो ! कामदेव भी दुर्लभ चीजों को चाहता है । अर्थात् काम के वश में हो कर मेरा चित्त उर्वशी जैसी दुर्लभ चीज को चाहता है ।*

(४३) अन्वयः—एषेति । पितुः मध्यमं पदम् उत्पतन्ती एषा सुराङ्गना प्रसभं मे शरीरात् मनः कर्षति, राजहँसी खण्डिताग्रात् मृणालात् सूत्रमिव ।

च० टी०—पितुः निजजनकस्य नारायणस्य मध्यमं पदम् आकाशम् उत्पतन्ती उद्गच्छन्ती, वियन्मार्गेणगच्छन्तीत्यर्थः । एषा सुराङ्गना देवस्त्रीः उर्वशीतिभावः, प्रसभं बलादिव मे मम शरीरात् मनः चित्तं कर्षति । किमिवेत्याह—राजहंसी खण्डिताग्रात् त्रुटितमुखात् मृणालात् सूत्रमिव । राजहंसी यथा त्रुटितमृणालात् सूत्रंकर्षति तद्वदियमुर्वशी मम शरीरात् मे चेतः कर्षतीति भावार्थः । 'वियद्विष्णुपदम्' इत्यमरः । राज्ञः संकल्परूपाद्वितीयावस्था । तदुक्तं दर्पणे 'द्वङ्‌ मनःसङ्गसंकल्पाः' उपजातिः वृत्तम् ।

हि० टी—*आकाश में जाती हुई यह उर्वशी मेरे हृदय को इस प्रकार खींचकर ले जा रही है जिस प्रकार राजहंसी मृणाल के टूटे हुए आगे के भाग से तंतु को ले जाती है ।* (राजा तथा सूत जाते हैं)

इति श्रीमद्विद्वद्वरपण्डितहृदयरामतनय कविरत्न चक्रधर "हंस" प्रणीतायां चन्द्रकलायां प्रथमा कला समाप्ता ।

द्वितीयोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशति विदूषकः)

विदूषकः–(अविद अविद भोः णिमन्तणिओ परमण्णेण विअ राअ रहस्सेण फुट्टमाणो ण सक्कणोमि जनाइण्णे अइण्णणेण अत्तणो जीहं धारिदुम् । ता जाव सो राआ धम्मासणगदो इदो आअच्छइ दाव इमस्सिं विरलजणसंपादे देवच्छन्दअप्पासादे आरुहिअ चिट्ठिस्सम्) (परिक्रम्योपविश्य पाणिभ्यां मुखंपिधायस्थितः)

अविदाविद भोः, निमन्त्रणिकः परमान्नेनैव राजरहस्येन स्फुटन्न शक्नोमि जनाकीर्णेऽकीर्तनेनात्मनो जिह्वां धारयितुम् । तद्यावत्स राजा धर्मासनगत इत आयाति तावदेतस्मिन्विरलजनसम्पाते देवच्छन्दकप्रासाद आरुह्य स्थास्ये । (१)

---

(१) अविदाविद इति अदृष्टाश्रुतसम्प्राप्तिसूचकम् अव्ययम् "अदृष्टाश्रुतसम्प्राप्ता-ववविदाविदभोः पदम्" इतिसागरः । निमन्त्रणिकः, निमन्त्रितः परमान्नेन पायसेन, "परमान्नं तु पायसम्" इत्यमरः । देवच्छदक इति प्रासादनाम । उदरम्भरिः विदूषकः अभीष्टपददृष्टान्तेन स्वमनोभावं दर्शयति । यथा निमन्त्रितः पायसभोजनलोभात् आत्मनो जिह्वां न शक्नोति धारयितुम् तत्र लालसत्वात् तथा अहमपि, अन्तःस्फुटता राजरहस्येन जिह्वां धारयितुं न शक्नामि, राजरहस्यं गोपायितुं न शक्नोमीति भावः ।

विदूषक—*आश्चर्य है ! आश्चर्य है !! जैसे निमन्त्रित ब्राह्मण खीर के कारण फूला नहीं समाता और अपनी जिह्वा को वश में नहीं रख सकता (खीर सड़पने की त्वरा में जरा भी धीरज नहीं रख सकता है ।) उसी प्रकार मैं भी अपनी जिह्वा को वश में नहीं रख सकता । अर्थात् मैं भी (हृदयस्थित) राजा की गोपनीय बातों से फूल सा रहा हूं, अतः जन समुदाय में बिना कहे हुए अपनी जिह्वा को नहीं रोक सकता हूं, सो जब तक महाराज (दर्बार में) न्यायासन पर विराजे हुए हैं, और (लौटकर) इधर आते हैं तब तक मैं भी देवच्छन्दक महल में जहां मनुष्यों का आना जाना कम है चढ़कर बैठता हूं ।* (घूमकर और बैठकर हाथों से मुंह ढांपकर ठहर जाता है)

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी०—[आणत्तह्मि देवीए कासिराअदुहिदाए जधा—हञ्जे णिउणिए जदो-पहुदि भअवदो सुज्जस्स उअत्थाणं कदुअ पडिणिउत्तो महाराओ तदो पहुदि सुणाहिअओ विअ लक्खिअदि । ता तुमं वि दाव अज्जमाणवआदो जाणाहि से उक्कण्ठा-कारणं त्ति । ता कहं सो वह्मबन्धू अदि संधादव्वो । अहवा तणग्गलग्गं विअ अवस्सा असलिलं ण तस्सिं राअरहस्सं चिरं चिट्ठदि त्ति तक्केमि । ता जाव णं अण्णेसामि । (**परिक्रम्यावलोक्य च**) अम्मो, आलेख्यवाणरो विअ किंपि मन्तअन्तो णिहुदो अज्जमाण अवो चिट्ठदि । ता जाव णं उवसप्पामि । (**उपसृत्य**) अज्ज, वन्दामि)

अज्ञप्तास्मि देव्या काशिराजदुहित्रा यथा—हञ्जे निपुणिके, यतः प्रभृतिभगवतः सूर्यस्योपस्थानं कृत्वा प्रतिनिवृत्तोमहाराजस्ततः प्रभृति शून्यहृदय इव लक्ष्यते । तावमपि तावदार्यमाणवकाज्जानीह्य-स्योत्कण्ठाकारणमिति । तत्कथं स ब्रह्मबन्धुरतिसंधातव्यः । अथवा तृणाग्रलग्नमिवावश्यायसलिलं न तस्मिन्राजरहस्यं चिरं तिष्ठतीति तर्कयामि । तद्यावदेनमन्वेषयामि । अहो, आलेख्यवानर इव किमपि मन्त्रयन्निभृत आर्यमाणवकस्तिष्ठति । तद्यावदेनमुपसर्पामि । आर्य वन्दे]

(इसके बाद चेटी आती है)

(२) काशिराजदुहिता देवी राज्ञीतियावत्, माणवक इति विदूषकनाम, ब्रह्म-बन्धुः दुष्टब्राह्मणः । अतिसंधातव्यः वञ्चनीयः, अवश्यायसलिलम् नीहारजलम्, आलेख्य-वानरः चित्रगतोवानरः, निभृतः निश्चलः, "ब्रह्मबन्धुरधिक्षेपे निर्देशेऽपि द्विजोत्तमे" इति विश्वलोचनः । "अवश्यायो हिमे वर्गे सततार्जन कर्मणि" इत्यमपि विश्वलोचनः ।

चेटी—रानी ने मुझे आज्ञा दी है कि—हे निपुणिके ! जब से महाराज भगवान् सूर्य की उपासना करके लौटे हैं, तब से न जाने वे क्यों हृदय शून्य से दीखते हैं । इस लिए तुम आर्य माणवक से उन की उत्कण्ठा का कारण मालूम करो । सो अब किस प्रकार उस नीच ब्राह्मण से इस बात को मालूम करूं । परन्तु मेरा विचार है कि जिस प्रकार तिनके के अग्रभाग में लगा हुआ ओस का जल अधिक देर तक नहीं ठहरता उसी प्रकार इस ब्राह्मण के हृदय में भी राजा की

विदूषकः—[सत्थि भोदिए । (आत्मगतम्) एदं दुट्ठचेडिअं पेक्खिअ तं राअरहस्संहिअअं भिन्दिअ णिक्कमदि विअ । (किञ्चिन्मुखं संवृत्य प्रकाशम्) भोदि णिउणिए, संगीदवावारं उज्झिअ कहिं पत्थिदासि]

स्वस्ति भवत्यै । एतां दुष्टचेटिकां प्रेक्ष्य तद्राजरहस्यं हृदयं भित्वा निष्क्रामतीव । भवति निपुणिके, संगीतव्यापारमुज्झित्वा कुत्र प्रस्थितासि । (३)

चेटी—(देवीए वअणेण अज्जं एव्व पेक्खिदुम्)

देव्या वचनेनार्यमेव प्रेक्षितुम् ।

विदूषकः—(किं तत्तभोदी आणवेदि)

किं तत्रभवत्याज्ञापयति ।

चेटी—(देवी भणादि जधा–अज्जस्स मम उअरि अदक्खिणम् । णमं अणुइदवेअणं दुक्खिदं अवलोअदि त्ति)

देवी भणति यथा–आर्यस्य ममोपरि अदाक्षिण्यम् न मामनुचितवेदनां दुःखितामवलोकयतीति ।

गुप्त बातें अधिक देर तक नहीं ठहरतीं । अब उसे ढूंढ़ती हूं । (परिक्रमा करके और देखकर) अहो ! चित्रगत बन्दर की तरह, आर्य माणवक कुछ सोचता हुआ चुपचाप बैठा है । सो इसके पास जाती हूं । (सामने जाकर) आर्य ! प्रणाम करती हूं ।

(३) स्वस्ति भवत्यै "नमः स्वस्ती" त्यादिना चतुर्थी । प्रेक्ष्य दृष्ट्वा, निष्क्रामतीव निर्गच्छतीव । उज्झित्वा त्यक्त्वा, कुत्र प्रवृत्तासि किमर्थं कुत्र गच्छसीत्यर्थः ।

विदूषक–तुम्हारा कल्याण हो (अपने मन ही मन में) इस दुष्ट चेटी को देखकर, राजा की गुप्त बातें मानों हृदय को फोड़ २ कर बाहर निकलना चाहती हैं । (कुछ मुंह उठाकर प्रकट भाव से) हे निपुणिका ! आज गाना छोड़कर किधर चली हो ?

चेटी–देवी की आज्ञानुसार तुम्हारे ही दर्शनों के लिए आई हूं ।

विदूषक–महारानी की क्या आज्ञा है ?

(४) अदाक्षिण्यम् अननुकूलता, मन्मुखसंकोचाभाव इतियावत्, अनुचितवेदनाम् अनुचिता अयोग्या वेदना पीड़ा यस्यास्ताम् अवलोकयति पश्यति ।

विदूषक—(णिउणिए, किं वा पिअवअस्सेण तत्तभोदीए पडिऊलं किं वि समाचरिदम्)

निपुणिके, किं वा प्रियवयस्येन तत्र भवत्याः प्रतिकूलं किमपि समाचरितम् ?

चेटी—(जं णिमित्तं उण भट्टा उक्कण्ठदो, ताए इत्थिआए णामेण भट्टिणा देवी आलविदा)

यन्निमित्तं पुनर्भर्ता उत्कण्ठितः, तस्याः स्त्रिया नाम्नाभर्त्रा देवी आलपिता।

विदूषक—(स्वगतम्) [कहं सअं एव्व तत्तभोदा वअस्सेण रहस्सभेदो किदो। किं दाणीं अहं बह्मणो जीहं रक्खिदुं समत्थोम्हि। (प्रकाशम्) किं तत्तभोदा उव्वसीणामधेएण आमन्तिदा।

कथं स्वयमेव तत्र भवता वयस्येन रहस्यभेदः कृतः किमिदानीमहं ब्राह्मणो जिह्वां रक्षितुं समर्थोऽस्मि। किं तत्रभवता उर्वशीनामधेयेनामन्त्रिता।

चेटी—(अज्ज, का सा उव्वसी)

चेटी—महारानी कहती हैं आप मेरे प्रतिकूल हैं, (मेरा कुछ भी लिहाज़ नहीं करते) जिससे कि अयोग्य पीड़ा से दुखित मेरी ओर ध्यान नहीं देते।

विदूषक—निपुणिके ! क्या मेरे प्रियमित्र पुरुरवा ने महारानी का कोई अपराध किया है ?

चेटी—जिस स्त्री के विरह में महाराज छटपटा रहे हैं, उस स्त्री के नाम से उन्होंने देवी को पुकारा है।

विदूषक—(अपने मन ही मनमें) तो क्या महाराज ने अपने ही मुख से यह भेद खोल डाला है। क्या अब मैं एक ब्राह्मण अपनी जिह्वा को वश में रख सकता हूं। (प्रकट में) क्या महाराज ने देवी को उर्वशी के नाम से पुकारा है ?

आर्य का सा उर्वशी ।

विदूषकः— अत्थि उव्वसी त्ति अच्छरा । ताए दंसणेण उम्मादिदोण केवलं तं आआसेदि, मं वि बह्मणं असिदव्वविमुहं दिढं पीडेदि)

अस्त्युर्वशीत्यप्सराः । तस्या दर्शनेनोन्मादितो न केवलं तामायासयति मामपि ब्राह्मणमशितव्यविमुखं दृढं पीडयति ।

चेटी—(स्वगतम्) (उव्वादिदो मए भेओ भट्टिणो रहस्सदुग्गस्स । ता गदुअ देवीए एदं णिवेदमि)

उत्पादितो मया भेदो भर्तूरहस्यदुर्गस्य । तद्गत्वा दैव्यै एतन्निवेदयामि । (इति प्रस्थिता) (६)

विदूषक—(णिउणिए, विण्णविहि मम अवणेण कासिराअदुहिदरम्–परिस्सन्तह्मि इमाए मिअतिण्हिआए वअस्सं णिअत्तावेदुम् । जई भोदीए मुहकमलं पेक्खिस्सदि तदो णिअत्तिस्सदि त्ति ।)

निपुणिके, विज्ञापय मम वचनेन काशिराजदुहितरम्–परिश्रान्तोऽस्म्येतस्या मृगतृष्णिकाया वयस्यं निवर्तयितुम् । यदि भवत्या मुखकमलं प्रेक्षिष्यते ततो निवर्तिष्यत इति । (७)

चेटी–*आर्य वह ऊर्वशी कौन है ?*

(५) उन्मादितः उन्मनस्कः, आयासयति पीडयति, अशितव्यविमुखम् भोजनादिविमुखम् ।

विदूषक–*उर्वशी नाम की एक अप्सरा है । उसके दर्शन से उन्मत्त होकर राजा केवल देवी को ही कष्ट नहीं देते, बल्कि मुझ ब्राह्मण को भी भोजनादि खाद्य पदार्थों के बिना बड़ा कष्ट दे रहे हैं ।*

(६) मया भर्तुः राज्ञः रहस्यदुर्गस्य दुर्भेद्यस्य गोप्यस्य भेदः उत्पादितः कृतः उद्भेदनं कृतमित्यर्थः ।

चेटी–(मन ही मन में) *मैंने राजा के गुप्त मन्त्र के किले को तोड़ डाला है । अर्थात् मुझे राजा की गुप्त बातें मालूम हो गई हैं । सो जाकर रानी से कहती हूं ।* (यह कहकर चल दी)

(७) मृगतृष्णा मरीचिका "मृगतृष्णा मरीचिका" इत्यमरः ।

विदूषक—*निपुणिके, मेरी तरफ से देवी को कहो कि–मैं तो*

चेटी—(जं अज्जो आणवेदि)

यदार्य आज्ञापयति । (इति निष्क्रान्ता)

(नेपथ्ये वैतालिकः)

जयतु जयतु देवः ।

आलोकान्तात्प्रतिहततमोवृत्तिरासां प्रजानां
तुल्योद्योगस्तव च सवितुश्चाधिकारो मतो नः ।
दिष्ट्यैकः क्षणमधिपतिर्ज्योतिषां व्योममध्ये
षष्ठे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमह्नः ॥ (८)

महाराज को इस मृगतृष्णा से हटाते २ थक गया हूं । अब यदि वे देवी के मुखकमल को देख लेंगे तो शायद हट सकेंगे ।

चेटी—*बहुत अच्छा आर्य ! जो आप आज्ञा देते हैं ।* (ऐसा कहकर चेटी चली गई)

(नेपथ्य में वैतालिक पढ़ता है)

महाराज की जय हो, महाराज की जय हो ।

(८) **अन्वयः**—आलोकान्तादिति । आलोकान्ताद् आसां प्रजानां प्रतिहततमोवृत्तिः तव सवितुः च अधिकारः नः तुल्योद्योगः मतः । एकः ज्योतिषाम् अधिपतिः क्षणं व्योममध्ये तिष्ठति, देव ! त्वमपि अह्नः षष्ठे काले विश्रान्ति लभसे ।

च० टी०—आलोकान्तात् आलोकान्तमभिव्याप्य भुवनान्तपर्यन्तमित्यर्थः । आसां प्रजानां प्रतिहततमोवृत्तिः प्रतिहता निरुद्धा तमसः अन्धकारस्य वृत्तिः सत्त्वं येन तथाभूतः, राजपक्षे-प्रतिहता निरस्ता तमसि तमोगुणप्रधाने पापाचरणे वृत्तिः प्रवृत्तिः येन तथाभूतः पूर्वत्र सूर्यस्य प्रकाशरूपत्वं हेतुः, उत्तरत्र प्रतापो राजदण्डभयं च हेतुरिति भावः । तव भवतः (पुरूरवसः) सवितुश्च अधिकारः, नः अस्माकम् तुल्योद्योगः तुल्यः समानः, उद्योगः प्रारम्भः कर्तव्यमितियावत् यत्र तथाभूतः मतः मन्यते, एकः ज्योतिषां ग्रहनक्षत्राणाम् अधिपतिः सूर्यः क्षणं मध्याह्नसमये व्योममध्ये आकाशमध्ये तिष्ठति, अवरुद्धगतिर्भवति । हे देव ! हे राजन् ! त्वमपि अह्नः दिवसस्य षष्ठे काले षष्ठभागे विश्रान्ति विश्रामं लभसे प्राप्नोषीत्यर्थः । 'नः' इत्यत्र "कस्य

विदूषकः—(कर्णं दत्वा) (एसो उण पिअवअस्सो धम्मासणसमुत्थिदो इदो एव्व आअच्छदि । ता जाव पासपडिवत्ती होमि)

एष पुनः प्रियवयस्यो धर्मासनसमुत्थित इत एवागच्छति । तद्यावत्पार्श्वपरिवर्ती भवामि । इति निष्क्रान्तः ।

प्रवेशकः

(ततः प्रविशति उत्कण्ठितो राजा विदूषकश्च)

राजा—आ दर्शनात्प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम् ।
बाणेन मकरकेतोः कृतमार्गमवन्ध्यपातेन ॥ (९)

च वर्तमाने" इति षष्ठी । 'मतः' इत्यत्र "मतिबुद्धीति" वर्तमाने क्तः । "षष्ठे स्वैरविहारो मन्त्रो वा सेव्यः" इतिनीतिकृतश्चाणक्यादयः । मन्दाक्रान्तावृत्तम्—"मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरूचेत् इति लक्षणात् ।

हि० टि०—हे राजन् ! आप और सूर्य प्रजा के लिए समान ही काम करते हैं । अगरचे सूर्य के उदय से संसार में अन्धकार का नाश हो जाता है, तो आपके प्रताप और शासन के भय से मनुष्य के चित्त में पाप करने की प्रवृत्ति नहीं होती है और जिस प्रकार सूर्य मध्यान्ह के समय आकाश में थोड़ी देर विश्राम करता है, उसी प्रकार आप भी दिन के छटे हिस्से में विश्राम किया करते हैं ।

विदूषक—(कानों से सुनकर) ये तो प्रियमित्र (महाराज) इधर ही आ रहे हैं । सो उनके नजदीक जाता हूं । (यह कहकर चला गया)

प्रवेशक

(इसके बाद उत्कण्ठित राजा तथा विदूषक आते हैं)

(९) राजा—आदर्शनादिति । सा सुरलोकसुन्दरी आदर्शनात् अवन्ध्यपातेन मकरकेतोः बाणेन कृतमार्गं मे हृदयं प्रविष्टा ।

स० टी०—सा सुरलोकसुन्दरी उर्वशी आदर्शनात् दर्शनात् दर्शनमारभ्य, यदा मया दृष्टा तत इत्यर्थः अवन्ध्यपातेन अवन्ध्यः सफलः पातः पतनं यस्य तेन सार्थकपतनेनेति भावः, मकरकेतोः

विदूषकः—(सपीडा क्खु जादा तत्तभोदी कासिराअदुहिता)
सपीडा खलुजाता तत्र भवती काशिराजदुहिता।

राजा—(निरीक्ष्य) रक्ष्यते भवता रहस्यनिक्षेपः ?

विदूषकः—(आत्मगतम्) वञ्चिदोम्हि दासीए णिउणीआए । अण्णधा कधं एव्व पुच्छदिवअस्सो)

वञ्चितोऽस्मि दास्या णिपुणिकया । अन्यथा कथमेवं पृच्छति वयस्यः ।

राजा—किं भवांस्तूष्णीमास्ते ।

विदूषकः—(भो, एव्वं मए जीहा संजन्तिदा जेण भवदो वि णत्थि पडिवअणम्)

भोः, एवं मया जिह्वा संयन्त्रिता येन भवतोऽपि नास्ति प्रतिवचनम् ।

कामस्य बाणेन शरेण कृतमार्गं कृतद्वारं मे मम (पुरूरवसः) हृदयं चेतः प्रविष्टा, कामेन मम हृदयं विदीर्णं ततश्चोर्वशी तेनैव द्वारेण मम हृदये प्रविष्टेति तात्पर्यम् । आर्यावृत्तम् ।

हि० टी—उर्वशी को देखने के बाद कामदेव के अचूक वाण ने मेरे हृदय को विदीर्ण कर दिया, और वह सुर सुन्दरी उसी मार्ग से मेरे हृदय में प्रवेश कर गई ।

विदूषक—(राजन् ! इस मृगतृष्णा को छोड़ो) महारानी को आप की दशा देखकर बड़ा कष्ट हुआ है ।

राजा—(उसकी तरफ देखकर) मित्र ! गुप्त बातें तुमने छिपा रखी हैं न !

विदूषक—(अपने मन ही मन में) दुष्ट निपुणिका दासी ने मुझे ठग लिया है । नहीं तो महाराज इस तरह क्यों पूछते ?

राजा—मित्र ! चुप क्यों खड़े हो ?

विदूषक—महाराज ! मैंने तो अपनी जिह्वा को इस तरह दबाया हुआ है कि मैं आपके सामने भी इस भेद की बात कहने में असमर्थ हूं ।

राजा—युक्तम् । अथ केनेदानीमात्मानं विनोदयामि ?

विदूषकः—(भो, महाणसं गच्छह्म)

भोः, महानसं गच्छावः । (१०)

राजा—किं तत्र ?

विदूषकः—तहिं पञ्चविहस्स अब्भवहारस्स उवणदसंभारस्स जोअणां पेक्खमाणेहिं सक्कं उक्कण्ठां विणोदेदुम्)

तत्र पञ्चविधस्याभ्याहारस्योपनतसंभारस्य योजनां प्रेक्षमाणाभ्यांशक्यमुत्कण्ठांविनोदयितुम् । (११)

राजा—तत्रेप्सितसंनिधानाद्भवान्रंस्यते । मया खलु दुर्लभप्रार्थनः कथमात्मा विनोदयितव्यः । (१२)

विदूषकः—(णं भवं वि तत्तभोदीए उव्वसीए दसणपहंगदो)

ननु भवानपि तत्र भवत्या उर्वश्या दर्शनपथं गतः ।

राजा—*बहुत ठीक है मित्र ! अब इस वक्त किस चीज से अपने जी को बहलाऊं ?*

(१०) महानसं पाकशालाम् ।

विदूषक—*प्रियमित्र रसोईघर की तरफ चलो ।*

राजा—*वहां क्या है ?*

(११) अभ्याहारस्य भोज्यस्य, उपनतसंभारस्य सज्जीकृतसमग्रपदार्थस्य, योजनाम् सज्जीकरणम् , प्रेक्षमाणाभ्यां पश्यद्भ्याम् ।

विदूषक—*रसोईघर में पांच प्रकार के भोजनों को तय्यार होते हुए देखकर ही हमारे उत्कण्ठित चित्त का बहलाव हो सकेगा ।*

(१२) ईप्सितसान्निधानात् अभिलषितवस्तुसामीप्यात् , रंस्यते अनुरक्तो भविष्यति दुर्लभप्रार्थनः दुर्लभा असुलभा प्रार्थना यस्य सः ।

राजा—*मित्र ! रसोईघर में मनोवाञ्छित पदार्थों को पाकर तुम्हारा मन तो वहां लग जाएगा, मगर उर्वशी जैसी दुर्लभ चीज को चाहने वाला मेरा चित्त किस प्रकार लगेगा ।*

विदूषक—*मित्र ! परन्तु आपको भी तो उर्वशी ने देख ही लिया था ।*

राजा—ततः किम् ।

विदूषकः—(ण क्खु दे दुल्लह त्ति तक्केमि)

न खलु ते दुर्लभेति तर्कयामि ।

राजा—पक्षपातोऽपि तस्यां सद्रूपस्यालौकिक एव । (१३)

विदूषकः—(एव्वं मन्तअन्तेण मे वड्ढिदं कोदूहलम् । किं तत्तभोदी उव्वसी अद्दुदीआ रूवेण, अहं वीअ विरूवदाए)

एवं मन्त्रयता मम वर्धितं कौतूहलम् । किं तत्रभवत्युर्वश्य-द्वितीया रूपेण, अहमिव विरूपतया ।

राजा—माणवक, प्रत्यवयवमशक्यवर्णनां तामवेहि । तेन हि समासतः श्रूयताम् । (१४)

विदूषकः—(भो, अवहिदोम्हि)

भोः, अवहितोऽस्मि ।

राजा—तो फिर क्या ?

विदूषक—मेरे विचार में तो उर्वशी आपके लिए दुर्लभ नहीं है।

(१३) सद्रूपस्य सतः समीचीनस्य रूपस्य सुन्दरतायाः तस्यामुर्वश्यां पक्षपात आग्रहेणावस्थितिरलौकिकोऽतिविलक्षणः कुत्रापि अदृष्टचर इतिभावः ।

राजा—उस उर्वशी के ऊपर उसकी सुन्दरता का पक्षपात भी बहुत विचित्र है । अर्थात् उर्वशी का सौन्दर्य्य लोक से बाहर है. सर्वथा अलौकिक है ।

विदूषक—इस प्रकार आपके कहने से मेरा आश्चर्य और भी बढ़ गया है । क्या उर्वशी उसी प्रकार सुन्दरता में अद्वितीय है जिस प्रकार मैं कुरूपता में ।

(१४) प्रत्यवयवं प्रत्यङ्गमशक्यवर्णनाम् अशक्यं वर्णनं यस्यास्ताम्, समासतः संक्षेपतः ।

राजा—माणवक, उर्वशी के प्रत्येक अङ्ग का वर्णन करना असंभव है । इसलिये संक्षेप से सुन ।

विदूषक—सुनाइए, मैं सावधान हूं ।

राजा—आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः ।
उपमानस्यापि सखे, प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥

विदूषकः—(अदो दाव तुए दिव्वरसाहिसालिणा जादअव्वदं गाहदम् । ता दाव तुमं कहिं पत्थिदो)

अतस्तावत्त्वया दिव्यरसाभिलाषिणा चातकव्रतग्रहीतम् । तत्तावत्त्वं कुत्र प्रस्थितः ?

राजा—विविक्तादृते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति तद्भवान्प्रमदवनमार्गमादेशयतु । (१६)

---

(७) राजा—अन्वयः—आभरणस्येति । सखे, तस्याः वपुः आभरणस्य आभरणम् , प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः, उपमानस्यापि प्रत्युपमानमस्तीति शेषः ।

च० टी०—हे सखे ! हे मित्र ! तस्याः उर्वश्याः वपुः शरीरम् आभरणस्य कटककुण्डलादेः आभरणम् भूषकम् । शोभाप्रदम् आभरणं तदङ्गविन्यस्तं सत् स्वयमेव शोभते नतु शोभयति, तदङ्गपरिहितत्वादलङ्करणानि एव अलंक्रियन्ते इतिभावः । प्रसाधनविधेर्यावकहरिद्रादिप्रतिकर्मणः प्रसाधनविशेषः निरतिशयशोभाजनकम् , उपमानस्य चन्द्रादेः प्रत्युपमानम्, चन्द्रादेः सकाशादस्याः शरीरं सौन्दर्याधिक्यादुपमानं भवति, चन्द्रादयस्तु सर्वेऽपि उपमेयतां गच्छन्तीत्यर्थः, उपमानं ह्यधिकगुणं भवतीति आलंकारिकोद्घोषादिति भावः । अत्यपूर्वसौन्दर्यमिति रहस्यम् । "प्रतिकर्म प्रसाधनम्" इत्यमरः । आर्यावृत्तम् ।

हि० टी —सखे ! उर्वशी का शरीर भूषणों का भूषण है, शृंगार का शृंगार है, और उपमानों का भी उपमान है। अर्थात् उर्वशी के शरीर की शोभा उपमान रहित, और अलौकिक है ।

विदूषक—ठीक है, तभी तो आप ने उस दिव्य रस की अभिलाषा में चातक व्रत धारण किया हुआ है । अर्थात् प्यासे पपीहे की तरह रट लगा रखी है। अब आप कहां जाने को तैय्यार हुए हैं ?

(१६) विविक्तात् विजनात्, "विविक्तौ पूतविजनौ" इत्यमरः । उत्सुकस्य विरहिजनस्य, शरणम् रक्षकम् "शरणं गृहरक्षित्रोः" इति त्रिकाण्डी ।

विदूषकः—(आत्मगतम्) का गदी (प्रकाशम्) इदो इदो भवम्।
का गतिः। इतो इतो भवान्।

(इति परिक्रामतः)

विदूषकः—(एसो पमदवणपरिसरो। क्खणमिअ पत्तुवगदो भवं आअन्तुओ दक्खिणमारुदेण)

एष प्रमदवनपरिसरः। आनम्य प्रत्युपगतो भवानागन्तुको दक्षिणमारुतेन। (१७)

राजा—(विलोक्य) उपपन्नं विशेषणमस्य वायोः अयं हि—(१८)

निषिञ्चन् माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन्।
स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात्कामीव प्रतिभाति मे॥ (१९)

राजा—*वियोगियों के लिये एकान्त ही एकमात्र सहारा है। इस लिये प्रमदवन का रास्ता दिखा।*

विदूषक—(मन ही मन में) *और गति ही कौन है* (प्रकट में) *इधर; इधर आइए।*

(दोनों घूमते हैं)

(१७) प्रमदवनपरिसरः प्रमदवनस्य परिसरः सीमा, प्रान्तदेशः "पर्यन्तभूः परिसरः" इत्यमरः। प्रत्युपगतः कृतप्रत्युद्गमनः, दक्षिणमारुतेन दक्षिणदिगागतेन वायुना अनुकूलेन च।

(१८) उपपन्नम् युक्तम्, विशेषणम् दक्षिणेति उपसर्जनम्।

राजा—*इस वायु के लिए "दाक्षिण" यह विशेषण सर्वथा उचित है। यह तो—*

(१९) अन्वयः—निषिञ्चन्निति। माधवीं लक्ष्मीं निषिञ्चन्, कौन्दीं लतां च लासयन्, स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात् मे कामीव प्रतिभाति।

च॰ टी॰—माधवीं लक्ष्मीं वासन्तीं शोभां निषिञ्चन् वर्धयन्, अतिमधुसम्पन्नां कुर्वन्नित्यर्थः। पक्षान्तरे च एकया नायिकया संगच्छमानः, कौन्दीं लतां वल्लीं च लासयन् नर्तयन्, अन्यत्र हास्यकौतुकादिना, अन्याश्च उल्लासयन्। स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात् वायुपक्षे स्नेहस्य शैत्योपयोगिनः जलतुषारादिकस्य तथा दाक्षिण्यस्य दक्षिणदिग्वर्तित्वस्य तयोः योगात्। पक्षान्तरे स्नेहः प्रेमा तथा दाक्षि

विदूषकः—[सरिसो एव्व से अहिणिवेसो । (इति परिक्रामन्) एदं पमदवणम् । पविसदु भवम्]

सदृश एवास्याभिनिवेशः । एतत्प्रमदवनम् । प्रविशतु भवान् ।

राजा—वयस्य ! प्रविशाग्रतः ।

(उभौ प्रवेशं नाटयतः)

राजा—(त्रासं रूपयित्वा) वयस्य साधुमनसा समर्थित आपत्प्रतीकारः किलममोद्यान प्रवेशः । तच्चान्यथैवोपपन्नम् ।

विविक्षोर्यदिदं नूनमुद्यानं नाघशान्तये ।
स्रोतसेवोह्यमानस्य प्रतीपतरणं महत् ॥ (२०)

एयम् अनुकूलता तयो योगः सर्वत्र समस्नेहदाक्षिण्यसम्पन्न इति भावः । कामिन एव कामोपभोगार्थं सर्वनायिकासु समदृष्टयो भवन्ति नतु प्रणयिन इति कामिशब्द तात्पर्य्यम् । "वासन्ती माधवीलता इत्यमरः । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०—मित्र ! देख, माधवी लता में रस को सींचता हुआ, और कलियों समेत लता को नचाता हुआ यह बसन्त का वायु ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रेमरस और चतुराई से मिला हुआ, मेरी ही तरह कामासक्त होगया हो ।

विदूषक—इस बगीचे में जाना उचित ही है । (घूमता हुआ) यह प्रमदवन है, प्रवेश करिए ।

राजा—मित्र, आगे प्रवेश तुम करो ।

(दोनों प्रवेश करते हैं)

राजा—(डर के साथ) मित्र, मैंने विचार किया था कि प्रमद बन में जाकर मेरे मन का ताप दूर हो जायेगा, मगर वह तो उल्टा ही हो गया है । अर्थात् मन का ताप और भी बढ़ गया है ।

(२०) अन्वयः—विविक्षोरिति । विविक्षोः यदिदमुद्यानम् नूनम् अघशान्तये न, स्रोतसा उह्यमानस्य महत् प्रतीपतरणम् इव ।

विदूषकः—(कहं विअ)
कथमिव ?

राजा—इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं
प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति ।
किमुत मलयवातोन्मूलितापाण्डुपत्रै-
रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु ॥ (२०)

च० टी०—विविक्षोः प्रवेष्टुमिच्छोः यत् इदं पुरोदृश्यमानम् उद्यानमुपवनम् अघशान्तये अघस्य दुःखस्य शान्तये नाशाय न, चेदिदमुद्यानं निश्चयेन मे दुःखविनाशाय नास्ति इतिभावः । तदा स्रोतसा प्रवाहेण उह्यमानस्य प्राप्यमाणस्य महत् प्रतीपतरणम् प्रतिकूलप्लवनमिव अस्ति । यदि ममोपवनप्रवेशः दुःखनिवृत्तये नालं तदा ममेयं चेष्टा जलप्रवाहेणोह्यमानस्य जनस्य प्रतिकूलप्लवनमिवास्तीति निर्गलितोऽर्थः । "पुमानाक्रीड उद्यानम्" इत्यमरः, "दुःखैनोव्यसनेष्वघम्" इति च । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०—क्योंकि इस बगीचे में प्रवेश करने से भी मेरे चित्त का दुःख दूर नहीं होता दीखता, मेरा इस बगीचे में प्रवेश करना तो प्रवाह में बहते हुए पुरुष के प्रवाह के प्रतिकूल तैरने के तुल्य है।

विदूषक—किस प्रकार ?

राजा—(२०) अन्वयः-इदमिति । पञ्चबाणः प्रथममपि असुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारम् इदं मे मनः क्षिणोति, मलयवातोन्मीलितापाण्डुपत्रैः उपवनसहकारैः दर्शितेषु अङ्कुरेषु किमुत ?

च० टी०—पञ्चबाणः कामः प्रथममपि अपि एवार्थे उद्यानप्रवेशात्पूर्वमेवेति भावः, असुलभेति असुलभम् दुष्प्राप्यम् उर्वशीरूपं यत् वस्तु तस्य प्रार्थनासु अभिलाषेषु दुर्निवारं निवारयितुमशक्यं मे मम मनः क्षिणोति दुनोति । इदानीं तु मलयेति-मलयवातेन दक्षिणपवनेन उन्मूलितानि पातितानि इति यावत् । पाण्डुपत्राणि परिणतपीतपत्राणि येषां तैः उपवनसहकारैः उपवनस्योद्यानस्य सहकारैः

विदूषकः—(अलं भवदो परिदेविदेण । अइरेण इट्ठसंपादइत्तओ अणङ्गो एव्व दे सहाओ भविस्सदि)

अलं भवतः परिदेवितेन । अचिरेणेष्टसम्पादयितानङ्ग एव ते सहायो भविष्यति ।

राजा—प्रतिगृहीतं ब्राह्मणवचनम्।

(इति परिक्रामतः)

विदूषकः–(पेक्खदु भवं वसन्तावदारसूइदं से अहिरामत्तणं पमदवणस्स)

प्रेक्षतां भवान्वसन्तावतारसूचितमस्याभिरामत्वं प्रमदवनस्य (२१)

सौरभातिशययुक्तैः आम्रैः दर्शितेषु कन्दर्पनयनपथपातितेषु अंकुरेषु सत्सु किमुत ? कामस्तु निःसहाय एव एवं क्लेशप्रदायी, सहायवान् पुनः किं न करोति ? वसन्ताभरणभूतचूतांकुरदर्शनादिना मनो मे द्विगुणं ज्वलतीति भावः । "आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः" इत्यमरः । मालिनी वृत्तम् "ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" इति लक्षणात् ।

हि० टी०—*कामदेव ने पहिले ही उर्वशी जैसी दुर्लभ चीज को चाहने में हठी मेरे इस चित्त को व्यथित कर रक्खा है, तिस पर मलयाचल के वायु से टूटे हुए पीले पत्तों वाले आम के अंकुरों के दृष्टिगोचर होने पर तो कहना ही क्या है अर्थात् अत्यन्त उद्दीपक दक्षिणपवन और आम्र अंकुर मेरे जखमी हृदय पर नमक का काम करेंगे।*

परिदेवितेन विलापेन । "विलापः परिदेवनम्" इत्यमरः । अचिरेण शीघ्रमेव इष्टसम्पादयिता इच्छापूरकः अनङ्गः कामः ।

विदूषक—*मित्र ! विलाप न करो । जल्दी ही वही कामदेव जो आज तुम्हें दुःख दे रहा है, सुख का कारण बन जाएगा ।*

राजा—*मैं ब्राह्मण बचन को सहर्ष अङ्गीकार करता हूं ।*

(दोनों घूमते हैं)

(२१) प्रेक्षताम् विलोकताम् , वसन्तावतारसूचितम् वसन्तस्य अवतारः आविर्भावः सः सूचितो येन तत्, अथवा वसन्तावतारेण सूचितम् इति तृतीया तत्पुरुषः अभिरामत्वम् मनोहरत्वम् ।

राजा—ननु प्रतिपदमेव तावदवलोकयामि । अत्र हि—

अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरवकं श्यामं द्वयोर्भागयो-
र्बालाशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति ।
ईषद्बद्धरजः कणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिताः ॥ (२२)

विदूषक—*प्रिय मित्र ! वसन्तावतार को सूचित करने वाले अथवा वसन्तावतार से प्रकटित प्रमदवन की सुन्दरता को तो देखो ।*

राजा—*मैं तो पद पद पर इसकी मनोहरता को देख रहा हूं । यहां तो—*

(२२) अन्वयः—अग्र इति । स्त्रीनखपाटलं कुरवकं द्वयोर्भागयो श्यामम्. वालाशोकम् उपोढ़रागसुलभम् भेदोन्मुखं तिष्ठति । चूते न वा मञ्जरी ईषद्बद्धरजः कणाग्रकपिशा, हे सखे ! मधुश्रीः मुग्धत्वस्य यौवनस्य च मध्ये स्थिता ।

च० टी०—अग्रे अग्रभागे स्त्रीनखपाटलं स्त्रियाः नखवत्पाटलं श्वेतरक्तं पुष्पम् अग्रे स्त्रीनखसदृशं दृश्यते, कुरवकं शोणं कुरण्टक-कुसुमं द्वयोर्भागयोः उभयतः श्यामं तदाकारस्वरूपवर्णनमेतत् । बालाशोकं नूतनमशोककुसुमं अनुद्भिन्नत्वात् उपोढरागसुभगम् उत्कृष्टारक्ततासुन्दरं, सुन्दरं सत् भेदोन्मुखं विकासोत्सुकं तिष्ठति। चूते आम्रवृक्षे नवा मञ्जरी ईषद्बद्धरजः कणेन अल्पसञ्जातपरागले-शेन अग्रकपिशा अग्रभागपांशुला । हे सखे, मधुश्रीः वसन्तशोभा मुग्धत्वस्य यौवनस्य च मध्ये स्थिता अस्ति, नातिव्यक्ता, नाप्यव्यक्ता इतिभावः । मौग्ध्ययौवनान्तर्गतस्त्रीपक्षेतु अग्रे प्रथमं स्त्रीनखपाटलं यौवनारम्भे स्त्रीनखान्येव पाटलानि भवन्ति । कुरवकं बालास्तनवत् बालास्तनयोः कुरवकाकारत्वात् अत्र कुरवकेणैव बालास्तनत्वमव-गम्यते । कुरवकस्य अर्थात् कुचद्वयस्य भागद्वयं चूचुकद्वयस्याग्रभाग इत्यर्थः, श्यामम् । बालाशोकम् । उपोढरागसुभगम् अन्तः सञ्जा-तानुरागेण सुन्दरम्, अत एव अशोकम् शोकविहीनं प्रफुल्लाकारं यथा तथा । यौवनदशायां बालास्तु सदैव प्रफुल्लाकारमुद्वहन्तीति

विदूषकः—(एसो कसणमणिसिलावट्टसणाहो अदिमुत्तलदामण्डओ भमरसंहविहडिदेहिं कुसुमेहिं किदोवआरो विअ अत्त भवदो वट्टदि । ता अणुग्गहीअदु एसो)

एष कृष्णमणिशिलापट्टसनाथोऽतिमुक्तलतामण्डपो भ्रमरसङ्घविघटितैः कुसुमैः कृतोपचार इवात्र भवतो वर्तते। तदनुगृह्यतामेषः ॥ (२३)

राजा—यदभिरोचते भवते।

दृष्टान्तात् भेदोन्मुखं विकासोन्मुखं तिष्ठति। पुनश्च ईषद्बद्धरजः कणा, रजोधर्मत्वमपि तासां युक्तमेव। चूते नवा मञ्जरी नवोद्गता मञ्जरी अग्रकपिशा अग्रभागकपिशा "चूते मञ्जरी" अश्लीलत्वान्न व्याख्यातम् हारावल्यां चूतशब्दार्थदर्शनादेव अर्थव्यक्तिर्भविष्यति । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः।

हि० टी०—कुरबक का पुष्प आगे की ओर से स्त्री के नाखून के समान श्वेतरक्त (गुलाबी) और (दाईं बाईं) दोनों ओर से श्याम है। यह छोटा अशोक का पौदा, जो कि अभी खिलने वाला है, अपनी लालिमा से मनोहर दीखता है। आम के पेड़ में नई २ मञ्जरियां उग रही हैं जिनमें कुछ २ पराग (रजःकण) जमा होने लगा है और जो आगे से दीखती हैं। इस लिए हे मित्र ! (इनको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि) वसन्त लक्ष्मी मुग्धावस्था और युवावस्था के बीच में विद्यमान है।

(२३) अतिमुक्तः पुण्ड्रकः "अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद्वासन्ती माधवी लता" इत्यमरः। कृतोपचारः कृतपूजनः, अनुगृह्यताम् स्वीक्रियताम्।

विदूषक—मित्र ! नीलम (कृष्णमणि) की शिला से शोभायमान इस माधवी लता के मण्डप को तो देखो भौरों के गिराए हुए पुष्पों से यह लता मण्डप मानो तुम्हारी पूजा कर रहा है। इस लिये इस पर अनुग्रह करना चाहिये। अर्थात् चलो इस पर चलकर बैठें।

राजा—सखे, जैसी तुम्हारी रुचि हो।

(इत्युपविशतः)

विदूषकः–(दाणीं इहासीणो ललिदलदालोहिअमाणलोअणो उव्वसीगदं उक्कण्ठं विणोदेदु भवम्)

इदानीमिहासीनो ललितलतालोभ्यमानलोचन उर्वशीगतामुत्कण्ठां विनोदयतु भवान् ।

राजा–**बहुकुसुमितास्वपि सखे नोपवनलतासु नम्रविटपासु।**
चक्षुर्बध्नाति धृतिं तदङ्गनालोकदुर्ललितम् ॥ (२४)

तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनो भवेयम् ।

विदूषकः—(**विहस्य**) (भो अहल्लाकामुहस्स इन्दस्स वज्जं सचिवो, उव्वसीपज्जुस्सुअस्स भवदो वि अहम् । दुवे वि एत्थ उम्मत्तआ ।)

(दोनों बैठ जाते हैं)

विदूषक—*मित्र, कुछ देर यहां पर विश्राम करके, सुन्दर २ लताओं को देखते हुए, उर्वशीविषयक उत्कण्ठा को दूर करो ।*

राजा—(लम्बी सांस लेकर)

(२४) अन्वयः—बह्निति । सखे, तदङ्गनालोकदुर्ललितं मे चक्षुः नम्रविटपासु बहुकुसुमितास्वपि उपवनलतासु धृतिं न बध्नाति ।

च० टी०—**सखे ! तदङ्गनालोकदुर्ललितं तस्याः अङ्गनायाः उर्वश्याः (आलोकेन वा) दर्शने (दर्शनेन वा) दुर्ललितम् दुराग्रहग्रस्तमिति यावत् मे मम चक्षुः नेत्रम् नम्रविटपासु अपि उपवनलतासु उद्यानवल्लीषु धृतिं धैर्यं न बध्नाति । आर्याच्छन्दः ।**

हि० टी०–*मित्र ! उर्वशी के रूप को देखने के लिये हठी मेरे नेत्र फूलों के भार से झुकी हुई उपवन की इन लताओं को देखकर भी धैर्य धारण नहीं करते (अर्थात् मेरे ये नेत्र उर्वशी के प्रेम पाश में ऐसे बंध गए हैं कि उर्वशी के बिना इनकी तृप्ति ही नहीं हो सकती)। इस लिये कोई ऐसा उपाय सोचो जिससे मेरी कामना सिद्ध हो जाय ।*

भोः, अहल्याकामुकस्येन्द्रस्य वज्रं साचिवः, उर्वशीपर्युत्सुकस्य भवतोऽप्यहम्। द्वावप्यत्रोन्मत्तौ। (२५)

राजा—न खलु चिन्तयति भवान्?

विदूषकः-(चिन्तयति) (एसो चिन्तेमि मा उण परिदेविदेहिं समाधिं भञ्जस्ससि।) (निमित्तं सूचयित्वा आत्मगतम्।) अहो, अहं कज्जदंसी)

एष चिन्तयामि। मा पुनः परिदेवितैः समाधिं भंक्ष्यसि। अहो, अहं कार्यदर्शी।

राजा—असुलभा सकलेन्दुमुखी च सा
किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम्।

---

(२५) अहल्याकामुकस्येन्द्रस्य यथाहल्याप्राप्तिविषये वज्रं सखा आसीत् तथैवोर्वशीपर्युत्सुकस्य तवाप्यहं सखा। यदि इन्द्रः स्वेष्टसिद्धिविषये वज्रमायेजयिष्यत्तदा तस्य यथा कार्यसिद्धिरभविष्यत्तथैव मत्सकाशात्ते कार्यसिद्धिः। द्वावप्यत्र उन्मत्तौ एतत् कार्यज्ञानरहितौ, वज्रं रिपुदलने क्षमम्, अहमपि अन्यत्र। का आवयोः क्षमता एतच्चिन्तने? आवां तु कार्यविध्वंसिनौ भवेवेति भावः।

विदूषक—*मित्र! जिस प्रकार अहल्या की इच्छा करने वाले इन्द्र का सहायक वज्र था, उसी प्रकार उर्वशी की इच्छा करने वाले तुम्हारा सहायक मैं हूं। अर्थात् इन्द्र अहल्या को प्राप्त करने में वज्र उपयोग करता तो जो अनर्थ वहां होसकता था वही अनर्थ उर्वशी के लिये मुझसे भी होसकता है। मैं और वज्र तो कार्य-विघातक होसकते हैं न कि साधक।*

राजा—*मित्र! अभी तक तुमने कोई उपाय नहीं सोचा?*

विदूषक—**(सोचता है)** *लो यह सोचता हूं। मगर विलाप करने से मेरी समाधि न तोड़ना।* **(किसी निमित्त से मन ही मन में)** *अहो मैं बड़ा कार्यदर्शी हूं अर्थात् काम करने में अच्छे २ उपाय सोचने वाला हूं।*

अभिमुखीष्विव वाञ्छितसिद्धिषु
व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः ॥ २६ ॥
(इति मदनोत्सुकस्तिष्ठति)

(ततः प्रविशत्याकाशयानेनोर्वशी चित्रलेखा च)

चित्रलेखा–(सहि उव्वसि, कहिं क्खु अणिद्दिट्टकालणं गच्छीअदि)
सखि ! उर्वशी, कुत्र खल्वनिर्दिष्टकारणं गम्यते ?

उर्वशी–(मदनवेदनामभिनीय सलज्जम्) (साहि, हेमऊदसिहरे लदाविडवान्दरे लग्गा वैजअन्तिआ मोआवेहि त्ति मए भणीदा उवहसिअ मं भणादि दिदं क्खु लग्गा ण सक्का मोआविदुम् । दाणीं पुच्छसि कहि अणिद्दिट्टकालणं गच्छीअदि त्ति)

---

(२६) **अन्वयः**–असुलभेति । सकलेन्दुमुखी सा असुलभा, इदं च किमपि अनङ्गविचेष्टितम्, अभिमुखीषु वाञ्छितसिद्धिषु इव मनः एकपदे निर्वृतिं व्रजति ।

च० टी०—सकलेन्दुमुखी पूर्णचन्द्रनिभानना सा उर्वशी असुलभा नितरां दुष्प्राप्या मयि इदं च किमपि वक्तुमशक्यम् अनङ्गविचेष्टितम् अनङ्गविक्रीडितम्, कामविकार इति यावत् तथापि अभिमुखीषु सम्मुखस्थितासु वाञ्छितसिद्धिषु इष्टसिद्धिषु यथा मनः तुष्यति तथा ममापि मनः अत्र एकपदे शीघ्रमेव संशयराहित्येन निर्वृतिं सन्तोषम् एति गच्छति । "तत्क्षणैकपदे तुल्ये सद्यः सपदि च स्मृतम्" इति हलायुधः । द्रुतविलम्बितं छन्दः । "द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" इति लक्षणात् ।

हि० टी०—यद्यपि पूर्ण चन्द्रमा के समान मुखवाली उर्वशी सुलभ नहीं है, और मेरे ऊपर कामदेव भी पूर्णतया प्रभाव दिखा रहा है तथापि चित्त एक साथ (इस तरह) शान्त है, मानों मनोरथ सिद्धियां सामने खड़ी हों ।

(इस प्रकार कामार्त होकर ठहरता है)

(इसके बाद आकाश विमान से उर्वशी और चित्रलेखा आती हैं)

चित्रलेखा—बहन उर्वशी ! प्रयोजन के बिना ही कहां जा रही हो ?

सखि, हेमकूटशिखरे लताविटपान्तरे लग्ना वैजयन्तिका मोचयेति मया भणिता उपहस्य मां भणसि दृढं खलु लग्ना न शक्या मोचयितुम् । इदानीं पृच्छसि कुत्रानिर्दिष्टकारणं गम्यत इति (२७)

चित्रलेखा–(किं णु तस्स राएसिणो पुरूरवस्स सआसं पत्थिदासि)

किं नु तस्य राजर्षेः पुरूरवसः सकाशं प्रस्थितासि ?

उर्वशी–(एसो मे अवहत्थिदलज्जो व्ववसाओ)

एष मेऽपहस्तितलज्जो व्यवसायः । (२८)

चित्रलेखा–(सदि, तथा वि संपधारीअदु दाव । को उण सहीए तहिं पढ़मं पेसिदो)

---

(२७) लताविटपान्तरे लताविटपमध्ये, भणिता कथिता, उपहस्य उपहासं कृत्वा, इदानीम् अधुना, अनिर्दिष्टकारणम् कारणस्य निर्देशं विनापि प्रयोजनं विनापीति भावः ।

उर्वशी—(**कामदेव की पीड़ा का अनुभव करती हुई, लज्जा के साथ**) *सखि ! हेमकूट पर्वत के शिखर पर लता के जाल में लगी हुई वैजयन्तिका को छुड़ाने के लिए जब मैंने तुझे कहा था, तो तुमने हंसी के साथ कहा था कि–यह लता जाल में दृढ़ फंसी हुई है, छुड़ाने के योग्य नहीं है । और इस वक्त तू पूछ रही है कि–'बिना प्रयोजन के कहां जा रही हो ? प्रथमाङ्क की प्रायः समाप्ति में जब उर्वशी ने अपनी एकावली (मोतियों की माला) को छुड़ाने के लिए चित्रलेखा को कहा था कि–इसे छुड़ादे । तब चित्रलेखा ने हंसी में कह दिया था कि–यह तो लता जाल में इस प्रकार फंस गई है कि छुड़ानी सर्वथा असम्भव है । तब उर्वशी ने चित्रलेखा को कहा था– "प्रियसखि, स्मरसि खलु एतदात्मनो वचनम् ?" अर्थात् हे प्यारी सखी ! क्या तू अपने इस वचन को याद रखेगी ?*

चित्र०—*तो क्या राजर्षि पुरूरवा के पास जा रही हो ?*

(२८) अपहस्तितलज्जः अपहस्तिता दूरीकृता लज्जा व्रीडा येन सः, व्यवसाय उद्योगः । विना प्रार्थनया कामिनीनाम् अभिसारः लज्जाराहित्यद्योतकः इति भावः ।

सखि, तथापि संप्रधार्यतां तावत् । कः पुनः सख्या तत्र प्रथमं प्रेषितः ? (२९)

उर्वशी—(णं हिअअम्)

ननु हृदयम् ।

चित्रलेखा—(कोणु तुमं णिओजेदि)

को नु त्वां नियोजति ?

उर्वशी—(मअणो क्खु मं णिओजेदि)

मदनः खलु मां नियोजयति ।

चित्रलेखा—(अदो अवरं णत्थि मे वअणम्)

अतोऽपरं नास्ति मे वचनम् ।

उर्वशी—(तेण अददेसदु मे सही मग्गंजेण तहिं गच्छन्तीएण अन्तराओ भवे)

तेन आदिशतु मे सखी मार्गं येन तत्र गच्छन्त्या नान्तरायो भवेत् । (३०)

उर्वशी—हां, सखी ! मेरा यह गमनोद्योग लज्जारहित है ।

(२९) संप्रधार्यताम् आकृष्य स्वपदे स्थाप्यताम् ।

चित्र०—सखि ! कुछ धैर्य धारण करो । तो क्या कोई उनके पास भेजा है ?

उर्वशी—निःसन्देह हृदय ।

चित्र०—सखि ! तुम्हें इस काम में किसने नियुक्त किया है ?

उर्वशी—कामदेव ने मुझे इस कार्य में नियुक्त किया है ।

चित्र०—इससे अधिक मैं और कुछ नहीं कहना चाहती ।

(३०) आदिशतु दर्शयतु, अन्तरायः विघ्नः, "विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः" इत्यमरः ।

उर्वशी—सखि ! अब ऐसा रास्ता दिखाओ ? जहां से जाते हुए कोई विघ्न उपस्थित न हो अर्थात् ऐसा कोई रास्ता बताओ जहां से जाते हुए राक्षसों का डर न हो ।

चित्रलेखा—(सहि विस्सद्धा होहि । णं भअवदा देवगुरुणा अवराइदं णाम सिहावन्धणं विज्जं उवदिसन्तेण तिदसपडिवक्खस्स अलङ्घणीआ कदेम्ह ।)

सखि ! विस्रब्धा भव । ननु भगवता देवगुरुणा अपराजितां नाम शिखाबन्धिनीं विद्यामुपदिशता त्रिदशप्रतिपक्षस्यालङ्घनीये कृते स्वः । (३१)

उर्वशी—(**सलज्जम्**) ताए पओअं सव्वं सुमरेसि ।

तस्याः प्रयोगं सर्वं स्मरसि ?

चित्रलेखा—(साहि, हिअअं एदं सव्वं जानादि)

सखि ! हृदयमेतत् सर्वं जानाति । (३२)

उभे भ्रमणं रूपयतः)

चित्रलेखा—(सखि, पेक्ख पेक्ख । एदं भअवदीए भाईरहीए जमुणा-सङ्गपावणेसु सलिलेसु पुण्णेसु अवलोअन्तस्स विअ अत्ताणअं पइट्ठाणस्स सिहाभरणभूतं विअ तस्स राएसिणो भवणं उवगद म्ह ।)

सखि ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व । एतद्भगवत्या भागीरथ्या यमुनासङ्ग-

---

(३१) विस्रब्धा विश्वस्ता, देवगुरुणा बृहस्पतिना, त्रिदशपक्षस्य दानवस्य । अधुना यदा पुरूरवसा दैत्यहस्तादस्माकमुद्धारः कृतः तदा भविष्यद्विपद्विमोक्षाय बृहस्पतिना अपराजिता नाम या विद्या नो दत्ता । तत्प्रभावादधुनासुराः पुनरस्मासु अपराद्धमशक्ताः शिखाबन्धिनी बृहस्पतिदत्तमन्त्रोच्चारणेन केशांशबन्धनरूपा ।

चित्र०—*सखि ! निर्भय होजा । अभी जो देवगुरु भगवान् बृहस्पति ने 'अपराजिता' नामक हमें केशबन्धन की जो विद्या सिखाई है उसके प्रभाव से राक्षस हमें देख ही नहीं सकते ।*

उर्वशी—(**लज्जित होकर**) *उस विद्या का समग्र प्रयोग तुझे याद है ?*

(३२) एतत् हृदयम् असुरावलेपात् क्लेशितं हृदयं सर्वमपि जानाति । क्लेशितेषु हृदयेषु तन्निखातमिवास्ते ।

चित्र०—*मेरा हृदय सब कुछ जानता है । अर्थात् राक्षसों से दुःखित हृदय इस बात को कैसे भूल सकता है ।*

(दोनों भ्रमण सा करती हैं)

पावनेषु सलिलेषु पुण्येष्ववलोकयत इवात्मानं प्रतिष्ठानस्य शिखाभरणभूतमिव राजर्षेर्भवनमुपगते स्वः। (३३)

उर्वशी—(सस्पृहमवलोक्य) णं वत्तव्वं ठाणान्तरगदो सग्गो त्ति। **(विचार्य)** हला, कहिं क्खु सो आवण्णाणुकम्पी भवे।

ननु वक्तव्यम् स्थानान्तरगतः स्वर्ग इति। सखि! कुत्र खलु स आपन्नानुकम्पी भवेत्? (३४)

चित्रलेखा–एदस्सिं णन्दणेक्कपदेसे विअ पमदवणे ओदरिअ जाणिस्सामो।

एतस्मिन्नन्दनवनैकप्रदेश इव प्रमदवनेऽवतीर्य ज्ञास्यामः। (३५)

---

(३३) प्रेक्षस्व पश्य, यमुनासलिलमिश्रेषु भागीरथ्याः पवित्रजलेषु अतएव पुण्येषु पुण्यजनकेषु आत्मानम् अवलोकयतः पश्यतः प्रतिष्ठानस्य तन्नामकस्य पुरूरवसो नगरस्य। जलानां प्रतिबिम्बग्रहणसामर्थ्यात् आत्मावलोकनम्। राज्ञः धार्मिकत्वात् पुरी पापरहिता, अत एव नामतः सलिलेषु वस्तुतस्तु पुण्यधरासु प्रतिबिम्बितम् आत्मानमवलोकयन्तीव स्थितेति भावः। शिखाभरणभूतमिव शिरोभूषणमिव।

चित्र०–सखि! देख, देख! हम प्रतिष्ठानपुर के मुकट के समान राजर्षि पुरूरवा के महल के पास आगई हैं। यह नगर ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह यमुना के सङ्ग मिले हुए भगवती भागीरथी के पवित्र जलों में अपनी छाया (अपना प्रतिबिम्ब) देख रहा हो। अर्थात् यह नगर इस प्रकार सब से ऊंचा खड़ा है, मानों गङ्गा यमुना के पवित्र जल में अपनी परछाईं आप देख रहा हो।

(३४) स्थानान्तरगतः अन्यस्थाने प्राप्तः। आपन्नानुकम्पित्वेन पूर्वावस्थास्मरणम् आपन्नां दुःखितां माम् अद्य अनुकम्पत एव यतः स आपन्नानुम्पी।

उर्वशी—तो इस प्रकार क्यों नहीं कहती कि साक्षात् स्वर्ग यहां उतर कर आगया है। सखि, बता तो भला, वह दुखियों का दुख दूर करने वाला इस समय कहां पर होगा?

(३५) नन्दनम् इन्द्रस्य उपवनम् "नन्दनं वनम्" इत्यमरः अवतीर्य गत्वा।

चित्र०–नन्दन वन के समान इस प्रमद वन में उतर कर पता लग जायगा।

(उभे अवतरतः)

चित्रलेखा-[(राजानं दृष्ट्वा सहर्षम्) सहि, एसो पढ़मोदिदो बिअ भअवं चन्दो कौमुदीम् अवेक्खदि तुमं ।]

सखि, एष प्रथमोदित इव भगवान् चन्द्रः कौमुदीमपेक्षते त्वाम् । (३६)

उर्वशी-[(विलोक्य) हला, दाणीं पढ़मदंसणादोवि सविसेसपिअदंसणो मे महाराओ पड़िभादि ।]

अयि, इदानीं प्रथमदर्शनतोऽपि सविशेषप्रियदर्शनो मे महाराजः प्रतिभाति ।]

चित्रलेखा—(जुज्जदि, ता एहीं, उवसप्पम्ह ।)

युज्यते, तदेहि उपसर्पावः ।

उर्वशी—(ण दाव उवसप्पिस्सं तिक्करिणीपच्छण्णा पासपलिवत्तिणी भविअ सुणिस्सं दाव, पासपलिवत्तिणा वअस्सेण सह विजणे किं मन्तअन्तो चिट्ठदि ।)

न तावदुपसर्प्स्यामि, तिरस्करिण्या प्रच्छन्ना पार्श्वपरिवर्तिनी भूत्वा श्रोष्यामि तावत् पार्श्वपरिवर्तिना वयस्येन सह विजने किं मन्त्रयंस्तिष्ठति । (३७)

(यह कह कर दोनों उतरती हैं ।)

(३६) प्रथमोदितः पूर्वप्रकाटितः, कौमुदीम् चन्द्रिकाम् । (कौ मोदन्ते जना यस्यां तेनासौ कौमुदी स्मृता ।)

चित्र०—(राजा को देखकर हर्ष के साथ) *सखि ! यह देखो, महाराज तुम्हारी इस प्रकार प्रतीक्षा कर रहे हैं जिस प्रकार पहले उदय हुए भगवान् चन्द्रमा ज्योत्स्ना की प्रतीक्षा करते हैं ।*

उर्वशी–(देखकर) *सखि ! इस समय महाराज मुझे पहली वक्त के दर्शन से अधिक प्यारे मालूम होते हैं ।*

चित्र०—*ठीक है, तो आइये उनके समीप चलें ।*

(३७) उपसर्प्स्यामि समीपं गमिष्यामि तिरस्करिण्या–तिरस्कर्तुं शीलमस्याः इति तिरस्करीणी विद्याविशेषः तया, प्रच्छन्ना उन्तरिता । विजने एकान्ते ।

उर्वशी–*अभी उनके पास तो नहीं जाऊंगी, मगर तिरस्करिणी*

चित्रलेखा—(जधा दे रोअदि !)

यथा ते रोचते।

(उभे यथोक्तमनुतिष्ठतः।)

विदूषकः—(भो, चिन्तिदो मए दुल्लहप्पणइजणस्स समागमोवाओ।)

भोः, चिन्तितो मया दुर्लभप्रणयिजनस्य समागमोपायः।

(राजा तूष्णीमास्ते।)

उर्वशी—(का उण धण्णा इत्थिआ जा इमिणा पडिमुग्गमाणा अत्ताणअं विणोदेदि।)

का पुनर्धन्या स्त्री या अनेन परिमृग्यमाणात्मानं विनोदयति। (३८)

चित्रलेखा—(झाणस्स किं विलम्बीअदि।)

ध्यानाय किं विलम्ब्यते। (३९)

उर्वशी—(सहि, भीआमि सहसा पहावादो विण्णादुम्।)

सखि, बिभेमि सहसा प्रभावतो विज्ञातुम्।

विद्या से छिपकर उनके समीप जाकर सुनूंगी कि एकान्त में अपने निकटवर्ती मित्र के साथ क्या सलाह कर रहे हैं।

चित्र०—*जो तुझे अच्छा लगे, (वही कर)।*

(दोनों उसी प्रकार तिरस्करिणी विद्या से छिप जाती हैं।)

विदूषक—*मित्र ! मैंने उस दुर्लभ सुन्दरी के समागम का उपाय सोच लिया है।*

(राजा चुपचाप बैठा रहता है।)

(३८) धन्यास्त्री अत्युत्कटपुण्यवती, परिमृग्यमाणा अन्विष्यमाणा।

उर्वशी—*वह कौन सी धन्य स्त्री होगी, जिसको ये ढूंढते हैं और वह इन से अपने चित्त का विनोद (बहलाव) करती है।*

(३९) ध्यानेन सर्वं प्रत्यक्षंभवति, अतो ध्यानार्थं किं विलम्ब्यते ?

चित्र०—*सखि ! ध्यान के लिए क्यों विलम्ब करती हो ?*

उर्वशी—*सखि ! मैं सहसा दिव्य प्रभाव का प्रयोग करने से डरती हूं। अर्थात् ध्यान से विदित हो गया कि यदि महाराज किसी*

विदूषकः-(भो, णं भणामि चिन्तिदो मए दुल्लहपणइजणसमागमोवाओ।)

भोः, ननु भणामि चिन्तितो मया दुर्लभप्रणयिजनसमागमोपायः।

राजा—वयस्य ! कथ्यताम् ?

विदूषकः—(सिविणसमागमआरिणं णिद्दं सेवदु भवम्। अहवा तत्तभोदीए उव्वसीए पडिकिदिं चित्तफलए अहिलिहिअ आलोअन्तो अत्ताणअं विणोदेहि।)

स्वप्नसमागमकारिणीं निद्रां सेवतां भवान्। अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलकेऽभिलिख्यालोकयन्नात्मानं विनोदय।

उर्वशी—(सहर्षम्) (हीणसत्त हिअअ, समस्सस समस्सस।)

हीनसत्व हृदय ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि।

राजा—तदुभयमप्यनुपपन्नम्—

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्।
न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां
मम नयनयोरुद्बाष्पत्वं सखे ! न भविष्यति॥(४०)

अन्य स्त्रीके प्रेम में आसक्त हैं, तो मेरे प्राण न रहेंगे, इसलिए डर लगता है।

विदूषक—महाराज ! मैं निश्चय पूर्वक कहता हूं कि मैंने दुर्लभ सुन्दरी के समागम का उपाय सोच लिया है।

राजा—मित्र ! कहो वह कौन सा उपाय है ?

विदूषक—स्वप्न में समागम कराने वाली निद्रा का सेवन कीजिये अथवा किसी चित्रफलक (तख्ता पत्र आदि) पर उर्वशी की तसवीर (चित्र) खींचकर, उस की ओर देखते हुए अपने चित्र का विनोद (बहलाव) कीजिये।

उर्वशी-(हर्षके साथ) निर्बल हृदय ! धैर्य धारण कर, धैर्य धारण कर।

राजा—तुम्हारे बताए हुए दोनों उपाय नहीं हो सकते।

(४०) अन्वयः—हृदयमिति। सदा इदं हृदयं कामस्य इषुभिः अन्तः सशल्यम्, स्वप्ने समागमकारिणीं निद्रां कथम् उपलभे ? हे सखे ? आलेख्येऽपि सुवदानां तां प्रियाम् असमाप्य मम नयनयोः उद्बाष्पत्वं नच भविष्यतीति न ?

चित्रलेखा—(सहि, सुदं तुए वअणम् ।)

सखि, श्रुतं त्वया वचनम् ?

उर्वशी–(सुदम् । ण उण पज्जत्तं हिअअस्स ।)

श्रुतम् । न पुनः पर्याप्तं हृदयस्य ।

च० टी०—सदा इदं मदीयं हृदयं मनः कामस्य मदनस्य इषुभिः बाणैः अन्तः अन्तःकरणम् सशल्यम् सशराग्रम्, कामेन यदा स्वशरा मम हृदये निखातास्तदानीं तच्छराग्रवर्तिलोहफलकम् तीक्ष्णाग्रं हृदयमध्य एवातिष्ठत् तदिदानीं सूचीवद् भिन्दद् व्यथयति इति भावः। सव्यथम् इतिवा । अतः स्वप्ने शयनावस्थायां समागमकारिणीं सम्बन्धविधायिकां निद्रां कथम् उपलभे केनप्रकारेण प्राप्नोमि । नहि सव्यथान्तःकरणस्य निद्रागमनम् क्वचिद्घटत इतिभावः हे सखे! आलेख्ये चित्रेऽपि सुवदनां चारुमुखीं ताम् प्रियाम् असमाप्य सम्पूर्णमनालिख्य, साकल्येन तच्चित्रालेखनात् प्रागेवेत्यर्थः, मम नयनयोः नेत्रयोः उद्बाष्पत्वं उद्गतवाष्पत्वं न च भविष्यतीति न, अपितु भविष्यत्येव । चित्रनिर्माणसमयेऽपि मम नेत्रे वाष्पावरुद्धे भविष्यतः अतश्चित्रेऽपि तस्याः समागमो न सुलभः । हरिणीवृत्तम्—"रसयुगहयैन्सौ म्रौस्लौ गो यदा हरिणी तदा" इतिलक्षणात् ।

हि० टी०—सदैव मेरा चित्त कामदेव के बाणों से पीड़ित रहता है, इस लिये मैं समागम कराने वाली निद्रा को भी प्राप्त नहीं कर सकता । अर्थात् जिसके हृदय में काम के बाण आर पार हो गये हों, और उसको जब नींद ही असम्भव हो तो स्वप्न का कहना ही क्या है । हे मित्र ! क्या उस प्राण प्यारी के चित्र को खींचते हुए मेरे नेत्र आंसुओं से नहीं भर जाएंगे ? अवश्यमेव । इसलिए चित्र में भी उस सुन्दरी का दर्शन सर्वथा दुर्लभ है ।

चित्र०—सखि ! सुना तैंने महाराज ने क्या कहा ?

उर्वशी—बहन ! सुना तो है मगर अभी हृदय को पूर्णतया सन्तोष नहीं हुआ है ।

विदूषकः—(एत्तिओ मे मदिविहओ।)
एतावान्मम मतिविभवः।
राजा—(सनिःश्वासम्)

नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मानसीं
प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वापि माम्।
अलब्धफलनीरसं मम विधाय तस्मिञ्जने
समागममनोरथं भवतु पञ्चबाणः कृती। (४१)

विदूषक—*मेरी बुद्धि की शक्ति यहीं तक है, अर्थात् मैं और कुछ नहीं सोच सकता।*

राजा—(गहरी सांस लेकर)

(४१) अन्वयः—नितान्तेति। सा मम नितान्तकठिनां मानसीं रुजं न वेद, अपि वा प्रभावविदितानुरागम् माम् अवमन्यते, पञ्चबाणः तस्मिञ्जने मम समागममनोरथम् अलब्धफलनीरसं विधाय कृती भवतु।

च० टी०–सा उर्वशी मम पुरूरवसः नितान्तकठिनां नितान्तम् अतिशयेन कठिनां दुःसहां मानसीं मनोगतां रुजं पीडां न वेद न जानाति, अपि वा अथवा प्रभावेति—प्रभावेन निजदैवशक्त्या विदितः ज्ञातः अनुरागः प्रेम यस्य तादृशं माम् राजानं पुरूरवसम् अवमन्यते अवगणयति। देवाङ्गनाया मम मानुषानुरागोऽनुचित इत्याशयेनेतिभावः। पञ्चबाणः कामः तस्मिन् जने उर्वश्यां मम समागममनोरथं समागमस्याभिलाषं अलब्धफलनीरसम् अलब्धम् अप्राप्तं यत्फलं तेन फलाप्राप्त्येत्यर्थः नीरसं निःसारं विधाय कृत्वा कृती कुशलो भवतु। 'अवद्धफलनीरसम्' इति पाठेतु—न वद्धं सम्पादितं फलं येन स चासौ नीरसश्च। फलाभावे तु मरणमेव शरणमिति-भावः। दुर्लभसमागमं जनं प्रति आसक्तिं जनयन् मां दहतु, पीड़यतु कृतकृत्यश्चभवत्विति भावः। एतेन ह्रीत्यागोन्मादरूपा कामदशा प्रकटिता। पृथ्वी छन्दः–"जसौ जस यला वसु ग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः" इति लक्षणात्।

हि० टी०—*मित्र! वह सुन्दरी उर्वशी मेरे हृदय की अत्यन्त*

चित्रलेखा—(सुदं तुए)

श्रुतं त्वया ?

उर्वशी—(अह्मी अह्मी, मं वि एव्वं अवगच्छदि । सहि, असमत्थम्हि अग्गदो भविअ अत्ताणअं दंसिदुम् । ता पहावणिम्मिदेण भुज्जवत्तेण लेहं सम्पादिअ अन्तरा खिविदुमिस्सामि ।)

हा धिक् हा धिक् । मामप्येवमवगच्छति । सखि, असमर्थास्म्यग्रतो भूत्वात्मानं दर्शयितुम् । तत्प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण लेखं सम्पाद्यान्तरा क्षेप्तुमिच्छामि । (४२)

चित्र०—(अणुमदं मे)

अनुमतं मे । (**उर्वशी नाट्येनाभिलिख्य क्षिपति**)।

विदूषकः—(अविद अविद भो; किं णु एदम् । भुअङ्गणिम्मोओ किं मं खादिदुं णिवडिदो ।)

अविदाविद भोः, किं न्वेतत् । भुजङ्गनिर्मोकः किं मां खादितुं निपतितः । (४३)

कठिन पीड़ा को नहीं जानती, अथवा दैविक शक्ति से जान बूझ कर भी मेरा अपमान कर रही है । मित्र ! कामदेव उस सुन्दरी के समागमरूप फल से मुझे वञ्चित करके अपने आप को कृतकृत्य करे ।

चित्र०—*सुना तूने ?*

(४२) अवगच्छति जानाति, प्रभावनिर्मितेन दैवशक्तिविहितेन, अन्तरा मध्ये।

उर्वशी—*हाय ! धिक्कार है ! धिक्कार है !! महाराज मुझे भी ऐसी समझते हैं । सखि ! अभी मैं उनके सामने प्रकट होने के लिए असमर्थ हूं । इसलिए दैविक प्रभाव से भूर्जपत्र पर अक्षर लिखकर उनके बीच में फेंकना चाहती हूं ।*

चित्र०—*मेरी भी यही सम्मति है ।*

(उर्वशी नाट्य द्वारा पत्र लिखकर फेंकती है ।)

(४३) अविदेति सम्भ्रमं अदृष्टाश्रुतप्राप्तौ, भुजङ्गनिर्मोकः सर्पत्वक् । "समौ कञ्चुकनिर्मोकौ" इति किमपि ।

राजा–(दृष्ट्वा) नायं भुजङ्गनिर्मोकः । भूर्जपत्रगतोऽयमक्षरविन्यासः ।

विदूषकः—(णं क्खु अदिट्ठाण उव्वसीए भवदो परिदेविअं सुणिअ भुज्जवत्त अणुराअसूअआ अक्खरा अहिलिहिअ विसज्जिआइं भवे ।)

ननु खलु अदृष्ट्या उर्वश्या भवतः परिदेवितं श्रुत्वा भूर्जपत्रेऽनुरागसूचकान्यक्षराणि अभिलिख्य विसर्जितानि भवेयुः । (४४)

राजा–नास्त्यगतिर्मनोरथानाम् । (गृहीत्वानुवाच्य च सहर्षम् ।) सखे, प्रसन्नस्ते तर्कः ।

विदूषकः—(जं एत्थ अहिलिहिदं तं सुणिदुं इच्छामि ।)

यदत्राभिलिखितं तच्छ्रोतुमिच्छामि ।

उर्वशी–(साहु साहु । अज्ज णाअरो सि ।)

साधु साधु । आर्य ! नागरोऽसि ।

राजा—श्रूयताम् । (इति वाचयति ।)

विदूषक—*अहो ! बड़े आश्चर्य की बात है, यह क्या चीज है ? क्या यह सांप की केंचुली मुझे खाने के लिए गिरी है ।*

राजा—(देखकर) भाई डरो नहीं, यह सांप की केंचुली नहीं है । भूर्जपत्र पर कुछ अक्षर से लिखे हुए हैं ।

(४४) अदृष्टया प्रच्छन्नया, परिदेवितं श्रुत्वा विलापं श्रुत्वा, अनुरागसूचकानि प्रेमाभिव्यञ्जकानि, विसर्जितानि पातितानि ।

विदूषक—*निःसन्देह उर्वशी ने तुम्हारे विलाप को सुनकर गुप्त रीति से इस भूर्जपत्र पर प्रेम को प्रकट करने वाले अक्षरों को लिखकर यह पत्र फेंक दिया होगा ।*

राजा–*सौभाग्य से सब कुछ हो सकता है ।* (पत्र को पढ़कर हर्ष के साथ) *मित्र ! तुम्हारा अनुमान ठीक है ।*

विदूषक—*मित्र ! इस पत्र में जो कुछ लिखा है मैं उसे सुनना चाहता हूं ।*

उर्वशी–*ठीक है, ठीक है । आर्य ! सचमुच तुम चतुर मनुष्य हो ।*

राजा—*सुनो* (यह कहकर पत्र पढ़ता है ।)

(सामिअ संभाविदआ जह अहं तुए अमुणिआ
तह अ अणुरत्तस्स सुहअ एअमेअ तुह ।
णवरि अ मे ललिअपारिआअसअणिज्जम्मि
होन्ति सुहा णन्दणवणवाआ वि सिहि व्व सरीरे ॥)

स्वामिन् संभाविता यथाहं त्वयाज्ञात्री
तथा चानुरक्तस्य सुभग एवमेव तव ।
अनन्तरं च मे ललितपारिजातशयनीये
भवन्ति सुखा नन्दनवनवाता अपि शिखीव शरीरे ॥(४५

(४५) अन्वयः—स्वामिन्निति । हे स्वामिन् ! त्वया अहं यथा अज्ञात्री संभाविता तथा च, हे सुभग ! अनुरक्तस्य तव एवमेव । अनन्तरं च मे ललितपारिजातशयनीये सुखा अपि नन्दनवनवाताः शरीरे शिखी इव भवन्ति ।

च० टी०-हे स्वामिन् ! हे पते ! त्वया मदनपीडितेन "नितान्तकठिनां रुजम्" इत्यादि श्लोकेन यथा अहम् अज्ञात्री निजपीडामजानाना संभाविता निर्णीता, तथा च यत्त्वया सभावितं तत्तथैवेत्यर्थः । त्वदनुरागाज्ञानवत्येवास्मीति भावः । हे सुभग ! हे सुन्दर ! अनुरक्तस्य अनुरागवतः तव एवमेव उचितमेवैतदस्तीति भावः । अनुरागवतः सर्वस्यापि जनस्य एवमेवानुमानं भवतीति तात्पर्य्यम् । अनन्तरं च तवैतादृगवस्थाज्ञानोत्तरं तु मे मम ललितपारिजातशयनीये ललितं शीतलतादिनातिरमणीयं पारिजातस्येमानि कुसुमपल्लवानि तदीयं यच्छयनीयं तस्मिं कोमलपारिजातकुसुमशय्यायामपीति भावः । सुखाः सुखरूपा अपि नन्दनवनवाता इन्द्रोपवनवायवः शरीरे शिखीव अग्निसमा भवन्ति । 'स्वामिन्' एतत् सम्बोधनपदेनैव व्यक्तीभूतमिङ्गितम् । स्वाङ्गदानप्रकटने हि नारीणांस्वामीतिपदात् अन्यत्किमपि नास्ति प्रयोक्तव्यम् । हे स्वामिन् यथाहं त्वयाज्ञात्री संभाविता अनुरक्तस्य तवापि तथैव अज्ञानत्वमस्तीतिवार्थः । यतः खलु त्वमपि स्वाधीनः, प्रथमदिनेच्च मदभिप्रायंसम्यगज्ञासीः स्वर्गारोहणपट्टश्चभवानासीत्तथापि मम समीपे कथंनागतः । उद्दीपनविभावः ।

हि० टी०—हे मेरे हृदय के स्वामी ! आपने जो मुझे अनजान बताया है । वह ठीक ही है । क्योंकि प्रेमीजनों का यही अनु-

उर्वशी—(किं नु संपदं भणिस्सदि)

किं नु साम्प्रतं भणिष्यति

चित्रलेखा—(किं णु । भणिदं एव्व एदेण मलाणकमलणालोवमेहिं अङ्ग हिं ।)

किं नु भणितमेवैतेन म्लानकमलनालोपमैरङ्गैः ।

विदूषकः—(दिट्ठिआ मए क्खु वुभुक्खिदेण सोत्थिवाअणिअ विअ लद्धं भवदो समस्सासणकारणम् ।)

दिष्ट्या मया खलु बुभुक्षितेन स्वस्तिवाचनकमिव लब्धं भवतः समाश्वासनकारणम् ।

राजा—**समाश्वासनमिति किमुच्यते ?**

तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थबन्धं
पत्रे निवेशितमुदाहरणं प्रियायाः ।
उत्पक्ष्मलं मम सखे, मदिरेक्षणाया-
स्तस्याः समागतमिवाननमाननेन ॥ (४६)

मान हुआ करता है, अर्थात् वे बेवश होकर ऐसा कहते हैं । मगर यदि मैं सचमुच आपके प्रेम को न जानती तो कोमल पारिजात के फूलों वाले शयन में, नन्दनवन की सुख देने वाली हवायें मेरे शरीर को आग के समान न लगतीं ।

उर्वशी—*सखि ! देखें अब क्या कहते हैं ?*

चित्र०—*बहन ! देखना क्या है । मलीन कमल की नाल के समान अङ्गों से महाराज अपने हृदय की अवस्था को प्रकट कर रहे हैं ।*

विदूषक—*जिस प्रकार भूख में थोड़े से भोजन से मैं गुजारा कर लेता हूं उसी प्रकार मेरे अहोभाग्य से आप को कुछ दिलासा मिल गया है ।*

राजा—*इसे कुछ सन्तोष ही क्यों कहते हो ।*

(४६) **अन्वय**—तुल्येति । सखे ! तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थबन्धं पत्रे निवेशितं प्रियायाः उदाहरणम् मम उत्पक्ष्मलम् आननम् मदिरेक्षणायाः तस्याः आननेन समागतम् इव ।

उर्वशी—(एत्थ णो समभाआ मदी ।)

अत्रावयोः समभागा मतिः ।

राजा—वयस्य ! अंगुलीस्वेदेन मे लुप्यन्तेऽक्षराणि । धार्यतामयं स्वहस्ते निक्षेपः प्रियायाः (४७)

च० टी०—हे सखे ! तुल्यानुरागस्य समानप्रेम्णः पिशुनम् सूचकम् ललितार्थबन्धं ललितः मधुरः अर्थः अभिधेयः बन्धः शब्दसन्निवेशः यत्र तादृशं पत्रे निवेशितं प्रियायाः उर्वश्याः उदाहरणम् उक्तिः अवस्थानुकूलवृतान्तो वा मम उत्पक्ष्मलम् उद्गतरोमाञ्चम्, आननम्-मुखम्, आननेन मदिरेक्षणायाः हृष्टनयनायाः तस्याः आननेन समागतम् मिलितमिव पत्रे तदुक्तिमात्रनिवेशनमात्रेणैव ममाननं तस्या आननेन मिलितमित्युत्प्रेक्षा । "पिशुनौ खलसूचकौ" इत्यमरः । उत्पक्ष्मलेति विशेषणं विभक्तिविपरिणामेनात्रयोज्यम् । तदुक्तेर्मन्मुखोच्चारितत्वात् तन्मुखेन मन्मुखस्य सङ्गतिः उत्पक्ष्मलताच । मन्मुखे तन्मुखसङ्गत्या तस्याः हर्षातिशयात् उत्पक्ष्मलत्वम्, लज्जया मदिरेक्षणता च । प्रियतमायां यत् यत् आकांक्ष्यते तत् सर्वमत्रापि अस्ति इति प्रियापदोल्लेखः सार्थकितः । वसन्ततिलका वृत्तम्—"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगागः" इति लक्षणात् ।

हि० टी०—तुल्य प्रेम को प्रकट करने वाले, जिसकी रचना और अर्थ दोनों मनोहर हैं, प्यारी उर्वशी के पत्र में लिखे हुए वृत्तान्त से, हे मित्र ! मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो प्यारी का मुख मेरे मुख से मिल गया है ।

उर्वशी—सखि ! इसमें हम दोनों की एकसी बुद्धि है ।

(४७) अंगुलीस्वेदेन अंगुलीघर्मेण—"घर्मो निदाघः स्वेदः स्यात्" इत्यमरः निक्षेपः "थाती" इति भाषायाम् ।

राजा—मित्र ! मेरी अंगुली के पसीने से अक्षर बुझ रहे हैं, इसलिए प्यारी की "अमानत" तुम अपने हाथ में हिफाजत से रखो।

विदूषकः—(गृहीत्वा) (तदो किं तत्तभोदी उव्वसी भवदो मणोरहतरुकुसुमं दंसिअ फले बिसंवदिस्सदि)

ततः किं तत्रभवत्युर्वशी भवतो मनोरथतरुकुसुमं दर्शयित्वा फले विसंवदिष्यति । (४८)

उर्वशी—(हला, जाव उवत्थाणकादरं अत्ताणअं समवत्थावेमि, ताव तुमं अत्ताणअं दंसिअ जं मे अणुमदं तं भणाहि ।)

सखि, यावदुपस्थानकातरमात्मानं समवस्थापयामि, तावत्त्वमात्मानं दर्शयित्वा यन्मेऽनुमतं तद्भण ? (४९)

चित्रलेखा–तहा।(**इति तिरस्करिणीमपनीय राजानमुपसृत्य।**) जेदु जेदु महाराओ ।

तथा । जयतु जयतु महाराजः ।

राजा—(संभ्रमादरगर्भम्) **स्वागतं भवत्यै** । (पार्श्वमवलोक्य ।) **भद्रे**–

---

(४८) विसंवदिष्यति विप्रलम्भयिष्यति "विप्रलम्भो विसंवादः" इत्यमरः ।

विदूषक––(लेकर) तो क्या उर्वशी आप के मनोरथ के वृक्ष में फूल दिखाकर फल के लिए तुम्हें धोखा देगी ?

(४९) उपस्थानाय सेवार्थं समीपगमनाय कातरं राज्ञः समीपगमनाय अधीरमात्मानं समवस्थापयामि स्थैर्यं नयामि तावत्त्वं प्रकाशीभूय मदनुमतं कथय । राजोक्तिश्रवणेन निरुत्तरया अप्रकाशितया च क्षणमपि स्थातुमशक्यम् । अतस्त्वं शीघ्रं गत्वा मदनुमतं ब्रूहि मा विलम्बस्व । प्रियसमक्षं प्रथममिलनकाले स्त्रीणां स्वत एव स्वस्य प्रकाशनं स्त्रीस्वभावविरुद्धम् । अतो हि सखीप्रेषणम्—"दूतीसंप्रेषणैर्नार्या भावाभिव्यक्तिरिष्यते" इति दर्पणकार निर्देशात् ।

उर्वशी––चित्रलेखा ! महाराज के सम्मुख प्रकट होने के लिए धड़कते हुए अपने हृदय को मैं जब तक स्थिर करती हूं, तब तक तू उनके सामने जाकर मेरे विषय में जो उचितहो, वह कह ।

चित्र०–बहुत अच्छा । (यह कहकर चित्रलेखा ने तिरस्करिणी को दूर कर, राजा के सामने जाकर कहा) जय हो महाराज की जय हो ।

राजा—(अचानक चित्रलेखा को देखकर आदर के साथ) श्रीमति ! तुम्हारा स्वागत हो । (उसके चारों ओर देखकर

न तथा नन्दयसि मां सख्या विरहिता तया ।
संगमे दृष्टपूर्वेव यमुना गङ्गया यथा ॥ (५०)

चित्रलेखा—(णं पढमं मेहराई दीसदि पच्छा विज्जुल्लदा ।)
ननु प्रथमं मेघराजिर्दृश्यते, पश्चाद्विद्युल्लता ।

विदूषक—(अपवार्य) (कहं ण एसा उव्वसी उवगदा । तत्तभोदीए उव्वसीए सह अरीए एदाए होदव्वम् ।)
कथं नैषोर्वश्युपगता । तत्र भवत्या उर्वश्याः सहचर्यैतया भवितव्यम् ।

---

(५०) अन्वयः—न तथेति । यथा सङ्गमे (गङ्गया सह) दृष्टपूर्वा (इव) गङ्गया विरहिता यमुना (न नन्दयति) तथा तया सख्या विरहिता (त्वम्) मां न नन्दयसि ।

च० टी०—यथा सङ्गमे-समागमे सहावस्थाने इति यावत् पक्षे (गङ्गायमुनायोः समागमे प्रयागतीर्थे) (गङ्गया सह) दृष्टपूर्वा पूर्वं-दृष्टा यमुना कालिन्दी इतरत्र गङ्गया-भागीरथ्या विरहिता न नन्दयति-न सुखीकरोति, तथा (इदानीम्) तया सख्या उर्वश्या विरहिता शून्या त्वं मां (पुरूरवसम्) न नन्दयसि संतोषयसि । गङ्गायमुने इव भवत्यावपि सङ्गते एव नन्दयत इति भावः । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०—जो पुरुष पहले संगमतीर्थ (प्रयाग) में गङ्गा यमुना के संगम को देख चुका हो उस पुरुष को जिस प्रकार गङ्गा रहित यमुना आनन्दित नहीं करती उसी प्रकार उर्वशी रहित तुम भी मुझे आनन्दित नहीं करते । अर्थात् गङ्गा यमुना की तरह तुम दोनों भी मिलकर ही आनन्द के हेतु हो ।

चित्र०—राजन् ! निःसन्देह पहले मेघों की पंक्ति दीखती है, पीछे बिजली अर्थात् (पहले मैं उपस्थित हुई हूं, पीछे, उर्वशी भी उपस्थित होजायगी ।)

विदूषक–(घूमकर दूसरे की तरफ मुंह करके) तो क्या यह उर्वशी नहीं है । हां ठीक है यह उर्वशी की सखी होगी ।

राजा—एतदासनमास्यताम् ।

चित्रलेखा—(उव्वसी महाराअं सिरसा पणमिअ विण्णवेदि ।)

उर्वशी महाराजं शिरसा प्रणम्य विज्ञापयति ।

राजा—किमाज्ञापयति ?

चित्रलेखा—(मम तस्सिं सुरारिसंभवे दुण्णए महाराओ एव्व सरणं आसी । संपदं सा अहं तुह दंसणसमुत्थेण आआसिणा वालअं बाधिअमाणा मअणेण पुणो वि महाराअस्स अणुकम्पणीआ होमि ।)

मम तस्मिन्सुरारिसम्भवे दुर्नये महाराज एव शरणमासीत् । साम्प्रतं साहं तव दर्शनसमुत्थेनायासिना बलवद्बाध्यमाना मदनेन पुनरपि महाराजस्यानुकम्पनीया भवामि । (५१)

राजा—अयि सखि !

पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां ता-
मार्तिं न पश्यसि पुरूरवसस्तदार्थाम् ।

राजा—यह आसन है, इस पर बैठ जाइये ।

चित्र०—राजन् ! उर्वशी आपको प्रणाम करके निवेदन करती है ।

राजा—क्या आज्ञा देती हैं ?

(५१) पुरा खलु त्वयाहं दानवहस्तात् रक्षिता, इदानीं पुनः त्वद्दर्शनसमुत्थेन, दानवाधिककष्टप्रदेन, बलवद्बाध्यमानत्वात् मदनेनाहं क्लिश्यमानास्मि त्वया च पूर्ववद्रक्षणीयेत्यर्थः ।

चित्र०—महाराज ! देवशत्रु राक्षसों ने जब मुझे पकड़ लिया था तो, केवल आप हीं मेरे रक्षक थे। इस वक्त आपके ही दर्शनों से उत्पन्न हुए, राक्षसों से भी अधिक कष्ट देने वाले कामदेव से मैं दुखित हो रही हूं, इसलिए आप फिर मुझ पर दया करें। अर्थात् विरह की अग्नि से जलते हुए मेरे हृदय को अपने प्रेम के जल से शान्त करें।

राजा—हे सखि !

साधारणोऽयमुभयोः प्रणयो यतस्व
तां कौमुदीमिव समागमयेन्दुबिम्बे ॥ (५२)

चित्रलेखा—(**उर्वशीमुपेत्य**) (हला, इदो एहि । णिभुअदरं भीसणं मअणं पेक्खिअ पिअदमस्स दे दूदिम्हि संवुत्ता ।)

सखि ! इत एहि । निभृततरं भीषणं मदनं प्रेक्ष्य प्रियतमस्य ते दूत्यस्मि संवृत्ता ।

---

(५२) **अन्वयः**–पर्युत्सुकामिति । प्रियदर्शनां तां पर्य्युत्सुकां कथयसि, तदर्थां पुरूरवसः आर्तिं न पश्यसि, अयं उभयोः साधारणः प्रणयः, यतस्व कौमुदीम् इन्दुबिम्बे इव (मयि) तां समागमय ।

च० टी०–प्रियदर्शनाम्-मनोहारिरूपाम्, ताम्–उर्वशीम्, (मयि) पर्युत्सुकाम् उत्कण्ठितां कथयसि तदर्थां तस्याः उर्वश्याः कृते पुरूरवसः मम आर्तिं पीड़ां न पश्यसि? पश्यस्येवेति काकूक्तिः। अथवा अयि पक्षपातिनि ! त्वत्सखीकृतां मम इमां पीड़ां न पश्यसि केवलं तस्या उत्सुकतामेव भाषसे। उभयोः आवयोः (उर्वशीपुरूरवसोः) प्रणयः स्नेहः साधारणः, यथा मम तस्यां, तथा तस्याः अपि मयीति भावः। अतो यतस्व यत्नं कुरुष्व, समागमायेति शेषः। कौमुदीं ज्योत्स्नाम् इन्दुबिम्बे चन्द्रमण्डले इव (मयि) तां समागमय मया सह तस्याः सङ्गमं कारय "तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम्" इति पाठेतु तप्तेनायसा घटनाय तप्तमेवयोग्यमितिलोकोक्तिः, अतोऽप्यावयोः मेलनं सुकरम्। झटिति च त्वया मेलनप्रयत्नो विधेयः। वसन्ततिलका छन्दः।

हि० टी०—हे सखि ! तुम अपनी प्यारी सखी को उत्सुक अवश्य बताती हो, मगर उसके लिए पुरूरवा के दुख को नहीं देखती सच तो यह है कि हम दोनों का प्रेम बराबर है, तुम यत्न करो, और चन्द्र मण्डल में चान्द्रिका की तरह उसको मेरे साथ मिला दो।

चित्र०—(**उर्वशी के पास जाकर**) सखि ! इधर आओ, अति गुप्त और भयानक कामदेव को देखकर मैं ही तुम्हारे प्यारे की दूती बनी हूं।

उर्वशी–(तिरस्करिणीमपनीय) (अयि, अणवत्थिदे, लहु एव्व तुए परिच्चत्ताम्हि ।)

अयि अनवस्थिते, लघ्वेव त्वया परित्यक्तास्मि ।

चित्रलेखा—(सस्मितम्) (एदस्सिं मुहुत्ते जाणिस्सामो को कं तजिस्सदित्ति । आअरं दाव पडिवज्ज ।)

एतस्मिन्मुहूर्ते ज्ञास्यामः कः कं त्यक्ष्यतीति । आकारं तावत्प्रतिपद्यस्व ।

उर्वशी—(ससाध्वसमुपसृत्य सव्रीडम्) जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

राजा—(सहर्षम्) सुन्दरि !

मया नाम जितं यस्य त्वयायं समुदीर्यते ।
जयशब्दः सहस्राक्षादागतः पुरुषान्तरम् ॥ (५३)

उर्वशी—(तिरस्करिणी को हटाकर) हे डरपोक सखि ! तूने तो मुझे बहुत जल्दी ही छोड़ दिया है । अर्थात् राजा के वचन मात्र से तू मुझे छोड़ उनके पक्ष में चली गई है ।

चित्र०—(हंसी के साथ) इसी समय मालूम हो जाएगा कि कौन किसको छोड़ती है । अब तू अपनी आकृति (स्वरूप) को प्राप्त होजा । अर्थात् उनके सामने यथोचित शिष्टाचार का ध्यान रखना ।

उर्वशी—(कांपती हुई राजा के पास जाकर लज्जा से) जय हो महाराज की जय हो ।

राजा—(हर्ष के साथ) सुन्दरि !

(५३) अन्वयः—मयेति । सहस्राक्षात् पुरुषान्तरमागतः अयं जयशब्दः यस्य (कृते) त्वया समुदीर्यते, (तेन) मया जितम् ।

च० टी०—सहस्राक्षात् इन्द्रात् पुरुषान्तरम् मयीति भावः आगतः प्राप्तः अयं जयशब्दः त्वया उर्वश्या यस्य कृते यस्मै (पुरूरवसे) समुदीर्यते सम्यगुच्चार्यते । तेन मया पुरूरवसा जितं नाम सर्वोत्कर्षशालिना अस्मि । जयशब्दः उत्कर्षसूचकः पूर्वं त्वयं जयशब्दः

(हस्ते गृहीत्वा आसन उपवेशयति ।)

विदूषकः–(कीदिसी थिदी भोदीए रज्जे। पिअवअस्सो वम्हणो ण वन्दीअदि।)

कीदृशी स्थितिर्भवदीये राज्ये। प्रियवयस्यो ब्राह्मणो न वन्द्यते।

(उर्वशी सस्मितं प्रणमति ।)

विदूषकः—(सांत्थि भोदीए ।)

स्वस्ति भवत्यै ।

देवदूतः—चित्रलेखे, त्वरयोर्वशीम् ।

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो
भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता
मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥ (५४)

त्वदुक्तः केवलम् इन्द्र एवासीत् । परमिदानीं मल्लक्षणे पुरुषान्तरेऽपि जातः । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०—*सुन्दरि ! निःसन्देह मेरी जय है, क्योंकि तुमने मेरे लिये जय शब्द का उच्चारण किया है, यह जय शब्द इन्द्र के अनन्तर पुरुष में प्राप्त हुवा है (अर्थात् आज से पहले यह जय शब्द इन्द्र के लिये ही प्रयुक्त होता था, परन्तु आज तुमने मेरे लिये भी इसका प्रयोग किया है ।)*

(राजा उर्वशी को हाथ से पकड़ कर आसन पर बैठाता है ।)

विदूषक—*तुम्हारे राज्य का क्या शिष्टाचार है ? जो राजा के प्रियमित्र ब्राह्मण को नमस्कार तक नहीं किया जाता ।*

(उर्वशी हंसी के साथ प्रणाम करती है ।)

विदूषक—*आपका कल्याण हो ।*

देवदूत—*चित्रलेखा ! उर्वशी को शीघ्र भेजो ।*

(५४) **अन्वयः**—मुनिनेति । मुनिना भरतेन भवतीषु यः अष्टरसाश्रयः प्रयोगः निबद्धः सलोकपालः मरुतां भर्ता अद्य तं ललिताभिनयं द्रष्टुमनाः अस्तीति शेषः ।

(सर्वे आकर्णयन्ति उर्वशी विषादं रूपयति ।)

चित्रलेखा–(सुदं तुए देवदूअस्स वअणम् । ता अणुजाणाहि महाराअम् ।)

श्रुतं त्वया देवदूतस्य वचनम् ? तदनुजानीहि महाराजम् ।

उर्वशी—(निःश्वस्य) (णत्थि मे वाआविहओ ।)

नास्ति मे वाग्विभवः ।

चित्रलेखा–(महाराअ, उव्वसी विण्णवेदि परवसो अअं जणो । महाराएण अब्भणुण्णादा इच्छामि देअंदअस्स अणवरद्धं अत्ताणअं कादुम् ।)

महाराज ! उर्वशी विज्ञापयति–परवशोऽयं जनः । महाराजेनाभ्यनुज्ञाता इच्छामि देवदेवस्यानपराद्धमात्मानं कर्तुम् । (५५)

च० टी०—मुनिना भरतेन तन्नामकेन नाट्यशास्त्रप्रवर्तकेन भवतीषु अप्सरःसु भवत् प्रभृतिभिरप्सरोभिराभिनेतुम्, यः अष्टरसाश्रयः शृङ्गाराद्यष्टरसात्मकः प्रयोगः प्रयुज्यत इति प्रयोगः लक्ष्मीस्वयंवराभिधानरूपकम् निबद्धः रचितः । सलोकपालः लोकपालैः सहितः मरुतां देवानां भर्ता स्वामी इन्द्र इति यावत्, अद्य तं प्रसिद्धं ललिताभिनयं ललितः अतिसुन्दरः अभिनयः अर्थव्यञ्जनं यत्र तं प्रबन्धम् द्रष्टुमनाः विलोकयितुकामः अस्ति, द्रष्टुमिच्छतीति तात्पर्यम् । नाट्याचार्यभरतप्रणीतं नवीनप्रबन्धं देवराजः लोकपालैः सहितः दिदृक्षत इति भावः । भवतीषु इति सप्तमी निमित्तार्थे । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ।

हि० टी०–*चित्रलेखा ! भरत मुनि ने तुम्हारे द्वारा अभिनय करने के लिये (तुम्हें पात्र मान कर) आठ रसों से युक्त जो नाटक बनाया है, उस सुन्दर भाव पूर्ण नाटक को कुवेरादि लोकपालों के साथ इन्द्र महाराज देखना चाहते हैं। इसलिए तुम्हें स्वर्ग में जाना चाहिए।*

(सब सुनते हैं, उर्वशी दुःख को अनुभव करती है ।)

चित्र०–*सखि ! तूने देवदूत की बात सुनी ? महाराज से विदा लो।*

उर्वशी—(सांस लेकर) मैं बोलने का ढंग नहीं जानती ।

(५५) अनपराद्धमात्मानं कर्तुम् आज्ञालङ्घनापराधरहितं कर्तुम् इति भावः ।

राजा—(कथं कथमपि वचनं संस्थाप्य) **नास्मि भवत्योरीश्वरनियोगपरिपन्थी । किं तु स्मर्तव्यस्त्वयं जनः ।** (५६)

(उर्वशी वियोगदुःखं रूपयित्वा राजानं पश्यन्ती सह सख्या निष्क्रान्ता ।)

राजा—(सनिःश्वासम्) **वैयर्थ्यमिव चक्षुषः सम्प्रति ।**

विदूषकः—(पत्रं दर्शयितुकामः) [णं भुज्ज–(इत्यर्धोक्तेनात्मगतम्) अविद अविद भो, उव्वसीदंसणविम्हिदेण मए तं भुज्जवत्तं पब्भट्टं वि हत्तादो ण विण्णादम् ।]

ननु भूर्ज–हा धिक् हा धिक् भोः, उर्वशीदर्शनविस्मितेन मया तद्भूर्जपत्रं प्रभ्रष्टमपि हस्तान्न विज्ञातम् ।

राजा—**किमसि वक्तुकामः ?**

चित्र०—*महाराज ! उर्वशी आप से निवेदन करती है कि—मैं पराधीन हूं । देवराज इन्द्र मेरे ऊपर क्रुद्ध न हो जांय, इस लिए मैं आप से विदा मांगना चाहती हूं ।*

(५६) संस्थाप्य स्थिरीकृत्य, ईश्वरनियोगपरिपन्थी ईश्वरस्य इन्द्रस्य नियोगस्य आज्ञायाः परिपन्थी विरोधी, स्मर्तव्यस्त्वयंजनः नायं जनः विस्मरणीयः ।

राजा—(किसी प्रकार अपने वचन को संभाल कर) *मैं आप के स्वामी देवराज की आज्ञा का विरोध नहीं करता मगर इस दास को याद रखना ।*

(उर्वशी वियोग के दुःख से दुःखित होती हुई राजा को देखती हुई सखी के साथ चली गई ।)

राजा—(एक ठण्डी सांस लेकर) *अब तो आंखें निरर्थक सी हैं ।*

विदूषक—(पत्र दिखाना चाहता है ।) *निःसन्देह भूर्ज···* **(ऐसा आधा कह कर मन ही मन)** *हाय ! धिक्कार है ! धिक्कार है !! अरे ! उर्वशी के रूप को देखकर मैंने विस्मित होकर, हाथ से गिरते हुए भी उस भूर्ज पत्र को नहीं जाना ।*

राजा—*क्या कहना चाहते हो ?*

विदूषकः—(वअस्स, एम्हि वत्तुकामो । मा भवं अङ्गाइं विमुञ्चदु । दिढं क्खु तुई बद्धभावा उव्वसी । ण सा इदो गदुअ एदं अणुवन्धं सिढ़िलीकरेदि ।)•

वयस्य, एतदस्मि वक्तुकामः, मा भवानङ्गानि विमुञ्चतु । दृढं खलु त्वयि बद्धभावा उर्वशी । न सा इतो गत्वा एनमनुबन्धं शिथिलीकरोति । (५७)

राजा—ममाप्येतदेव मनसि वर्तते । तया खलु प्रस्थाने—

अनीशया शरीरस्य हृदयं स्ववशं मयि ।
स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैर्न्यस्तं निःश्वसितैरिव ॥ (५८)

---

(५७) बद्धभावा आसक्तरतिः सञ्जातपूर्वरागा इत्यर्थः, अनुबन्धम् आसक्तिम् न शिथिलीकरोति न श्लथयिष्यति, क्षीणानुरागा न भविष्यतीत्यर्थः ।

विदूषक—मित्र ! मैं यह कहना चाहता हूं कि आप हाथ, पांव न छोड़ें (निराश न हों) उर्वशी का आप के ऊपर दृढ़ अनुराग है । वह इस अनुराग (प्रेम) बन्धन को ढीला न करेगी ।

राजा—मेरा भी यही विचार है । उसने जाते समय—

(५८) अन्वयः—अनीशयेति । शरीरस्य अनीशया स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैः निःश्वसितैः स्ववशं हृदयं मयि न्यस्तमिव ।

च० टी०-शरीरस्य स्वस्य देहस्य अनीशया स्वामिन आदेशात् कुत्राप्यन्यत्र स्थातुमसमर्थया इन्द्राधीनत्वादितिभावः । एवं भूतया तया उर्वश्या स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैः स्तनयोः पयोधरयोः कम्पः उच्छ्वासः स एव क्रिया तया लक्ष्यैः सूचितैः निःश्वसितैः (करणैः) स्ववशं निजायत्तं स्वाधीनमितियावत् हृदयं मयि पुरूरवसि न्यस्तमिव मम हस्ते अर्पितमिव । जड़ीभूतदेहविषये पराधीनत्वात् असमर्थया तया स्ववशं हृदयं मम हस्ते अर्पितमिवेति निष्कर्षः । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०—यद्यपि उर्वशी का शरीर अपने स्वामी (इन्द्र) के वश में होने से पराधीन था तथापि सांस लेती वक्ष कांपते हुए उसके स्तनों से प्रतीत होता था कि मानो उसने अपना स्वाधीन हृदय मेरे हाथ में समर्पण कर दिया हो ।

विदूषकः–(स्वगतम्)(वेवदि मे हिअअं केत्तिए वेलाए तस्स भुञ्जवत्तस्स अत्तभवदा वअस्सेण णामं गेण्हिदव्वं त्ति।)

वेपते मे हृदयं, कस्यां वेलायां तस्य भूर्जपत्रस्यात्रभवता वयस्येन नाम ग्राह्यमिति।

राजा—**वयस्य! केनेदानीमुन्मनसमात्मानं विनोदयामि।** (स्मृत्वा) **उपनय भूर्जपत्रम्।**

विदूषकः—[(**सर्वतोदृष्ट्वा सविषादम्।**) हा कहं ण दिस्सदि। भो, दिव्वं क्खु तं भुञ्जवत्तं गदं उव्वसीमग्गेण।]

हा कथं न दृश्यते। भोः, दिव्यं खलु तद्भूर्जपत्रं गतमुर्वशीमार्गेण।

राजा–(सासूयम्) **सर्वत्र प्रमादी वैधेयः। (५९)**

विदूषकः–[णं विचिणु (**उत्थाय।**) इदो भवे। एत्थ वा भवे।]

ननु विचिनुहि। इतो भवेत्। अत्र वा भवेत्।

(इति विचेतव्यं नाटयति।)

विदूषक—(**मन ही मन में**) यह सोचकर मेरा हृदय कांपता है कि न जाने किस समय पूज्य महाराज उस भूर्ज पत्र का नाम लेंगे।

राजा—मित्र! इस समय किस चीज से मैं अपने उदासीन चित्त को वहलाऊं। (**याद करके**) भूर्ज पत्र तो लावो?

विदूषक—(**चारों ओर देखकर दुःख के साथ**) हा शोक! भोजपत्र क्यों नहीं दिखाई देता! मित्र! दिव्य (स्वर्गीय) भोजपत्र निःसन्देह उर्वशी के रास्ते से स्वर्ग चला गया है।

(५९) सासूयम् सदोषारोपम्, सक्रोधमिति–यावत्, वैधेयः मूर्खः, प्रमादी अनवहितः असावधान इति यावत्, "प्रमादोऽनवधानता" इत्यमरः।

राजा–(**क्रोध के साथ**) मूर्ख प्रत्येक काम में प्रमाद (लापरवाही) करता है।

विदूषक—हां मुझे अवश्य खोजना चाहिए, (**उठकर**) इधर होगा। या इधर। (**यह कह कर खोजना शुरू करता है।**)

(ततः प्रविशत्यौशीनरी चेटी विभवतश्च परिवारः ।)

औशीनरी—(हञ्जे णिउणिए, सच्चं किं लदाघरं विसन्तो अज्जमाणवअ-सहाओ दिट्ठो तुए महाराओ ।)

हञ्जे निपुणिके ! सत्यं किं लतागृहं प्रविशन्नार्यमाणवकसहायो दृष्टस्त्वया महाराजः ?

चेटी—(अलीअं किं मए भट्टिणी विण्णविदपुव्वा ?)

अलीकं मया भट्टिनी विज्ञापितपूर्वा ?

देवी–(तेण हि लदा विडवन्तरिदा सुणिस्सं दाव वीसम्भमन्तिदाइं जं तुए कहिदं सच्चं ण वेत्ति ।)

तेन हि लताविटपान्तरिता श्रोष्ये तावद्विश्रम्भमन्त्रितानि यत्त्वया कथितं सत्यं न वेति ।

चेटी—(जं देवीए रुच्चदि ।)

यद्देव्यै रोचते ।

देवी–(**परिक्रम्य पुरस्तादवलोक्य च**) णिउणिए, किं णु एदं वत्तं णवचीअरं विअ इदो दक्खिणमारुदेण आणीआदि ।)

निपुणिके ! किं न्वेतत्पत्रं नवचीवरमिवेतो दक्षिणमारुतेनानीयते ।

(इसके बाद काशिराज पुत्री (रानी), चेटी और विभव सहित परिजन आते हैं)

औशीनरी—*निपुणिके ! तूने क्या सचमुच महाराज को माणिक के साथ लतामण्डप में प्रवेश करते देखा था ?*

चेटी—*क्या महारानी के सामने मैंने आज तक कभी झूठ बोला है ?*

देवी—*तो मैं लता वाली झाड़ी के पीछे से छिपकर उनकी गुप्त बातों को सुनती हूं और देखती हूं कि तूने सच कहा है कि झूठ । अर्थात् उर्वशी के विषय में कहां तक ठीक है ।*

चेटी—*जो महारानी की इच्छा ।*

देवी—(*घूमकर और आगे की तरफ देखकर*) *निपुणिके !*

चेटी-[(**विभाव्य**) भट्टिणि, पडिवत्तणविभाविदक्खरं भुज्जवत्तं क्खु एदम्। हन्त, कहं देवीए एव्व णेउरकोडिलग्गम्। (**गृहीत्वा**) कहं वाचीअदु एदम्।]

भट्टिनि, परिवर्तनविभाविताक्षरं भूर्जपत्रं खल्वेतत्। हन्त, कथं देव्या एव नूपुरकोटिलग्नम्। कथं वाच्यतामेतत्। (६०)

देवी—(अवलोएहि दाव एदम्। जदि अविरुद्धं तदो सुणिस्सम्।)

अवलोकय तावदेतत्। यद्यविरुद्धं तदा श्रोष्ये।

चेटी-(**तथा कृत्वा**) (भट्टिणि, तं एदं कोलीणं विअम्भदि भट्टारअं उद्दिसिअ उव्वसीअक्खरो कव्वबन्धो त्ति तिक्केमि। अज्जमाणवअप्पमादादो अम्हाणं हत्थं आगदम्।)

देवि, तदेतत्कौलीनं विजृम्भते। भट्टारकमुद्दिश्य उर्वश्यक्षरः काव्यबन्ध इति तर्कयामि। आर्यमाणवकप्रमादादावयोर्हस्तमागतम्। (६१)

देखना यह नये वस्त्र के टुकड़े के समान किस चीज का पत्र है जिसे दक्षिण दिशा का हवा इधर उड़ाकर ला रहा है ?

(६०) परिवर्तनविभाविताक्षरं परिवर्तनावायुपरिचालनेन यत् पार्श्वपरिवर्तनम् तेन विभाविताः अक्षराः यस्य तत्। पवनपरिवर्तनेन यस्याक्षराः विलोक्यन्त इतिभावः।

चेटी—(**मालूम कर के**) *महारानी हवा के उलटने से स्पष्ट अक्षरों वाला यह भोजपत्र है। अहो! यह तो रानी के ही नूपुरों पर जा लगा है।* (**उठा कर**) *इसको वांचो तो सही इस में क्या लिखा है।*

देवी—*निपुणिके! इस पत्र को देखना। यदि इस में अच्छी बात हुई तो मैं सुनूंगी।*

(६१) कौलीनम् लोकापवादः, काव्यबन्धम् काव्यरचनम्, प्रमादः अनवधानता।

चेटी—(**पत्र को पढ़ कर**) *देवि! यह वही लोकापवाद (उर्वशी से राजा के स्नेह) का पत्र है। उर्वशी ने शायद महाराज को यह श्लोक बनाकर भेजा है, और माणवक के प्रमाद से (लापरवाही से) यह हमारे हाथ में आगया है।*

देवी-(णं गिहीदत्था होहि ।)
ननु गृहीतार्था भव ।

(चेटी वाचयति ।)

देवी-(एदेण एव्व उबआरेण तं अच्छराकामुअं पेक्खमम्ह ।)
एतेनैवोपकारेण तमप्सरः कामुकं प्रेक्षावहे । (६२)
चेटी-(जं देवी आणवेदि ।)
यद्देव्याज्ञापयति ।

(इति परिजनसहिते लतागृहं परिक्रामतः ।)

विदूषकः—(भो, वअस्स, किं एदं पवणवसगामि पमदवणसमीवगदकीडापव्वदपज्जन्ते दीसदि ।)
भो वयस्य ! किमेतत्पवनवशगामि प्रमदवनसमीपगतक्रीडापर्वतपर्यन्ते दृश्यते ?

राजा—(उत्थाय) भगवन् वसन्तसख मलयानिल !

वासार्थं हर संभृतं सुरभि यत्पौष्पं रजो वीरुधां
किं मिथ्या भवतो हृतेन दयितास्नेहस्वहस्तेन मे ।

देवी—तो इसके अर्थ को ग्रहण कर । अर्थात् इस पत्र को पढ़ इसको पढ़ने से सारी बात मालूम होजायगी ।

(चेटी पत्र को पढ़ती है ।)

(६२) उपकारेण उपचारेण उपायेनेति यावत् अप्सरः कामुकं पुरूरवसम् ।

देवी—सो इस उपाय से ही हम उस अप्सरा के चाहने वाले को देखलेंगी ।

चेटी—जो महारानी आज्ञा देती हैं ।

(यह कह कर रानी और चेटी परिजन के साथ लतामण्डप की ओर घूमती हैं ।)

विदूषक—हे मित्र ! प्रमदवन के निकटवर्त्ती क्रीड़ापर्वत पर यह क्या चीज है जो हवा से इधर उधर उड रही है ?

राजा—(उठ कर) हे भगवन् ! वसन्त के मित्र ! मलयपवन !

जानीते हि भवान्विनोदनशतैरेवंविधैर्धारितं
कामार्तं जनमञ्जसाभिभवितुं नालम्बितप्रार्थनम् ॥ (६३)

---

(६३) **अन्वयः**—वासार्थमिति । सुरभि संभृतं यत् वीरुधां पौष्पं रजः (तद्) वासार्थं हर, मिथ्याहृतेन मे दयितास्नेहस्वहस्तेन भवतः किम् ? एवंविधैः विनोदनशतैः धारितं आलम्बितप्रार्थनम् कामार्तं जनं अञ्जसा अभिभवितुं भवान् न जानीते हि ।

च० टी०—**भगवन् मलयानिल ! सुरभि सुगन्धि संभृतं सञ्चितं यत् वीरुधां लतानां पौष्पं पुष्पसम्बन्धि रजः परागः अस्ति, तद् वासार्थं सौगन्ध्य प्राप्तये, हर-नय तत्र न कस्यापि क्षतिरिति-भावः। परन्तु मिथ्याहृतेन निरर्थकं नीतेन मे मम दयितेति-दयितायाः प्रियायाः स्नेहस्वहस्तेन स्नेहसूचकः यः स्वहस्तः लक्षणया यः स्व-हस्तलेखः, तेन भवतः तव किम्-किं प्रयोजनं साध्यते ? न किमपीति भावः। एवं विधैः प्रियाहस्तलेखचित्रादिदर्शनैः विनोदनशतैः धारितं विहितजीवनम् आलम्बितप्रार्थनम् आलम्बिता-अङ्गीकृता प्रार्थना येन तं कामार्तं मदनपीडितं जनम् अञ्जसा अभिभवितुं पराभवितुं भवान् न जानीते । न साधुमन्यत एव इत्याभासः । विरहिजनपीडनं भवत्सदृशस्य सर्वथाऽनभीष्टमितिभावः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः।**

हि० टी०—*भगवन् दक्षिण के पवन ! लताओं के फूलों के सञ्चित किए हुए रज को, तू अपने को सुगन्धित करने के लिए ले जा, मगर व्यर्थ ही मेरी प्यारी के हाथ से लिखे हुए पत्र को तू क्यों ले जा रहा है । अर्थात् इस से तेरा कुछ भी लाभ नहीं है । चित्रादि सैकड़ों उपायों से अपने प्राणों की रक्षा करने वाले और अपने प्रिय-जन की प्रार्थना को स्वीकार करने वाले, मदन पीड़ित मनुष्य को शायद आप दुःख देना नहीं जानते । अर्थात् आप जैसे ठंडे स्वभाव वाले जानते हैं कि प्रेम के रोगी अपने प्यारों की निशानियां देख देखकर जिया करते हैं, इस लिए उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए ।*

निपुणिका—(भट्टिणि, एदस्स एव्व अण्णेसणं वट्टदि।)
भट्टिनि, एतस्यैवान्वेषणं वर्तते।
देवी—(पेक्खामि)
प्रेक्षे।
विदूषकः—(भो, मिलाअमाणकेसरच्छविणा मोरपिच्छेण विप्पलद्धोह्मि।)
भोः! म्लायमानकेसरच्छविना मयूरपिच्छेन विप्रलब्धोऽस्मि।(६४)
राजा–सर्वथा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः।
देवी—(सहसोपसृत्य) (अज्जउत्त, अलं आवेगेण। एदं एव्व तं भुज्जवत्तम्।)
आर्यपुत्र! अलमावेगेन। एतदेव तद्भूर्जपत्रम्।
राजा–(ससंभ्रममात्मगतम्) अये! इयं देवी। (प्रकाशम्) स्वागतं देव्यै।
देवी—(दुरागदं दाणिं संवुत्तम्।)
दुरागतमिदानीं संवृत्तम्। (६५)

निपुणिका—*महारानी! इसी पत्र की तलाश हो रही है।*
देवी—*हां हां मैं देखती हूं।*

(६४) म्लायमानकेसरच्छविना म्लायमाना म्लानतां गच्छन्ती केसरस्य छविरिव छविर्यस्य तेन मयूरपिच्छेन मयूरस्य वर्हिणस्य पिच्छेन शिखण्डेन, विप्रलब्धः वञ्चितः; "मयूरोवर्हिणोवर्ही नीलकण्ठः" इत्यमरः, "शिखण्डस्तु पिच्छवर्हे" इति च, "विप्रलब्धस्तु वञ्चितः" इत्यपि च।

विदूषक—*हे मित्र! केसर के समान मैली कान्ति वाले, मोर के पंख से मैं ठगा गया हूं। अर्थात् मैं इसे ही भोजप त्रसमझ बैठा था।*
राजा—*मैं सर्वथा मन्द भाग्य हूं।*
देवी—(जल्दी जाकर) *स्वामिन्! क्यों चिन्ता करते हो, लीजिये खोया हुआ वह भोजपत्र यह है।*
राजा—(अचानक रानी को सामने देखकर मन ही मन में) *अरे! क्या रानी है।* (प्रकट भाव से) *महारानी का स्वागत हो।*

(६५) राजा स्वागतामिति प्रयोज्य कुशलं पृष्टवान्, परं देवी सु-सुखेन आगत-

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य, किमत्र प्रतिविधानम् ? (६६)

विदूषकः—(जनान्तिकम्) (लोत्तेण सूईदस्स कुम्भिलअस्स अत्थि वा पडिवअणम् ।)

लोप्त्रेण सूचितस्य कुम्भीरकस्यास्ति वा प्रतिवचनम् । (६७)

राजा—(अपवार्य) मूढ ! नायं परिहासकालः । (प्रकाशम्) नेदं पत्रं मया मृग्यते । तत्खलु मन्त्रपत्रं यदन्वेषणाय ममायमारम्भः । (६८)

देवी—(जुज्जदि अत्तणो सोहग्गं पच्छादेदुम् ।)

युज्यत आत्मनः सौभाग्यं प्रच्छादयितुम् ।

विदूषकः—(भोदि, तुवरेहि से भोअणम् । पित्तोवसमणेन सुत्थो होदु ।)

भवति ! त्वरयस्वास्य भोजनम् । पित्तोपशमनेन स्वस्थो भवतु ।

मिति तदर्थमवधार्य दुरागतामिति पदेन वक्रोक्ति–चातुर्यं इर्ष्यामानं च सूचितवती ।

देवी–*अब तो दुरागमन हो गया है । अर्थात् मेरा अच्छा आगमन नहीं, बल्कि बुरा आगमन हुआ है ।*

(६६) जनान्तिकम् एकान्ते जनं प्रति, प्रतिविधानम् प्रतीकारः ।

राजा—(एकान्त में विदूषक से) *मित्र ! अब क्या उपाय करना चाहिए ?*

(६७) लोप्त्रेण चोरितधनेन, कुम्भीरकस्य चोरस्य "स्तेयं लोप्त्रं च तद्धनम्" इत्यमरः ।

विदूषक—(एकान्त में राजा से) *चोरी के माल समेत पकड़ा हुआ चोर जो उपाय करता है वही करो ।*

(६८) अपवार्य विदूषकं प्रति परावृत्य, मृग्यते अन्विष्यते, आरम्भः उद्योगः ।

राजा–(विदूषक की तरफ मुंह करके) *मूर्ख ! यह हंसी का समय नहीं है ।* **(प्रकट करके)** *मैं इस भोजपत्र को नहीं ढूंढता हूं । मैं तो मन्त्र वाले एक पत्र को ढूंढने का उद्योग कर रहा हूं ।*

देवी—*ठीक है अपने सौभाग्य की चीज छिपानी ही चाहिए ।*

विदूषक–*महारानी ! जल्दी महाराज के लिए भोजन बनाओ । जिस से इनका पित्त शान्त होकर ये स्वस्थ हो जांय । अर्थात् महाराज के पेट की आग शान्त हो ।*

देवी—(णिउणिए, सोहणं क्खु वह्मणेण आसासिदो वअस्सो ।)

निपुणिके, शोभनं खलु ब्राह्मणेनाश्वासितो वयस्यः ।

विदूषकः—(णं पेक्ख । आसासिदो वअस्सो चित्तभोअणेण ।)

ननु प्रेक्षस्व । आश्वासितो वयस्यश्चित्रभोजनेन ।

राजा—मूर्ख ! बलादपराधिनं मामापादयसि । (६९)

देवी—(णत्थि भवदो अवराहो । अहं एव्व अवराद्धा । जा पडिऊलदंसणा भविअ अग्गदो चिट्ठामि । इदो गमिस्सम् ।) (इति कोपं नाटयित्वा प्रस्थिता ।)

नास्ति भवतोऽपराद्धः । अहमेवापराद्धा । या प्रतिकूलदर्शना-भूत्वा अग्रतस्तिष्ठामि । इतो गमिष्यामि ।

राजा—अपराधी नामाहं प्रसीद रम्भोरु विरम संरम्भात् ।
सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः ॥(७०)

देवी—निपुणिका ! ब्राह्मण ने अपने मित्र (महाराज) को अच्छा आश्वासन दिया है अर्थात् अब तो शायद इनके मित्र प्रसन्न हो गए होंगे।

विदूषक—देखिए; निःसन्देह महाराज को विचित्र भोजनों से दिलासा हो गया है।

(६९) आपादयसि करोषि । हठादेव त्वं मामपराधिनं करोषि ।

राजा—मूर्ख ! जबरदस्ती मुझे अपराधी बना रहा है।

देवी—स्वामिन् ! आपका कोई अपराध नहीं, मैं ही अपराधिनी हूं जो प्रतिकूल दर्शन वाली होकर भी आपके सामने खड़ी हूं । मैं यहां से चली जाती हूं । अर्थात् हे राजन् ! मैं आपको एक आंख भी नहीं सुहाती और फिर भी आपके सामने खड़ी हूं ।

(इस प्रकार क्रोधित होकर चलने को तय्यार हो गई)

राजा—(७०) अन्वयः—अपराधीति । अहं अपराधी नाम, हे रम्भोरु प्रसीद, संरम्भात् विरम, सेव्यः जनश्च कुपितः, दासः निरपराधः कथं नु ? अहं (पुरुषः) अपराधी नाम अवश्यमेवापराधी

(इति पादयोः पतति ।)

देवी—(आत्मगतम्) (मा खु लहुहिअआ अणुणअं बहु मण्णे । किंदु दक्खिणकिदपच्छादावस्स भाएमि ।) (इति राजानमपहाय सपरिवारा निष्क्रान्ता ।)

मा खलु लघुहृदया अनुनयं बहुमन्ये । किन्तु दाक्षिण्यकृत-पश्चात्तापस्य बिभेमि । (७१)

अस्मि, हे रम्भोरु ! हे कदलीजङ्घे ! प्रसीद प्रसन्ना भव, संरम्भात् क्रोधात् विरम क्रोधं त्यजेत्यर्थः । स्वापराधं द्रढयति–सेव्यः सेवार्हो-जनः कुपितः–कोपः सञ्जातो ऽस्येति कुपितः क्रोधवान्, दासः सेवकः निरपराधः अपराधहीनः कथं नु अस्ति ? नैवेति । कुपिते स्वामिनि तु सेवकस्य सापराधत्वं निश्चीयत इति भावः । कुपितः इत्यत्र 'तद-स्यसञ्जातम्' इतीतच्प्रत्ययः । आर्या वृत्तम् ।

हि० टी०—हे केले के समान जङ्घावाली ! देवी ! मैं अप-राधी हूं तुम प्रसन्न हो जावो, क्रोध को छोड़ो, भला जब स्वामी क्रुद्ध हो तो सेवक निरपराधी कैसे हो सकता है ? (क्योंकि क्रोध विना अपराध के नहीं हो सकता ।)

(यह कह कर राजा उस के पैरों पर गिरता है)

(७१) दाक्षिण्येन चातुर्येण कृतपश्चात्तापस्य कृतानुनयस्य, यदा उर्वशी ज्ञास्यति यत्त्वया मत्पादपतनं कृतं तदा तदग्रे किं वक्ष्यसि पश्चात्तापपरोभविष्यसि । किञ्चममा-पराधेतु पादपतनं क्रियते तदपराधे किं करिष्यते ? पादपतनादधिकं हि नास्त्यनुनयो-पायः इति वक्रोक्तिरत्रज्ञेया । यदि च मादृशीनां मानवीनाम् अनिपुणानां कृते पादपतनं क्रियते, तदा उर्वशीतुल्यानां स्ववेंश्यानां सुनिपुणानां मानभञ्जने तव का गतिः स्यात् ? इत्यलङ्काररहस्यमत्र सहृदयैरवगन्तव्यम् ।

देवी—(अपने मन ही मन में) मैं इतनी कमजोर हृदय नहीं हूं कि आपके इस अनुनय को बहुत समझूं । अर्थात् आपकी इस झूठी नम्रता से खुश हो जाऊं । किन्तु आपके इस चतुराई के पश्चाताप से डरती हूं ।

(यह कहकर राजा को छोड़कर परिवार के साथ वहां से चली गई ।)

विदूषकः—(पाउसणदी विअ अप्पसण्णा गदा देवी । णं उट्ठेहि ।)
प्रावृण्नदीवाप्रसन्ना गता देवी । ननूत्तिष्ठ ।
राजा—(उत्थाय) वयस्य ! नेदमुपपन्नम् । पश्य—

प्रियवचनकृतोऽपि योषितां
दयितजनानुनयो रसादृते ।
प्रविशति हृदयं न तद्विदां
मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः ॥ (७२)

विदूषक—राजन् ! वरसाती नदी की तरह रानी गुस्से में भरी हुई चली गई है । अब तो उठो ।

राजा—(उठ कर) मित्र ! यह ठीक नहीं हुआ । देख—

(७२) अन्वयः—प्रियवचनेति । प्रियवचनकृतः दयितजनानुनयः रसाद् ऋते योषितां हृदयं, कृत्रिमरागयोजितः मणिः तद्विदां हृदयम् इवः न प्रविशति ।

च० टी०—प्रियवचनकृतः प्रियवचनैः "अपराधीनामाह" मित्यादि मधुरवचनैः कृतः सम्पादितः अपि दयितजनस्य प्रियजनस्य प्रियजनकर्तृकः प्रसादनं रसाद् अनुरागाद् ऋते-विना, अनुरागरहितश्चेदितियावद् योषितां स्त्रीणां हृदयं कृत्रिमरागयोजितः कृत्रिमेण कल्पितेन रागेण वर्णेन, योजितः रञ्जितः, मणिः स्फटिकादिः तद्विदां रत्नपरीक्षकाणां हृदयं तथा न प्रविशति तथा, मनोहरो न भवति । यथा कृत्रिमरागेण सौन्दर्यमापादितो मणिः रत्न परीक्षकेभ्यो रोचते तथैव, मनःप्रेमविवर्जितः केवलं वाह्य मधुररचनाडम्बरः स्त्रीणां मनो ना वर्जयति । आर्या वृत्तम् ।

हि० टी०—प्रिय जनों से कही गईं चिकनी चुपड़ी बातें चाहे कितनी ही मीठी क्यों न हों मगर सच्चे प्रेम के विना स्त्रियों के हृदय में स्थान नहीं पातीं । जिस प्रकार वनावटी रंग से युक्त मणि जौहरी को अच्छी नहीं लगती । या जौहरी की आंख को धोखा नहीं दे सकती ।

विदूषकः—(अणऊलं एव्व एदं भवदो । ण हु अक्खिदुक्खिदस्स पमुहे दीवसिहा सहेदि ।)

अनुकूलमेवैतद्भवतः । न खल्वाक्षिदुःखितस्य प्रमुखे दीपशिखा सहते।

राजा—मैवम् । उर्वशीगतमनसोऽपि मम देव्यां स एव बहुमानः । किन्तु प्रणिपातलङ्घनादहमस्यां धैर्यमवलम्बिष्ये ।

विदूषकः—(चिट्ठदु दाव धीरता । बुभुक्खिदबह्मणस्स जीविदं अवलम्बदु भवम् । समओ क्खुण्हाणभोअणे सेविदुम् ।)

तिष्ठतु तावद्धीरता । बुभुक्षितब्राह्मणस्य जीवितमवलम्बतां भवान् । समयः खलु स्नानभोजने सेवितुम् ।

राजा—(ऊर्ध्वमवलोक्य) कथमर्धगतं दिवसस्य । अतः खलु—

उष्णार्तः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्याशेरते षट्पदाः ।

विदूषक—*महाराज ! रानी का चला जाना आपके लिये तो उचित ही हुआ, जिसकी आंखें दूखने आई हों उसे दीपक की लौ नहीं सुहाती ।*

राजा—*नहीं नहीं ऐसा नहीं हो सकता, यद्यपि मेरा चित्त उर्वशी के प्रेम पाश में जकड़ा हुआ है तथापि महारानी के लिये मेरे हृदय में वही आदर है । परन्तु उसने मेरे पैरों पर पड़ने की परवा नहीं की इसलिए मैं धैर्य धारण करूंगा । अर्थात् महल में न जाऊंगा ।*

विदूषक—*आप धैर्य धारण करें, और इस भूखे ब्राह्मण के प्राणों के आधार भी आप ही हैं । यह समय स्नान और भोजन करने का है ।*

राजा—(आकाश की ओर देख कर) *अहो ! दिन का आधा भाग किस प्रकार व्यतीत हो गया है । निःसन्देह इसी लिए—*

(७३) अन्वयः—उष्णार्त इति । उष्णार्तः शिखी तरोः शिशिरे मूलालवाले निषीदति, षट्पदाः कर्णिकारमुकुलानि निर्भिद्य उपरि आशेरते, कारण्डवः तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं श्रयते, क्रीडावेश्मनि च क्लान्तः एष पञ्जरशुकः जलं याचते ।

तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते ।
क्रीडावेश्मनि चैषः पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते ॥ (७३)

(इति निष्क्रान्तौ ।)

इति श्रीकविकुलचूडामणिमहाकविकालिदासप्रणीते
विक्रमोर्वशीये त्रोटके द्वितीयोऽङ्कः समाप्तः ।

च० टी—उष्णार्तः घर्मपीडितः शिखी मयूरः तरोः वृक्षस्य शिशिरे शीतले मूलालवाले मूलकृतजलाधारे निषीदति उपविशति, षट्पदाः भ्रमराः कर्णिकारमुकुलानि परिव्याधाख्यवृक्षकुड्मलानि (कलिकाः निर्भिद्य विदार्य उपरि आशेरते समन्तात् तिष्ठन्ति । कारण्डवः तदाख्यः पक्षी दीर्घचरणकृष्णवर्णहंसविशेषः तप्तमुष्णं वारि जलं विहाय त्यक्त्वा तीरनलिनीं तटस्थितनलिनीं सेवते आश्रयते, क्रीडावेश्मनि खेलागृहे च एष पञ्जरशुकः पञ्जरस्थशुकः क्लान्तः श्रान्तः सन् जलं याचते । आलवालः "स्यादालवालमावालमावापः" इत्यमरः । शिखी "शिखावलः शिखी केकी" इति च । कर्णिकारः "कर्णिकारः परिव्याधः" इत्यमरः । षट्पदः "षट्पदो भ्रमरालयः" इति च । कारण्डवः "तेषां विशेषा हारीतो मद्गुः कारण्डवः प्लवः" इत्यपि चामरकोशः । अनेन श्लोकेन माध्यन्दिनस्यावस्था प्रकटिता शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

हि० टी०—गर्मी से व्याकुल मोर पेड़ के नीचे ठण्डे आलवाल में सुख से बैठा है । भौंरे कर्णिकार की कली को फोड़ कर उसमें घुस गये हैं । कारण्डव पक्षी गर्म पानी को छोड़ कर सरोवर के तट पर कमलिनी के नीचे बैठ गया है । और क्रीडा के घर में यह तोता पिञ्जरे में वैठा हुवा, प्यास से व्याकुल होकर पानी मांग रहा है ।

(राजा और विदूषक जाते हैं ।)

इति श्रीमद्विद्वद्वरपण्डितहृदयरामतनयकविरत्नचक्रधर'हंस'-
प्रणीतायां चन्द्रकलायां द्वितियकला समाप्ता ।

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशतो भरतशिष्यौ)

प्रथमः—सखे पेलव ! अग्निशरणाद्गच्छता महेन्द्रमन्दिरमुपाध्यायेन त्वामासनं ग्राहितः। अहमग्निशरणरक्षार्थं स्थापितः। ततः पृच्छामि, गुरोः प्रयोगेण देवपरिषदाराधिता न वेति ? (१)

द्वितीयः—(गालव, ण आणेकहं आराधिता भोदि। तस्सिं उण सरस्सईकिदकव्ववन्धे लच्छीसअंवरे उव्वसी तेसु तेसु रसन्तरेसु उम्माइआ आसि।)

गालव ! न जाने कथमाराधिता भवति। तस्मिन्पुनः सरस्वतीकृतकाव्यवन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे उर्वशी तेषु तेषु रसान्तरेषून्मादितासीत्। (२)

(इस के बाद भरत मुनि के दो शिष्य आते हैं)

(१) अग्निशरणात् अग्निगृहात्, 'शरणं गृहरक्षित्रोः शरणं रक्षणे वधे' इति विश्वः। प्रयोगेण लक्ष्मीस्वयंवरनामकरूपकेण, देवपरिषत् देवसभा 'समज्या परिषत्' इत्यमरः आराधिता अनुरञ्जिता न वेति ?

प्रथम—*मित्र पेलव ! अग्निहोत्र से इन्द्रलोक में जाते समय गुरू जी ने तुम्हें अपने स्थान पर नियुक्त किया था, और मुझे वे अग्निहोत्र की रक्षा के लिए नियुक्त कर गए थे। इसलिए मैं तुम्हें पूछता हूं कि गुरू जी ने जो 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक का प्रयोग किया था उस नाटक के प्रयोग से देवताओं की सभा प्रसन्न हुई है या नहीं ?*

(२) सरस्वतीकृतकाव्यवन्धे सरस्वतीनिर्मितकाव्यरूपे, लक्ष्मीस्वयंवरे तन्नामकदृश्यकाव्यप्रयोगे, रसान्तरेषु रसविशेषेषु, उन्मादिता उन्मत्तभूता।

द्वितीय—*भाई गालव ! इस बात का तो मुझे पता नहीं कि प्रसन्न हुई है या नहीं, मगर इतना अवश्य सुना है कि साक्षात् सरस्वती के बनाए हुए उस 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाम वाले नाटक के खेलने में, अन्यान्य उन रसविशेषों में उर्वशी उन्मत्त सी हो गई थी।*

प्रथमः—सदोषावकाश इव वाक्यशेषः। (३)

द्वितीयः—(आम। ताए वअणं पमादक्खलिदं आसि।)

आम। तस्या वचनं प्रमादस्खलितमासीत्।

प्रथमः—किमिव ?

द्वितीयः—(लच्छीभूमिआए वट्टमाणा उव्वसी वारुणीभूमिआए वट्टमाणाए मेणआए पुच्छिदा। समागदा तेलोकपुरिसा सकेसवा लोअवाला। कदमस्सिं दे हिअआहिणिवेसो त्ति।)

लक्ष्मीभूमिकया वर्तमाना उर्वशी वारुणीभूमिकया वर्तमाना मेनकया पृष्टा—समागतास्त्रैलोक्यपुरुषाः सकेशवा लोकपालाः। कतमस्मिंस्ते हृदयाभिनिवेश इति। (४)

प्रथमः—ततस्ततः ?

द्वितीयः—(ताएपुरिसोत्तमे त्ति भणिदव्वे पुरूरवसि त्ति णिग्गदा वाणी।)

तस्याः पुरुषोत्तम इति भणितव्ये पुरूरवसीति निर्गता वाणी।

---

(३) सदोषावकाशः दोषस्य अवकाशः यत्र तेन सहितः, दोषसम्पन्न इत्भिावः। वाक्यशेषः अवशिष्टकथनम्।

प्रथम—तुम्हारा अपूर्ण वाक्य कुछ दोष को प्रकट सा करता है।

द्वितीय—हां, उर्वशी के कथन में प्रमाद से कुछ भूल होगई थी।

प्रथम—वह कैसे ?

(४) भूमिका वेषपरिग्रहः, लक्ष्मीभूमिकायां वर्तमाना—अभिनयार्थं लक्ष्मीवेषधारिणी, "भूमिका रचनायां स्यान्मूर्त्यन्तर परिग्रहे" इतिविश्वः। सकेशवाः विष्णुसहिताः, हृदयाभिनिवेशः हृदयस्य चेतसः अभिनिवेशः सन्निवेशः।

द्वितीय—इस नाटक में उर्वशी ने लक्ष्मी का रूप धारण किया था और मेनका ने वरुणी का। मेनकाने उर्वशी से पूछा—लक्ष्मी ! देख तीनों लोकों के पुरुष, और सारे लोकपाल, विष्णु भगवान् सहित आये हैं, इन में से तू किस को हृदय से चाहती है।

प्रथम—इस के बाद फिर ?

द्वितीय—उर्वशी के मुख से 'पुरुषोत्तम नारायण को' ऐसा कहने

प्रथमः—भवितव्यतानुविधायीनि बुद्धीन्द्रियाणि । स तामभिक्रुद्धो मुनिः ? (५)

द्वितीयः—(सत्ता उवज्झाएण । महिन्देण उण अणुगिहीदा ।)

शप्ता उपाध्यायेन महेन्द्रेण पुनरनुगृहीता ।

प्रथमः—कथमिव ?

द्वितीयः—(जेण मम तुए उवदेसो लङ्घिदो तेण ण दे दिव्वं ठाणं हविस्सदि त्ति उवज्झाअस्स सआसादो सावो । पुरंदरेण उण लज्जावणदमुहिं उव्वसिं पेक्खिअ एवं भणिदं—'जस्सिं वद्धभावासि तुमं तस्स मे रणसहाअस्स राएसिणो पिअं करणिज्जं ता दाव तुमं पुरूरवसं जहाकामं उवचिट्ठ जाव सो पडिदिट्ठसन्ताणो भोदि' ।त्ति ।)

येन मम त्वयोपदेशो लङ्घितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यतीत्युपाध्यायस्य सकाशाच्छापः । पुरंदरेण पुनर्लज्जावनतमुखीमुर्वशीं प्रेक्ष्यैवंभणितम्—"यस्मिन् वद्धभावासि त्वं तस्य मे रणसहायस्य

के स्थान में 'पुरूरवा को' ऐसा निकल पड़ा । अर्थात् उर्वशी को चाहिये था कि वह नारायण 'पुरुषोत्तम' का नाम लेती, परन्तु उस के मुख से न जाने क्यों 'पुरूरवा' का नाम निकल पड़ा ।

(५) भवितव्यता निश्चितफलानामवश्यंभावः तस्या अनुविधायीनि अनुसारीणि, भाव्यनुसारीणीतिभावः । उर्वशीपुरूरवसोः समागमः निश्चितः, अतः गोत्रस्खलनं तदनुसारि एवजातमितिभावः । बुद्धिः मतिः इन्द्रियाणि वाक्चक्षुरादीनि निश्चितफलानुसारीणि भवन्तीति निष्कर्षः ।

प्रथम—मनुष्य की मति तथा इन्द्रियां होनहार के ही पीछे चलती हैं । तो क्या उस के ऊपर मुनि ने क्रोध तो नहीं किया ?

द्वितीय—क्यों नहीं, मुनि ने तो उसे शाप देदिया था, मगर देवराज इन्द्र को उसके ऊपर दया आगई ।

प्रथम—वह कैसे ?

राजर्षेः प्रियं करणीयम्। तत्तावत्त्वं पुरूरवसं यथाकाममुपतिष्ठस्व यावत्स परिदृष्टसन्तानो भवति" इति। (६)

प्रथमः—सदृशं पुरुषान्तरवेदिनो महेन्द्रस्य। (७)

द्वितीयः—(सूर्यमवलोक्य) (कधापसङ्गेण अवरद्धा अहिसेअवेला। ता उवज्झाअस्स पास्सवत्तिणो होम।)

कथाप्रसङ्गेनापराद्धाभिषेकवेला। तदुपाध्यायस्य पार्श्ववर्तिनौ भवावः। (८)

---

(६) दिव्यं दिविभवं स्वर्गीयामति यावत्, प्रेक्ष्य दृष्ट्वा, भणितम् कथितम् बद्धभावा आसक्ता, रणसहायस्य युद्धे सहायभूतस्य, राजर्षेः पुरूरवसः, उपतिष्ठस्व भजस्व, परिदृष्टसन्तानः परिदृष्टः विलोकितः सन्तानः येन सः।

द्वितीय—'क्योंकि तूने मेरे उपदेश पर ध्यान नहीं दिया, इस लिये तेरा वास स्वर्ग में नहीं होगा' गुरू जी की तरफ से उर्वशी को यह शाप था। इस के वाद लज्जा से सिर को नीचे झुकाए हुए उर्वशी को देख कर, देवराज इन्द्र ने कहा—'उर्वशी! जिस के साथ तेरा अगाध प्रेम है, और जो मुझे युद्ध में सहायता दिया करता है उस राजर्षि के साथ मुझे कुछ उपकार करना है। इस लिये तू पुरूरवा के पास जाकर अपनी इच्छानुसार उस राजा की सेवा कर जब तक वह सन्तान को नहीं देखता। अर्थात् जब तेरे गर्भ से पुरूरवा का कोई बालक पैदा होगा, और पुरूरवा उस बालक का मुंह देख लेगा तब तू फिर स्वर्ग में आजायेगी।

(७) पुरुषान्तरवेदिनः—स्वयं पुमान् सन् कामपीड़ापीडितस्य पुरुषान्तरदुःखज्ञस्य महेन्द्रस्य देवराजस्य इन्द्रस्य, सदृशम् उचितम्।

प्रथम—दूसरों के हृदय के भावों को जानने वाले इन्द्र के लिए यह उचित ही था।

(८) अपराद्धा अतिक्रान्ता।

द्वितीय—(सूर्य की ओर देखकर) बातों ही बातों में स्नान का समय गुजर गया है इस लिए गुरू जी के पास जाते हैं।

(इति निष्क्रान्तौ)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति कञ्चुकी ।)

कञ्चुकी—सर्वः कल्पे वयसि यतते लब्धुमर्थान्कुटुम्बी
पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय ।
अस्माकं तु प्रतिदिनमियं सादयन्ती प्रतिष्ठां
सेवा कारापरिणतिरभूत्स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः ॥ (८)

(यह कहकर दोनों चले गए ।)

(इति विष्कम्भकः)

(इस के बाद कञ्चुकी प्रवेश करता है ।)

कञ्चुकी (८) अन्वयः—सर्व इति । कल्पे वयसि सर्वः कुटुम्बी अर्थान् लब्धुं यतते, पश्चात् पुत्रैरपहृतभरः विश्रमाय कल्पते, अस्माकं तु इयं सेवा प्रतिदिनं प्रतिष्ठां सादयन्ती कारापरिणतिः अभूत्, स्त्रीषु अधिकारः कष्टः ।

च० टी०—कल्पे समर्थे वयसि अवस्थायां यौवनावस्थायामित्यर्थः । सर्वः समग्रः कुटुम्बी स्त्रीपुत्रादिपरिवारपालनपरः अर्थान् द्रव्याणि विषयान्वा लब्धुं प्राप्तुं यतते प्रयत्नवान् भवति । पश्चात् यौवनोत्तरे वयसि वृद्धावस्थायामित्यर्थः, पुत्रैरपहृतभरः पुत्रैः सुतैः अपहृतभरः गृहीतकुटुम्बभारः विश्रमाय विश्रान्त्यै कल्पते जायते विश्रामसुखमनुभवति इतिभावः। अस्माकं तु इयं सेवा परिचर्या प्रतिदिनं नित्यंप्रति प्रतिष्ठां गौरवं सादयन्ती नाशयन्ती कारापरिणतिः बन्धनालयरूपा अभूत् । तथाच स्त्रीषु विषये अधिकारः स्त्रीणां रक्षणभारः कष्टः कष्टकरः । यतः वृद्धावस्थायामपि सुतरां विश्रामो नास्तीति निष्कर्षः । कल्पे-'कृपू'सामर्थ्ये इतिधातुः । अर्थान् "अर्थः प्रयोजने वित्ते हेत्वभिप्रायवस्तुषु" इतिविश्वलोचनः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ।

हि० टी०—जवानी में प्रत्येक गृहस्थी धन कमाने का यत्न करता है, फिर वृद्धावस्था में कुटुम्ब के भार को पुत्र के ऊपर रखकर

(परिक्रम्य) आदिष्टोऽस्मि सनियमया काशिराजपुत्र्या यथा– 'व्रतसम्पादनाय मया मानमुत्सृज्य निपुणिकामुखेन पूर्वं याचितो महाराजः । तदेवं मद्वचनाद्विज्ञापय' इति यावदहमवसितसन्ध्याकार्यं महाराजं पश्यामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) रमणीयः खलु दिवसावसानवृत्तान्तो राजवेश्मनि । (९)

उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो
धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः सन्दिग्धपारावताः ।
आचारप्रयतः सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः
संध्यामङ्गलदीपिका विभजते शुद्धान्तवृद्धो जनः (१०)

विश्राम लेता है । परन्तु हमारी प्रतिदिन की इस सेवा ने गौरव का नाश कर हमें कैदखाने में बन्द सा कर दिया है क्योंकि स्त्रियों की नौकरी में बहुत दुःख होता है ।

(९) अवसितं समाप्तम्, वृत्तान्तः प्रकारः "वृत्तान्तः भयकात्स्न्र्येस्यादपि वार्ताप्रकारयोः" इति विश्वलोचनः ।

(**घूम कर**) व्रत में स्थित महारानी ने मुझे आज्ञा दी है कि मेरी ओर से महाराज को कहो कि निपुणिका द्वारा पहिले भी मैंने आप से प्रार्थना की थी कि व्रत को पूर्ण करने के लिए मैंने मान (क्रोध) को छोड़ दिया है इस लिए आप (जल्दी आकर दर्शन दें ।) अब महाराज सन्ध्या कर चुके होंगे, उनको देखता हूं । (**घूम कर और देख कर**) अहा ! सायंकाल के समय महलों की क्या ही सुन्दर शोभा है ।

(१०) **अन्वयः**—उत्कीर्णा इति । निशानिद्रालसाः बर्हिणः वासयष्टिषु उत्कीर्णा इव, वलभयः जालविनिसृतैः धूपैः सन्दिग्धपारावताः, आचारप्रयतः शुद्धान्तवृद्धः जनः सपुष्पबलिषु स्थानेषु अर्चिष्मतीः सन्ध्यामङ्गलदीपिकाः च विभजते ।

च० टी०—**निशानिद्रालसाः रात्रिशयनमन्दाः बर्हिणः मयूराः** चित्रलिखितावत्, उत्कीर्णा इव **वासयष्टिषु** कपोतपालिकासु आधार...

(नेपथ्याभिमुखं दृष्ट्वा) अये ! इत एव प्रस्थितो देवः ।

परिजनवनिताकरार्पिताभिः
परिवृत एष विभाति दीपिकाभिः ।
गिरिरिव गतिमानपक्षसादा-
दनुतटपुष्पितकर्णिकारयष्टिः । (११)

टङ्कव्यक्तीकृतस्वरूपा इव सन्तीति शेषः । वलभयः चन्द्रशालानामक शिरोगृहाणि जालविनिसृतैः जालेभ्यः गवाक्षेभ्यः विनिसृतैः निर्गच्छद्भिः धूपैः तदुत्थितधूमः सन्दिग्धपारावताः संदिग्धाः वर्णसाम्यात् संशयिताः पारावताः कपोताः यत्र, कपोतसञ्चरणसन्देहं जनयन्तीत्यर्थः । आचारप्रयतः आचारे सदाचारे प्रयतः तत्परः, आचारपवित्रो वा शुद्धान्तवृद्धः अन्तःपुरचारी वृद्धो जनः सपुष्पवलिपु सकुसुमोपहारेषु स्थानेषु अर्चिष्मतीः प्रज्वलिताः सन्ध्यामङ्गलदीपिकाः सन्ध्यासमयमङ्गलप्रददीपिकाः विभजते स्वेषु स्थानेषु विभागं कृत्वा स्थापयति । "जालं तु क्षारकानायगवाक्षे दम्भवृक्षयोः" इति विश्वलोचनः । "वलभी चन्द्रशालिका" इत्यमरः । "पारावतः कलरवः कपोतः" इतिच । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

हि० टी०—रात्रि के कारण नींद से अलसाये मोर (निश्चल होने के कारण) छतरियों पर ऐसे मालूम होते हैं मानों (छेनी से) गढ़े हुए हों । झरोखों से निकलते हुए धूप के धुएं से कबूतरों का सन्देह होता है । और पवित्र आचरण युक्त अन्तःपुर में रहने वाली वृद्ध स्त्रियां उन स्थानों पर जहां देवताओं के लिए फूल और बलियां रक्खी हुई हैं, सन्ध्याकालिक मङ्गल दीपकों को स्थापित कर रही हैं । (नेपथ्य की ओर देख कर) आह ! महाराज तो इधर ही आरहे हैं ।

(११) अन्वयः—परिजनेति । एष परिजनवनिताकरार्पिताभिः दीपिकाभिः परिवृतः अपक्षसादात् गतिमान् अनुतटपुष्पितकर्णिकारयष्टिः गिरिरिव विभाति ।

च० टी०—एष राजा पुरूरवाः परिजनवनिताकरार्पिताभिः परिजनस्य वनितानां स्त्रीणां करैः हस्तैः अर्पिताभिः दत्ताभिः दीपि-

यावदेनमवलोकनमार्गे स्थितः प्रतिपालयामि ।
(ततः प्रविशति यथा निर्दिष्टः सपरिवारो राजा विदूषकश्च ।)

राजा—(आत्मगतम्)

कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं मया नीतमनतिकृच्छ्रेण ।
अविनोददीर्घयामा कथं नु रात्रिर्गमयितव्या ॥ (१२)

काभिः परिवृतः अपक्षसादात् अपक्षच्छेदात् गतिमान् सञ्चरणशीलः अनुतटपुष्पितकर्णिकारयष्टिः अनुतटं पुष्पिताः कुसुमिताः कर्णिका रयष्टयः वृक्षोत्पलाख्यवृक्षशाखाः यस्य स गिरिः पर्वत इव विभाति शोभते । समन्ततः ज्वलितदीपपरिवृतः राजा, पक्षयुक्तगतिसम्पन्नः कर्णिकारपुष्पपुष्पितः पर्वत इव राजत इतिभावः ।

हि० टी०—*यह राजा परिजन की स्त्रियों के हाथों में पकड़े हुए दीपकों से इस प्रकार शोभित हो रहा है जिस प्रकार पंख होने से चलता हुआ पहाड़ कर्णिकार के फूलों की छाड़ियों से युक्त हो ।*

सो अब मैं इनकी प्रतीक्षा उस रास्ते में करता हूं जिस रास्ते में वे दीख सकें ।

(इसके बाद उसी प्रकार परिवार सहित राजा तथा विदूषक आते हैं ।)

राजा—(मन ही मन में)

(१२) अन्वय—कार्यान्तरिति । मया कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनम् अनतिकृच्छ्रेण नीतम्, अविनोददीर्घयामा रात्रिः कथं नु गमयितव्या ?

च० टी०—मया पुरूरवसा कार्यान्तरितोत्कण्ठं कार्यैः राजकृत्यैः अन्तरिता स्थगिता उत्कण्ठा यस्मिन् तत् दिनम् अनतिकृच्छ्रेण स्वल्पकष्टेन अनतिदुःखेनेतियावत् नीतम् यापितम्, अविनोददीर्घयामा अविनोदाः विनोदनोपायरहिताः अत एव दीर्घाः यामाः प्रहराः यस्याः सा रात्रिः निशा कथं नु केनप्रकारेण गमयितव्या यापयितव्या ? विनोदाभावेन रात्रेः यापनं दुष्करमितिभावः । "स्यात्कष्टं कृच्छ्रमाभीलम्" इत्यमरः । आर्या वृत्तम् ॥

हि० टी०—*मैंने राज काज में मग्न रहकर दिन को तो थोड़े से कष्ट से विता दिया, मगर दिल बहलाव के न होने से बड़े २ पहरों*

कञ्चुकी—(उपगम्य) जयतु जयतु देवः। देव, देवी विज्ञापयति—"मणिहर्म्यपृष्ठे सुदर्शनश्चन्द्रः। तत्र संनिहितेन देवेन प्रतिपालयितुमिच्छामि यावद्रोहिणीसंयोगः" इति।

राजा—विज्ञाप्यतां देवी यस्तव च्छन्द इति। (१३)

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः।

(इति निष्क्रान्तः)

राजा—वयस्य ! किं परमार्थत एव देव्या व्रतनिमित्तोऽयमारम्भः स्यात् ? (१४)

विदूषकः—(तक्केमि संजातपच्छाद्दावा अत्तभोदी वदव्ववदेसेण तत्त भवदोपणिपादलङ्घण पमज्जिदुकामात्ति।)

तर्कयामि सञ्जातपश्चात्तापा अत्र भवती व्रतव्यपदेशेन तत्र भवतः प्रणिपातलङ्घनं प्रमार्ष्टुकामेति। (१५)

वाली रात को किस तरह गुजारूंगा ?

(१३)—छन्दः अभिप्रायः अभिलाषः इतियावत्।

कञ्चुकी—(जाकर) जय हो, महाराज की जय हो ! भगवन् ! महारानी प्रार्थना करती हैं कि—भगवान् चन्द्र, मणि के महल से साफ दिखाई देते हैं। इसलिए जब तक रोहिणी का योग चन्द्रमा से होता है, तब तक महाराज मेरी प्रतीक्षा करें।

राजा—कञ्चुकिन् ! महारानी से कहो कि तुम्हारी इच्छानुसार ही किया जायगा।

कञ्चुकी—जो महाराज आज्ञा देते हैं।

(यह कह कर कञ्चुकी निकल गया।)

(१४) परमार्थतः, याथार्थ्यतः, व्रतनिमित्तः नियमहेतुकः, आरम्भः उद्योगः।

राजा—मित्र ! क्या यथार्थ में महारानी का यह उद्योग व्रत के कारण रहा होगा ?

(१५) तर्कयामि चिन्तयामि, व्यपदेशेन मिषेण, प्रमार्ष्टुकामा अपनेतुकामा।

विदूषक—महाराज ! मेरा तो ऐसा विचार है कि महारानी

राजा—उपपन्नं भवानाह तथाहि—

अवधूतप्रणिपाताः पश्चात्सन्तप्यमानमनसोऽपि ।
निभृतैर्व्यपत्रपन्ते दयितानुशयैर्मनस्विन्यः ॥ (१६)

तदादिशय मणिहर्म्यपृष्ठस्य मार्गम् ।

विदूषकः—(इदो इदो एदु भवम् । इमिणा गङ्गातरङ्गसिसिरेण फलिअमाणिसिलासोवाणेण आरोहदु भवं सव्वदा रमणीअं मणिहम्मपिट्ठअलम् ।)

इत इत एतु भवान् । अनेन गङ्गातरङ्गशिशिरेण स्फटिकमणिशिलासोपानेनारोहतु भवान्सर्वदा रमणीयं मणिहर्म्यपृष्ठतलम् । (१७)

ने जो आपके पांव पड़ने की परवा नहीं की, इसी से उसके चित्त में पश्चात्ताप हुआ है और अब व्रत के वहाने उसे दूर करना चाहती है ।

राजा—तुम ने ठीक कहा—है क्योंकि—

(१६) अन्वयः—अवधूतेति । अवधूतप्रणिपाताः मनस्विन्यः पश्चात्सन्तप्यमानमनसः अपि निभृतैः दयितानुशयैः व्यपत्रपन्ते ।

च० टी०—अवधूतः तिरस्कृतः प्रणिपातः पादपतनं याभिस्ताः अवधीरितप्रणामा इतियावत्, मनस्विन्यः मानवत्यः पश्चात् तिरस्कारानन्तरं सन्तप्यमानमनसः सन्तप्यमानानि दुःखयुक्तानि मनांसि चेतांसि यासां ताः अपि निभृतैः गुप्तैः दयितानुशयैः दयितस्य पतिविषयकस्य अनुशयैः पश्चात्तापैः व्यपत्रपन्ते लज्जन्ते । पूर्वं तु मानवशात् दयिततिरस्कारं कुर्वन्ति परं पश्चात् तद्विषय एव अन्तर्लज्जन्त इति तात्पर्यम् । आर्यावृत्तम् ।

हि० टी०—अभिमानिनी स्त्रियां जो अपने पतियों के पावों पड़ने पर भी उनका तिरस्कार करती हैं वे पीछे सन्तप्तचित होकर अपने पतियों के विषय में पश्चात्तापों से लज्जित होती हैं ।

सो अब मणि महल के ऊपर का रास्ता बताओ ?

(१७) गङ्गायास्तरङ्गवत् शिशिरेण शीतलेन गङ्गातरङ्गेण स्फटिकसोपानस्य शुभ्रत्वे उन्नतोन्नतत्वे च साम्येऽपि विरहाग्निपीडितस्य राज्ञः शिशिरोपसेवनं सुखकरमतोऽत्र शिशिरपदोल्लेखः ।

(राजा आरोहति । सर्वे सोपानारोहणं नाटयन्ति ।)

विदूषकः—(निरूप्य) (पच्चासण्णेण चन्दोदयेण होदव्वम् । जह तिमिरेण अदिरेचीअमाणं पुव्वदिसामुहं आलोहिअप्पहं दीसदि ।)

प्रत्यासन्नेन चन्द्रोदयेन भवितव्यम् । यथा तिमिरेणातिरिच्यमानं पूर्वदिशामुखमालोहितप्रभं दृश्यते ।

राजा—**सम्यग्भवान्मन्यते ।**

उदयगूढशशाङ्कमरीचिभि-
स्तमसि दूरतरं प्रतिसारिते ।
अलकसंयमनादिव लोचने
हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम् ॥ (१८)

विदूषक—*महाराज ! इधर आइए । इन गङ्गा की तरङ्गों के समान शीतल, स्फटिक मणि की सीढ़ियों से आप हमेशा सुन्दर, मणियों के महल के ऊपर चढ़ें ।*

(राजा सीढ़ियों पर चढ़ता है । सब सीढ़ियों पर चढ़ना प्रकट करते हैं)

विदूषक—(देखकर) *अब चन्द्रमा का उदय बहुत ही समीप होना चाहिये । क्योंकि पूर्व दिशा का मुंह कुछ लाल सा दीख रहा है ।*

राजा—*तुम्हारा अनुमान ठीक है ।*

(१८) **अन्वयः**—उदयेति । उदयगूढशशाङ्कमरीचिभिः तमसि दूरतरं प्रतिसारिते, हरिवाहनदिङ्मुखम् अलकसंयमनादिव मे लोचने हरति ।

च० टी–**उदयेन उदयपर्वतेन गूढैः अन्तरितैः शशाङ्कस्य चन्द्रस्य मरीचिभिः किरणैः तमसि अन्धकारे दूरतरम् अत्यन्तम् प्रतिसारिते दूरीकृते सति हरिवाहनदिङ्मुखं हरिवाहनस्य ऐरावतस्य या दिक् प्राची तस्याः मुखम् अलकसंयमनादिव अलकानां केशानाम् संयमनात् नियमनात् इव मे मम लोचने नेत्रे हरति । अलकनियमनात् यथा वाराङ्गनायाः मुखं स्पष्टलक्ष्यमाणं नयने हरति, तथैव इयं प्राची दिक् गुप्तशशांकत्वात् अन्धकाराभावाच्च मे मनः हरति । द्रुतविलम्बितम् वृत्तम् "द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" इति लक्षणात् ।**

विदूषकः—(ही ही । भो एसो खण्डमोदअसरिसो उदिदो राआ ओ-सधीणम् ।)
ही ही भोः, एष खण्डमोदकसदृश उदितो राजा ओषधीनाम् । (१९)

राजा–(सस्मितम्) सर्वत्रौदरिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः । (प्राञ्जलिः प्रणम्य) भगवन् ऋक्षराज ! (२०)

रविमाविशते सतां क्रियायै
सुधयातर्पयते पितॄन्सुरांश्च ।
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे
हरचूड़ानिहितात्मने नमस्ते ॥ (२१)

हि० टी०—उदयाचल पर्वत से छिपे हुए चन्द्रमा के अन्धकार को दूर करने पर पूर्व दिशा का मुख मेरे नेत्रों को इस प्रकार मनोहर लग रहा है जिस प्रकार बालों को संवारे हुए किसी वाराङ्गना का मुख सुन्दर लगता हो ।

(१९) ही हीत्याश्चर्ये, ओषधीनां राजा चन्द्रः । नवचन्द्रस्यलोहितत्वात् खण्डमोदकसादृश्यम् ।

विदूषक—अहह ! मित्र ! यह खाण्ड के लड्डू की तरह चन्द्रदेव उदय होगए हैं ।

(२०) उदरमस्यास्तीति औदरिकस्तस्य, अभ्यवहार्यम् भोजनम् ऋक्षराजः चन्द्रः ।

राजा—(हंसी के साथ) पेटू मनुष्यों को सब जगह खाने की वस्तु ही दिखाई देती है । (हाथ जोड़ प्रणाम करके) हे भगवन् चन्द्रमा !

(२१) अन्वयः—रविमिति । सतां क्रियायै रविम् आविशते, सुधयापितॄन्सुरान् च तर्पयते, निशि मूर्च्छतां तमसां निहन्त्रे, हरचूड़ानिहितात्मने ते नमः ।

च० टी०—सतां साधूनां क्रियायै दार्शिकपिण्डपितृयज्ञादिक्रियाहेतवे रविं सूर्यम् आविशते सङ्गतवते, 'रुचिमावहते' इतिपाठे तु साधूनां कर्मकरणाय रुचिं प्रीतिम् आवहते कुर्वाणाय, सुधया अमृतेन पितॄन् अग्निष्वात्तादीन् सुरान् देवांश्च तर्पयते प्रीणयते निशि

विदूषकः—(भो, बम्हणसंकामिदक्खरेण दे पिदामहेण अब्भणुण्णादो सि। ता आसणगदो होहि। जेण अहं वि सुहासीणो होमि।)

भोः, ब्राह्मणसंक्रामिताक्षरेण ते पितामहेनाभ्यनुज्ञातोऽसि। तदासनगतो भव। येनाहमपि सुखासीनो भवामि। (२२)

राजा–(विदूषकवचनं परिगृह्योपविष्टः परिजनं विलोक्य) **अभिव्यक्तायां चन्द्रिकायां किं दीपिकापौनरुक्त्येन। तद्विश्राम्यन्तु भवत्यः। (२३)**

रात्रौ मूर्च्छतां व्याप्नुवताम् तमसाम् अन्धकाराणाम् निहन्त्रे अपसारकाय हरचूडानिहितात्मने हरस्य शिवस्य चूडायां मौलौ निहितः स्थापितः आत्मा आत्मको देहो येन तस्मै शिवशिरःस्थिताय ते तुभ्यं नमः अस्तु। अतः तत्कार्यदर्शनात् साधूनामपि सत्कार्येषु प्रवृत्तिः जायत इतिभावः। औपच्छन्दसिकंवृत्तम्।

हि० टी०—*भगवन् चन्द्र ! सज्जन पुरुषों के कार्य में प्रसन्नता प्रकट करने वाले, अपने अमृत रस से पितरों तथा देवताओं को तृप्त करने वाले, फैले हुए अन्धकार को नाश करने वाले, और महादेव जी के मस्तक पर विराजमान होने वाले, आपके लिए मेरा नमस्कार है।*

(२२) ब्राह्मणे मयि संक्रमितानि समागमितानि अक्षराणि येन तेन, मम ब्राह्मणस्य मुखेन स्वाभिप्रायं प्रकटयति इत्यर्थः। अहं त्वां स्थातुं नोपदिशामि परं भगवान् चन्द्र एव ब्राह्मणस्य क्लेशदर्शनेऽसमर्थः सन् मन्मुखेन त्वामुपदिशति यत्त्वमासनगतो भवेति।

विदूषक—*हे मित्र ! चन्द्रमा आपको मुझ ब्राह्मण के द्वारा आसन में बैठने को कहते हैं; इस लिए आप आसन में बैठ जावें, ताकि मैं भी सुख से आसन पर बैठ जाऊं।*

(२३) अभिव्यक्तायां प्रकाशयुक्तायां, पुनरुक्तः–सर्वत्र चन्द्रादेव प्रकाशः पुनः दीपकधारणं निष्प्रयोजनमेव। परजनावस्थानं विश्रब्धालापे विघ्नोत्पादकम् अतो राज्ञः परिजनापसारणार्थमेवमुक्तिः।

राजा—(विदूषक के वचन को सुन कर बैठ गया, तथा परिजन को देख कर) *चन्द्रमा के प्रकाश करने पर दीपकों का जलाना व्यर्थ है, इस लिए तुम सब विश्राम करो।*

परिजनः--(जं देव आणवेदि ।) (इति निष्क्रान्तः ।)

यद्देव आज्ञापयति ।

राजा—(चन्द्रमवलोक्य) वयस्य ! परं मुहूर्तादागमनं देव्याः । तद्विविक्ते कथयामि त्वामवस्थाम् ।

विदूषकः—(भो, ण दीसदि एसा । किं दु ताए तारिसं अणुराअं पेक्खिअ सक्कं क्खु आसाबन्धेण अत्ताणअं धारिदुम् ।)

भोः, न दृश्यत एषा । किंतु तस्यास्तादृशमनुरागं प्रेक्ष्य शक्यं खल्वाशाबन्धेनात्मानं धारयितुम् ।

राजा—एवमेतत् बलवान्पुनर्मम मनसोऽभितापः ।

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः ।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयस्त्वनुगुणोभवति ॥ (२४)

परिजन—जो आपकी आज्ञा । (यह कह कर सारा परिजन चला गया ।)

राजा—(चन्द्र को देख कर) मित्र ! थोड़ी देर तक महारानी आने वाली है इस लिए एकान्त में, मैं तुम्हें अपनी दशा सुनाता हूं ।

विदूषक—हे मित्र ! उर्वशी का देखना अवश्य कठिन है, मगर उसका वैसा प्रेम देख कर निःसन्देह आशा के सहारे धैर्य धारण किया जा सकता है ।

राजा—मित्र ! तुम्हारा विचार ठीक है, मगर मेरा चित्त बहुत ही सन्तप्त होरहा है ।

(२४) अन्वयः—नद्या इति । विषमशिलासंकटस्खलितवेगः नद्याः प्रवाह इव, विघ्नितसमागमसुखः मनसिशयः तु अनुगुणः भवति ।

च० टी०—विषमेति विषमेषु निम्नोन्नतेषु शिलासंकटेषु स्खलितः प्रतिहतः वेगः रयः यस्य सः नद्याः प्रवाहः इव विघ्नितेति-विघ्नितं प्रतिबन्धकेन व्याहतं समागमसुखं यस्य सः मनसिशयः कामः अनुगुणः अतिशयः भवति । बाधां विना नदीवेगो यथा कठिनतर शिलासंकटेषु वेगरहितः सन् आकुलीभूय अन्तरुच्छलति तथा

विदूषकः—(जहा परिहीअमाणहिं अङ्गेहिं सोहसि तहा अच्छरेहिं समागमं दे पेक्खामि ।)

यथा परिहीयमाणैरङ्गैः शोभसे तथाऽप्सरोभिः समागमं ते प्रेक्ष्ये । (२५)

राजा—(निमित्तं सूचयन्)

वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथम् ।
अयमास्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः ॥ (२६)

कामोऽपि विघ्नितसमागमसुखः सन् आकुलीभूय अन्तरुच्छलति अन्तः अत्यर्थं वर्धते । आर्या वृत्तम् ।

हि० टी०—*जिस प्रकार नदी का वेग ऊंचे नीचे पत्थरों पर टकराने से कुछ रुक तो जाता है मगर खूब उछलता है उसी प्रकार उर्वशी के समागम के रास्ते में विघ्नित होकर कामदेव मेरे शरीर के अन्दर उछलता हुआ खूब बढ़ रहा है ।*

(२५) यतस्तेऽङ्गम्लानं ततस्तल्लाभेन सुखितंस्यादेव यतोहि—सुखस्यानन्तरं दुःखं, दुःखस्यानन्तरं सुखम् भवत्येव ।

विदूषक—*आप के क्षीण अङ्गों की शोभा से मुझे तो उस अप्सरा का समागम दीख रहा है ।*

राजा—(शुभ शकुन को प्रकट करता हुआ)

(२६) अन्वयः—वचोभिरिति । आशाजननैः वचोभिः भवानिव अयं दक्षिणः बाहुः आस्पन्दितैः गुरुव्यथम् माम् आश्वासयति ।

च० टी०—आशाजननैः आशोत्पादकैः वचोभिः वचनैः भवानिव भवत्सदृशः अयं दक्षिणः अपसव्यः (विदूषकपक्षे चतुरः) बाहुः आस्पन्दितैः स्फुरणैः गुरुव्यथम् गुर्वी व्यथा पीड़ा यस्य तम् अर्थात् मां आश्वासयति सान्त्वयति ।

हि० टी०—*आशा बंधाने वाले तुम्हारे वचनों के समान मेरी यह दाहिनी भुजा अपनी फड़कन से, अत्यन्त पीड़ा वाले मुझे धीरज बंधा रही है ।*

विदूषकः—(ण क्खु अण्णहा बम्हणस्स वअणं भोदि ।)
न खल्वन्यथा ब्राह्मणस्य वचनं भवति ।

(राजा सप्रत्याशास्तिष्ठति ।)

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन कृताभिरसणवेषा उर्वशी चित्रलेखा च ।)

उर्वशी—(आत्मानं विलोक्य) (सहि रोअदि दे मे अअं मोत्ताहरण-भूसिदो णीलंसुअपरिग्गहो अहिसारिआवेसो ।)

सखि ! रोचते ते मेऽयं मुक्ताभरणभूषितो नीलांसुकपरिग्रहोभिसारिकावेषः । (२७)

चित्रलेखा—(णत्थि मे वाआविहवो पसंसिदुम् । इदं तु चिन्तेमि । अवि-णाम अहं एव्व पुरूरवा भवेअं त्ति ।

नास्ति मे वाग्विभवः प्रशंसितुम् । इदं तु चिन्तयामि-अपि-नामाहमेव पुरूरवा भवेयमिति ?

उर्वशी-(सहि, असमत्था क्खु अहम् । तुमं आणेहि तं सिग्घम् । णेहि मं तस्सवा सुहअस्स वसदिम् ।)

सखि, असमर्था खल्वहम् । त्वमानय तं शीघ्रम् । नय मां तस्य वा सुभगस्य वसतिम् ।

विदूषक—ब्राह्मण का वचन मिथ्या नहीं हो सकता ।

(राजा आशा के साथ ठहरता है ।)

(इस के बाद आकाश के यान से अभिसारिका के वेष में उर्वशी तथा चित्रलेखा आती हैं ।)

(२७) मुक्ताभरणः त्यक्तभूषणः तथापि भूषितः । मुक्ताफलरूपाभरणमित्यर्थस्तु अन्धकाराभिसारिकायाः विरुद्ध इतिज्ञेयम् ।

उर्वशी—(अपने आप को देख कर) सखि ! अलङ्कारों (जेवरों) से रहित, तथा नीले वस्त्रों से युक्त यह अभिसारिका का वेष मुझे अच्छा लगता है ।

चित्रलेखा—इसकी प्रशंसा करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं । मुझे इस बात की चिन्ता है कि मैं ही पुरूरवा क्यों न हुई ।

उर्वशी—सखि ! मैं असमर्थ हो गई हूं । तुम उनको जल्दी ले आवो । अथवा मुझे ही उस प्रियतम के स्थान पर ले चलो ।

चित्रलेखा–(णं पडिबिम्बिअं विअ जामिणीजमुणाए केलाससिहरसस्सिरीअं दे पिअदमस्स भवणं उवगदम्ह ।)

नन्तु प्रतिबिम्बितमिव यामिनीयमुनायां कैलासशिखरसश्रीकं तेप्रियतमस्य भवनमुपगते स्वः । (२८)

उर्वशी— तेण हि प्पाहवेण जाणाहि कहिं सो म म हिअअचोरो किंवा अणुचिट्ठदि त्ति ।)

तेन हि प्रभावेन जानीहि कुत्र स मे हृदयचोरः किं वानुतिष्ठतीति ।

चित्रलेखा—(आत्मगतम्) भोदु । कीडिस्सं दाव एदाएसह। (प्रकाशम्) हला, दिट्ठो मये उवहोगक्खमे अवआसे मणोरहलद्धं पिआसमागम सुहं अणुभवन्तो चिट्ठदि ।)

भवतु । क्रीडिष्ये तावदेतयासह । सखि, दृष्टो मयोपभोगक्षमेऽवकाशे मनोरथलब्धं प्रियासमागमसुखमनुभवंस्तिष्ठति ।

उर्वशी--(अवेहि । हिअअं मे ण पतीअदि । हला चित्तलोहे, हिअए काउण किंवि जप्पासि । पिअसमागमस्स अगदो एव्व अणेण अवहरिदं मे हिअअम्)

---

(२८) यामिन्यां रात्रौ प्रतिबिम्बितं कैलाशशिखरमिव, यमुनायां कालिन्द्यां प्रतिबिम्बितं ते प्रियतमभवनम् उपगते स्वः प्राप्ते स्वः । अन्धकारस्य कृष्णवर्णत्वादधस्त्वाच्च तत्र श्वेतवर्णस्यकैलाशशिखरस्य प्रतिबिम्बग्रहणवत्, यमुनाया अपि कृष्णवर्णत्वात् अधस्त्वाच्च भवनस्य प्रतिबिम्बग्रहणसामर्थ्यम् ॥

चित्रलेखा–*सखि ! अब हम निःसन्देह रात्रि में प्रतिबिम्बित कैलाश पर्वत की सुफेद चोटी की तरह, यमुना में प्रतिबिम्बित होते हुए तुम्हारे प्राणवल्लभ के घर आ गई हैं ।*

उर्वशी—*तो तुम तिरस्करिणी विद्या के प्रभाव से मालूम करो कि वह मेरे हृदय को चुराने वाला कहां है ? और क्या कर रहा है ?*

चित्रलेखा—(**मन ही मन में**) *अस्तु इस के साथ थोड़ी देर क्रीड़ा करती हूं ।* (**प्रकट में**) *सखि ? मैंने तुम्हारे प्राण वल्लव को उपभोग के योग्य एकान्त में, अपनी प्राणप्यारी के साथ मनोरथ मात्र से समागम सुख को अनुभव करते हुए देखा है ।*

अपेहि । हृदयं मे न प्रत्येति । सखि चित्रलेखे, हृदये कृत्वा किमपि जल्पसि । प्रियसमागमस्याग्रत एवानेनापहृतं मे हृदयम् । (२९)

चित्रलेखा—(एसो मणिहम्मप्पासादगदो वअस्समेत्तसहाओ राएसी । ता उपसप्पह्म ।)

एष मणिहर्म्यप्रासादगतो वयस्यमात्रसहायो राजर्षिः । तदुपसर्पावः ।

(उभे अवतरतः ।)

राजा—वयस्य, रजन्या सह विजृम्भते मदनबाधा । (३०)

उर्वशी—(अणिब्भिण्णत्थेण इमिणा वअणेण आकम्पिदं मे हिअअम् । अन्तरिदा सुणुम्ह आलावम् । जाव णो संसअच्छेदो होदि ।)

अनिर्भिन्नार्थेनानेन वचनेनाकम्पितं मे हृदयम् । अन्तरिते शृणुव आलापम् । यावदावयोः संशयच्छेदो भवति ।(३१)

---

(२९) अपेहि दूरे भव, प्रत्येति विश्वसिति, जल्पसि कथयसि, अपहृतम् चोरितम् ।

उर्वशी—दूर भागजा । मेरा हृदय इस बात पर विश्वास नहीं करता । सखि ! चित्रलेखा ! तू अपने दिल से बात बना कर कह रही है । भला, प्रियसमागम से तो पाहिले ही इन्होंने मेरे दिल को चुरा लिया था ।

चित्रलेखा—सखि ! देख मणिमय महल के ऊपर महाराज अपने मित्र के साथ बैठे हैं । इस लिए उन के पास चलें ।

(दोनों रथ से उतरती हैं ।)

(३०) रजन्या सह रात्र्या सह, विजृम्भते प्रकाशते, मदनबाधा कामव्यथा ।

राजा—मित्र ! रात्रि के साथ साथ कामदेव की वेदना भी बढ़ रही है ।

(३१) अनिर्भिनार्थेन स्फुटमप्रकटितार्थेन, संशयच्छेदः सन्देहनाशः ।

उर्वशी—सखि ! महाराज के अस्पष्ट वचनों ने मेरे हृदय को कंपा दिया है । छिप कर इनकी बातें सुनें । जिस से हृदय का संशय दूर होजाय ।

चित्रलेखा—(जं दे रोअदि ।)

यत्ते रोचत ।

विदूषकः—(णं इमे अमिअगब्भा सेविअन्तु चन्दवादा ।)

नन्वेतेऽमृतगर्भाः सेव्यन्तां चन्द्रपादाः ।

राजा—वयस्य, एवमादिभिरनुपक्रम्योऽयमातङ्कः । पश्य । (३२)

कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं न चन्द्रमरीचयो
न च मलयजं सर्वाङ्गीणं न वा मणियष्टयः ।
मनसिजरुजं सा वा दिव्या ममालमपोहितुं
रहसि लघयेदारब्धा वा तदाश्रयिणी कथा ॥ (३३)

चित्रलेखा—*जो तुझे पसन्द हो ।*

विदूषक—*निःसन्देह इन अमृत से भरी हुई चन्द्र की किरणों का सेवन करो ।*

(३२ अनुपक्रम्यः दुरपनयः, आतङ्कः मदनज्वरः ।

राजा—*मित्र ! ऐसे उपायों से कामज्वर दूर नहीं हो सकता । देख—*

(३३) अन्वयः—कुसुमशयनमिति । कुसुमशयनं प्रत्यग्रं न, चन्द्रमरीचयः न, सर्वाङ्गीणं मलयजं च न, वा मणियष्टयः न, मम मनसिजरुजम् अपोहितु सा वा दिव्या अलम्, तदाश्रयिणीकथा रहसि आरब्धा वा मम मनसिजरुजं लघयेत् ।

च०टी०–कुसुमशयनं कुसुमानां पुष्पाणां शयनं शय्या प्रत्यग्रं नूतनं न, मथितमित्यर्थः । चन्द्रमरीचयः चन्द्रकिरणाः न, सर्वाङ्गीणं सर्वाङ्गव्यापि मलयजं चन्दनम् च न, वा अथवा मणियष्टयः मणियुक्ता हाराः न, मम (पुरूरवसः) मनसिजरुजं मदनबाधाम् अपोहितुम् दूरीकर्तुम् सा प्रसिद्धा दिव्या सुरलोकवासिनी (उर्वशी) अलम् समर्था, तदाश्रयिणी तद्विषयिणी कथा रहसि एकान्ते निर्जने स्थाने आरब्धा वा अथवा मम मनसिजरुजं कामपीडां लघयेत् लघूकुर्यात् । मम मदनबाधां दूरी कर्तुम् उर्वशी एव समर्था, तदाश्रयिणी कथा वा मम पीडां लघयेत् एतदन्यत् (कुसुमशयनादयो) मम पीडां दूरी कर्तुं न समर्थम् । "यष्टिः शस्त्रान्तरे चैव हारे हारात्परेऽपि च" इति विश्वलोचनः । हरिणीवृत्तम् ॥

उर्वशी--(हिअअ, जं दाणीं सि मं उज्झिअ इदो संकन्तं तस्स फलं तुए उवलद्धम् ।)

हृदय ! यदिदानीमसि मामुज्झित्वा इतः संक्रान्तं तस्य फलं त्वयोपलब्धम् । (३४)

विदूषकः-(आम । भो, अहंपि जदासि हारिणीं रसालं अ ण लहे तदा तं एव्व चिन्तयन्तो आसदोमि सुहम् ।)

आम । भोः, अहमपि यदा शिखरिणीं रसालं च न लभे तदा तदेव चिन्तयन्नासादयामि सुखम् । (३५)

राजा—**संपद्यत इदं भवतः ।**

हि० टी०--मित्र ! न तो नये २ फूलों की सेज (कामाग्नि से मुर्झाये हुए फूलों का शयन) न चन्द्रमा की किरणें, न सारे शरीर पर किया हुआ चन्दन का लेप, न शीतल स्पर्श वाले रत्नों की मालायें मेरी काम की पीड़ा को दूर कर सकती हैं । इस पीड़ा को या तो वह स्वर्गीय सुन्दरी उर्वशी दूर कर सकती है, अथवा एकान्त में बैठ कर उस सुन्दरी की चर्चा इस पीड़ा को कुछ कम कर सकती है ।

(३४) हृदय ! त्वं खलु कृती, अहंतु वञ्चितास्मि, उज्झित्वा त्यक्त्वा, इत इत्यस्मिन्राजनि, संक्रान्तं निविष्टम् ।

उर्वशी—हृदय ! इस वक्त मुझे छोड़कर जो तू इनके पास गया है तूने इसका फल पा लिया है ।

(३५) शिखरिणी—एलालवङ्गकर्पूरादिसुगन्धितद्रव्यमिश्रितं, दुग्धसितायुक्तं दधि । दधिस्थाने पक्वकदलीफलान्तः सारोऽपि शिखरिणीत्युच्यते । रसालमाम्रविशेषफलम् ।

विदूषक—मित्र ! ठीक है । मैं भी जब शिखरिणी (इलायची लौंग कपूर आदि सुगन्धित चीजों से युक्त और खांड या दूध से मिले हुए दही या केले) को तथा अच्छे आम के फलों को प्राप्त नहीं करता हूं तो उनकी चर्चा ही से जी बहलाया करता हूं ।

राजा—ये चीजें तो तुम्हें प्राप्त हो सकती हैं ।

विदूषकः—(तुमं वि तं अइरेण पाविहिसि ।)
त्वमपि तामचिरेण प्राप्स्यसि ।
राजा—सखे ! एवं मन्ये ।
चित्रलेखा—(सुणु असंतुट्टे ।)
शृणु असन्तुष्टे ।
विदूषकः—(कहं विअ ।)
कथमिव ।
राजा—इदं तया रथक्षोभादङ्गेनाङ्गं निपीडितम् ।
एकं कृति शरीरेऽस्मिन्शेषमङ्गं भुवो भरः ॥ (३६)
उर्वशी—[किं दाणीं अवरं विलम्बिस्सम् । (सहसोपगम्य) हला चित्तलेहे, अग्गदो वि मए हिदाए उदासीणो महाराओ ।]
किमिदानीमपरं विलम्बिष्ये । सखि चित्रलेखे, अग्रतोऽपि मम स्थिताया उदासीनो महाराजः ।

विदूषक–*तो तुम भी उर्वशी को जल्दी प्राप्त कर लोगे ।*
राजा–*हां, मैं भी ऐसा ही समझता हूं ।*
चित्र०–*असन्तुष्टे ! सुन ले ।*
विदूषक–*किस प्रकार ?*
राजा—(३६) अन्वयः—इदमिति । रथक्षोभात् तया अङ्गेन निपीडितम् इदम् एकम् अङ्गम्, अस्मिन् शरीरे कृति, शेषम् अङ्गम् भुवः भरः (अस्तीति शेषः) ।

च० टी०–रथक्षोभात् रथस्य क्षोभात् निम्नोन्नतप्रदेशेषु संचलनात् तया उर्वश्या अङ्गेन निपीड़ितम् प्राप्ततदङ्गसंघर्षणम् इदम् एकम् अङ्गम् शरीरैकदेशः अस्मिन् शरीरे मम शरीरमध्ये कृति कृतकार्यं सौभाग्यशालि इत्यर्थः । शेषमङ्गम् उर्वशीस्पर्शजन्यसुखरहितं भुवः पृथिव्याः भरः भारमेव अस्ति । निरर्थकत्वात् केवलं पृथिव्या भारभूतमेव वर्तत इतिभावः । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०–*मित्र ! रथ के झकोलों से मेरा जो अङ्ग (कन्धा) उर्वशी के अङ्ग के साथ छू गया था, मेरे सारे शरीर में वही अंग सौभाग्यशाली है । शेष अंग तो पृथ्वी भार मात्र हैं ।*

चित्रलेखा-(सस्मितम्) (अदितुवरिदे, असंक्खित्ततिरक्करिणी असि।)
अतित्वरिते ! असंक्षिप्ततिरस्करिण्यसि । (३७)

(नेपथ्ये)

(इदो इदो भट्टिणी ।)
इतो इतो भट्टिनी ।
(सर्वे कर्णं ददति । उर्वशी सह सख्या विषण्णा ।)
विदूषकः—(अयि भो, उवट्ठिदा देवी । ता सुमुद्दिदमुहो होहि ।)
अयि भोः, उपस्थिता देवी । तत्सुमुद्रितमुखो भव ।
राजा-भवानपि संवृताकारमास्ताम् ।
उर्वशी-(हला, किं एत्थ करणिज्जम् ।)
सखि, किमत्रकरणीयम् ?

उर्वशी—*सखि ! अपने को प्रकट करने में अब देर क्यों करूं ।*
(सहसा जाकर) *सखि चित्रलेखा ! सामने खड़ी होने पर भी महाराज मेरी ओर से उदासीन हैं ।*

(३७) असंक्षिप्ततिरस्करिणी—असंक्षिप्ता अनल्पीकृता तिरस्करिणी विद्या यस्याः सा, अद्यापि तिरस्करिण्या आवृतशरीराऽसि इत्यर्थः । अत एव अदृश्यायां त्वयि राज्ञः औदासीन्यम् ।

चित्र०—**(हंसी के साथ)** हे बावली ! तिरस्करिणी विद्या को बिना हटाये ही तू उनके सामने खड़ी है ।

(नेपथ्य में)

'महारानी ! इधर चलिये इधर' ।
(सब सुनते हैं । उर्वशी चित्रलेखा के साथ खेद प्रकट करती है ।)
विदूषक—हे राजन् ! महारानी आ गई हैं । इस लिये चुपचाप रहिए (ओठों पर ताला लगा लीजिए) ।
राजा—आप भी अपने आकार को छिपालें । अर्थात् ऐसा मुंह बनाकर बैठो, मानो कोई बात हुई ही नहीं है ।
उर्वशी—सखि ! अब क्या करना चाहिए ?

चित्रलेखा–(अलं आवेएण । अन्तरिदा दार्णी सि तुमम् । विहिदणिअमवेसा राअमहिसी दीसदि । ता एसा चिरं ण चिठ्ठिस्सदि त्ति ।)

अलमावेगेन । अन्तरिता इदानीमसि त्वम् । विहितनियमवेषा राजमहिषी दृश्यते । तदेषा चिरं न स्थास्यतीति । (३८)

(ततः प्रविशति धृतोपहारपरिजना देवी ।)

देवी—(**चन्द्रमालोक्य**) (एसो रोहिणीजोएण अहिअं सोहदि भअवं मिअलञ्छणो ।)

एष रोहिणीयोगेनाधिकं शोभते भगवान्मृगलाञ्छनः ।

चेटी–(णं संपज्जिसदि भट्टिणीसहिदस्स भट्टिणो विसेसरमणीअदा ।)

नूनं संपत्स्यते भट्टिनीसहितस्य भर्तुर्विशेषरमणीयता ।

(इति परिक्रामतः ।)

विदूषकः—(भो, णं जाणामि सोत्थिवाअणं वि देदि । आदु भवन्तं अन्तरेण चन्दव्वदव्ववदेसेण मुक्करोसा अज्ज मे अक्खीणं सुहदंसणा देवी ।)

भोः, ननु जानामि स्वस्तिवाचनमपि ददाति । उत भवन्तमन्तरेण चन्द्रव्रतव्यपदेशेन मुक्तरोषा अद्य मेऽक्ष्णोः सुखदर्शना देवी । (३९)

---

(३८) आवेगेन चित्तवेगेन, अन्तरिता तिरस्करिणीच्छिन्ना, विहितनियमवेषा विहितः कृतः नियमस्य व्रतस्य वेषः यया सा, व्रतोचितवेषपरिग्रहा इतिभावः ।

चित्रलेखा—घबरा मत । तू इस वक्त *तिरस्करिणी विद्या से छिपी हुई है । और महारानी ने व्रत के योग्य वेष बनाया हुआ है । इस लिए वे देर तक न ठहरेंगी ।*

[इसके बाद उपहार (पूजा की सामग्री) लिए हुए परिजन से युक्त रानी आती है ।]

देवी—(**चन्द्रमा की तरफ देखकर**) *रोहिणी के संयोग से भगवान् चन्द्रमा की शोभा अधिक बढ़ गई है ।*

चेटी–*निःसन्देह महारानी के साथ महाराज भी विशेष शोभित हो गए हैं । अर्थात् आपके आने से महाराज दूने सुशोभित हो गए हैं ।*

(इसके बाद दोनों घूमती हैं ।)

(३९) ननु जानामि, ननु इत्यर्थः । भवन्तमन्तरेण भवन्तमुद्दिश्य, व्यपदेशेन

राजा—(सस्मितम्) उभयमपि घटते। तथापि भवता यत्पश्चादभिहितं तन्मां प्रति भाति । यदत्र भवती—

सितांशुका मङ्गलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका ।
व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना मयि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते ॥ (४०)

मिषेण । स्वस्तिवाचनकेति–पितृदेवादिकर्मसु ब्राह्मणाः स्वस्तिवाचकाः, आशीर्वादकाश्च भवन्ति, यजमानोऽपि तेभ्यः यत्किञ्चिदभिलषितं धनखाद्यादिकं ददाति च । अथवा यदा देवी भवन्तमुद्दिश्य मिषतश्चन्द्रव्रतमाचरति, तदा दोषरहितैव, यतोऽयशुभदर्शना च; अतो मत्स्वस्तिवाचनिके सन्देहाभाव एव ।

विदूषक—*मित्र ! देखें महारानी मुझे स्वस्तिवाचनक भी देती हैं, या तुम्हें प्रसन्न करने के लिए चन्द्रमा का बहाना करके क्रोध रहित होकर केवल आज मेरी आंखों को सुख देती हैं ।*

राजा—(**हंसी के साथ**) *मित्र ! दोनों बातें हो सकती हैं । परन्तु फिर भी जो तुमने पीछे कहा है, मुझे वही अच्छा लगता है । क्योंकि यहां पर महारानी—*

(४०) **अन्वयः**—सितांशुकेति—सितांशुका मङ्गलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना वपुषा मयि प्रसन्ना एव लक्ष्यते ।

च० टी०—सितांशुका सितं शुभ्रं अंशुकं वस्त्रं यस्याः सा शुभ्रवस्त्रं परिदधाना, मङ्गलमात्रभूषणा माङ्गल्योचितचन्दनादिमात्रभूषणा पवित्रेति–पवित्रैः पूतैः दूर्वाङ्कुरैः लाञ्छिताः अङ्किताः अलकाः चूर्णकुन्तलाः यस्याः सा, व्रतेति–व्रतस्य अपदेशेन मिषेण उज्झिता त्यक्ता गर्वस्य अहंकारस्य वृत्तिः व्यापारो येन, तेन वपुषा शरीरेण मयि प्रसन्ना एव लक्ष्यते ज्ञायते। व्रताचरणेषु विनीतवृत्तिना भवितव्यमिति चिरन्तनसंस्कारेण त्यक्तगर्ववृत्तित्वात् वपुः प्रसन्नमिति तात्पर्यम् । "अलकाश्चूर्णकुन्तलाः" इत्यमरः । "व्याजोऽपदेशो लक्ष्यं च" इति च । वंशस्थं वृत्तम् ।

हि० टी०—*महारानी ने सफेद वस्त्र (दुपट्टा) ओढ़ा हुआ है, और मंगलमात्र भूषण पहने हैं, और अलकों में पवित्र दूर्वा के तिनके*

देवी—(**उपगम्य**) (जेदु जेदु महाराओ ।)

जयतु जयतु महाराजः ।

परिजनः—(जेदि जेदि देवो ।)

जयति जयति देवः ।

विदूषकः—(सोत्थि भोदिए ।)

स्वस्ति भवत्यै ।

राजा—**स्वागतं देव्यै ।** (तां हस्तेन गृहीत्वोपवेशयति ।)

उर्वशी—(ठाणे इअं वि देवीसद्देण उच्चारीअदि । णहि किं वि परिहीअदि सचीदो ओजस्सिदाए ।)

स्थाने इयमपि देवीशब्देनोच्चार्यते । नहि किमपि परिहीयते शचीत ओजस्वितया ।

चित्रलेखा—(अत्थि अवरं मुहं मन्तिदुं दे ।)

अस्त्यपरं मुखं मन्त्रयितुं ते ।

देवी—(अज्जउत्तं पुरोकदुअ को वि वदविसेसो मए संपादणीओ । ता मुहूत्तं उवरोधो सहीअदु ।)

लगाए हैं, इस लिए यही मालूम होता है कि व्रत के बहाने से अभिमान को छोड़कर मेरे ऊपर प्रसन्न सी दीखती है। अर्थात् प्रसन्नता प्रकट करने आई है ।

देवी—(**समीप जाकर**) *जय हो, महाराज की जय हो ।*

परिजन—*महाराज की जय हो ।*

विदूषक—*आपका कल्याण हो ।*

राजा—*देवि ! आपका शुभागमन हो ।* (**महारानी को हाथ से पकड़ कर बैठाता है ।**)

उर्वशी—*सखि ! महाराज ने ठीक ही इनको देवी कहकर पुकारा है, सचमुच यह रूप और तेज में इन्द्राणी से किसी बात में भी कम नहीं है ।*

चित्र०—*क्या तेरा सलाह करने का दूसरा मुंह है ? अर्थात् सौतों के गुण वर्णन करना एक ही मुख से असम्भव है ।*

आर्यपुत्रं पुरस्कृत्य कोऽपि व्रतविशेषो मया संपादनीयः। तन्मुहूर्तमुपरोधः सह्यताम्।

राजा—मा मैवम्। अनुग्रहः खलु नोपरोधः।

विदूषकः—(ईरिसो णं सोत्थिवाअणएहिं दे बहुसो उवरोधो होदु।)

ईदृशो ननु स्वस्तिवाचनकैस्ते बहुश उपरोधो भवतु।

राजा—किं नामधेयमेतद्देव्या व्रतम्?

(देवी निपुणिकामवलोकयति।)

निपुणिका—(भट्टा, पिअप्पसादणं णाम।)

भर्तः, प्रियप्रसादनं नाम।)

राजा—(देवीं विलोक्य) यद्येवम्—

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम्।
प्रसादमाकाङ्क्षति यस्तवोत्सुकः स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते।(४१)

देवी—*आर्यपुत्र! मैंने आपका पूजन करके एक विशेष व्रत को पूरा करना है, इस लिए घड़ी भर यहां ठहरने का कष्ट सहन करें।*

राजा—*नहीं, ऐसा न कहो; अनुग्रह कष्ट नहीं हो सकता।*

विदू०—*निःसन्देह इस तरह के स्वस्ति के वचनों से तुम्हें कई बार कष्ट उठाना पड़े।*

राजा—*देवि! आप के इस व्रत का क्या नाम है?*

(महारानी निपुणिका को देखती है।)

निपुणिका—*महाराज! इस व्रत का नाम है—"प्रियप्रसादन" (अर्थात् पति को प्रसन्न करने वाला व्रत।)*

राजा—(देवी की तरफ देखकर) *यदि ऐसे ही है तो—*

(४१) अन्वयः—अनेनेति। कल्याणि! अनेन व्रतेन मृणालकोमलं गात्रम् अकारणम् ग्लपयसि, यः उत्सुकः तव प्रसादम् आकाङ्क्षति, स दासजनः त्वया किं प्रसाद्यते?

च० टी०—हे कल्याणि! अनेन व्रतेन नियमेन मृणालकोमलम् मृणालवत् विसवत् कोमलं मृदु गात्रम् शरीरम् अकारणं कारणं विनैव व्यर्थमेवेति भावः। ग्लपयसि पीड़यसि, यः (पुरूरवाः) उत्सुकः

उर्वशी-(सवैलक्ष्यस्मितम्) (महन्तो क्खु एदस्स इमस्सिं बहुमाणो)
महान् खल्वेतस्यैतस्यां बहुमानः ।

चित्रलेखा-(अइ मुद्धे अण्णसंकन्तप्पेमाणो णाअरा भारिआए अहिअं दक्खिणा होन्ति।)
अयि, मुग्धे ! अन्यसंक्रान्तप्रेमाणो नागरा भार्यायामधिकं दक्षिणा भवन्ति । (४२)

देवी—(एदस्स वदस्स अअं पहाओ जं एत्तिअं वददि अज्जउत्तो ।)
एतस्य व्रतस्यायं प्रभावो यदेतावद्वदत्यार्यपुत्रः ।

विदूषकः—(विरमदु भवं । ण जुत्तं दे सुहासिदं प्पच्चक्खिदुम् ।)
विरमतु भवान् । न युक्तं तव सुभाषितं प्रत्याख्यातुम् । (४३)

उत्कण्ठितः तव प्रसादं प्रसन्नताम् आकाङ्क्षति वाञ्छति स दासजनः सेवकः त्वया किम् किमर्थं प्रसाद्यते प्रसन्नः क्रियते ? स तु तव सेवकः त्वां च प्रसन्नां वाञ्छति, अतस्तव अयं तस्य प्रसादोद्योगः निष्प्रयोजन एवेति निष्कर्षः । "प्रसादस्तु प्रसन्नता" इत्यमरः । वंशस्थं वृत्तम् ।

हि० टी०—हे कल्याणि ! इस कठोर व्रत से कमलतन्तु के समान कोमल अपने शरीर को तुम वृथा कष्ट दे रही हो । भला जो सेवक तुझे प्रसन्न करने के लिए उत्कण्ठित हो रहा है, उसे तू प्रसन्न करने के लिए क्यों यत्न कर रही है ?

उर्वशी—(आश्चर्य की हंसी के साथ) अहह ! महाराज के हृदय में इसके लिए बहुत सम्मान है।

(४२) अन्यसंक्रान्तप्रेमाणः अन्यासु इतरासु संक्रान्तं तं प्रेम येषां ते, नागराः नगरवासिनो जनाः दक्षिणाः अनुकूलाः ।

चित्र०—हे भोली ! दूसरी स्त्रियों के साथ प्रेम रखने वाले नागरिक लोग (बाहर से) अपनी स्त्रियों के प्रति बड़ी अनुकूलता (प्रेम) दिखाते हैं ।

देवी—महाराज ! यह प्रभाव इसी व्रत का है जो आप ऐसा "अनेन कल्याणि" कह रहे हैं । अर्थात् आप मेरा इतना मान कर रहे हैं ।

(४३) प्रत्याख्यातुं निराकर्तुम् । सुभाषितम्—"एतस्य व्रतस्येत्यादि" सुष्ठूक्तिः ।

देवी—(दारिआओ आणेध ओवहारिअं जाव हम्मगदे चन्दवादे अच्चेमि ।)

दारिकाः, आनयतौपहारिकं यावद्धर्म्यगतांश्चन्द्रपादानर्चयामि (४४)

परिजनः—(जं देवी आणवेदि । एसो उवहारो ।)

यद्देव्याज्ञापयति । एष उपहारः ।

देवी—[उवणेध (नाट्येन कुसुमादिभिश्चन्द्रपादानभ्यर्च्य ।)
हञ्जे, इमेहिं उवहारेहिं मोदएहिं अ अज्जमाणवअं कञ्चुइं अच्चेध ।]

उपनयत । चेट्यः, एतैरुपहारमौदकैः आर्यमाणवकं कञ्चुकि-नमर्चयत ।

परिजनः–(जं देवी आणवेदि । अज्ज माणवअ, एदं उववादिदं सोत्थिवाअणअं ।)

यद्देव्याज्ञापयति । आर्य माणवक, एतदुपपादितं स्वस्तिवाचनकम्

विदूषकः—(मोदकशरावं गृहीत्वा) (सोत्थि भोदीए । बहुफलं एदं वदं होदु ।)

स्वस्ति भवत्यै । बहुफलमेतद्व्रतं भवतु ।

चेटी—(अज्ज कञ्चुइ, इदं तुह ।)

विदूषक—*महाराज ! बस अब आप न बोलें । आपको सुभाषित (अच्छे कथन) का खण्डन करना उचित नहीं है ।*

(४४) दारिकाः कन्याः, औपहारिकं पूजासामग्री, हर्म्यगतान् प्रासादपृष्ठभाग-प्राप्तान्, चन्द्रपादान् चन्द्रकिरणान्, अर्चयामि पूजयामि ।

देवी—*कन्याओ ! पूजा की सामग्री लावो, मैं मणिमय महल में आई हुई चन्द्रमा की किरणों की पूजा करती हूं ।*

परिजन–*जो महारानी की आज्ञा । यह पूजा की सामग्री है ।*

देवी–*दो । दासियो ! इन उपहार के लड्डुओं से कञ्चुकी और आर्य माणवक (विदूषक) की पूजा करो । अर्थात् ये उन्हें देदो ।*

परिजन–*जो महारानी की आज्ञा । आर्य माणवक ! इस स्वस्ति-वाचनक को ग्रहण कीजिए ।*

विदूषक–(लड्डुओं का सकोरा लेकर) *आपका कल्याण हो । इस व्रत का बहुत फल हो ।*

आर्य कञ्चुकिन्, इदं तव।
कञ्चुकी—(गृहीत्वा) स्वस्ति देव्यै।
देवी—(अज्जउत्त, इदो दाव।)
आर्यपुत्र, इतस्तावत्।
राजा—अयमस्मि।
देवी-(राज्ञः पूजामभिनीय प्राञ्जलिः प्रणम्य च) (एसा देवदामिहुणं रोहिणीमिअलञ्छणं सक्खीकरिअ अज्जउत्तं अणुप्पसादेमि। अज्जप्पहुदि अज्जउत्तो जं इत्थिअं कामेदि, जा अज्जउत्तसमागमप्पणइणी, ताए सह अप्पदिबन्धेण वत्तिदव्वम्।)
एषा देवतामिथुनं रोहिणीमृगलाञ्छनं साक्षीकृत्य आर्यपुत्रमनुप्रसादयामि। अद्य प्रभृति आर्यपुत्रो यां स्त्रियं कामयते, या आर्यपुत्रसमागमप्रणयिनी तया सहाप्रतिबन्धेन वर्तितव्यम्। (४५)

चेटी—*आर्य कञ्चुकिन्! यह उपहार आपका है।*
कञ्चुकी-(लेकर) *देवी का कल्याण हो।*
देवी-*आर्यपुत्र! इधर आइये।*
राजा-*यह (उपस्थित) हूं।*

(४५) देवतामिथुनम् देवतायुगलम्, मृगलाञ्छनं चन्द्रम्, कामयते वाञ्छति, अत्र खलु ज्ञातव्यमध्येतृभिः—यत् राज्ञी सपत्नीलाभकामुका न कथितवती—'आर्यपुत्रो यां कामयते' इति। सा तु मनसि निदधौ यत्—'अहमेव राज्ञः प्रेयसी, नान्या, अतः मामेवायं प्रीणयतु' इति। उर्वशी अपि एतदेव वाक्यमात्मनोऽनुकूलं ज्ञातवती। ततश्चाग्रे—'अयि! देव्या दत्तो महाराजः' इति वक्ष्यति।

देवी—(राजा का पूजन करके और हाथ जोड़ तथा नमस्कार करके) *आर्यपुत्र! यह (मैं) देवताओं के जोड़े रोहिणी और चन्द्रमा को साक्षी करके आर्यपुत्र को प्रसन्न करती हूं। आज से लेकर महाराज जिस स्त्री को चाहेंगे, तथा जो स्त्री आप के समागम की प्रणयिनी होगी उस के साथ आप बिना प्रतिबन्ध (बेरोक) व्यवहार करें। विशेष—महारानी के कहने का अभिप्राय यह नहीं था कि राजा उर्वशी के साथ प्रेम करें। मगर उस ने सोचा था कि मैं ही राजा की प्यारी हूं और कोई नहीं।*

उर्वशी—(अम्महे, ण आणामि किं परं मे वअणम् । मम उण विस्सास-विसदं हिअअं संवुत्तम् ।)

अम्महे, न जानामि किं परमस्या वचनम् । मम पुनर्विश्वास-विशदं हृदयं संवृत्तम् । (४६)

चित्रलेखा-(सहि, महाणुभावाए पतिव्वदाए अब्भणुण्णादो अणन्तराओ दे पिअसमागमो भविस्सदि ।)

सखि, महानुभावया पतिव्रतयाभ्यनुज्ञातोऽनन्तरायस्ते प्रिय-समागमो भविष्यति ।

विदूषकः—(अपवार्य) [छिन्नहत्थो पुरदो वज्झे पलाइदोभणादि-'गच्छ धम्मो भविस्सदि' त्ति (प्रकाशम्) भोदि, किं उदासीणो तत्त भवं ।]

छिन्नहस्तः पुरतो वध्ये पलायिते भणति-'गच्छ धर्मो भवि-ष्यति' इति । भवति, किमुदासीनस्तत्र भवान् ? (४७)

देवी-(मूढ़, अहं खु अत्तणो सुहावसाणेण अज्जउत्तस्स सुहं इच्छामि । एत्तिएण चिन्तेहि दाव पिओ णवेति ।)

---

(४६) किं परं किमभिप्रायकम् । एषा किमुद्दिश्यैवं ब्रवीतीति न जाने-मम तु एतद्वाक्यश्रवणेनैव हृदयं विश्वस्तं जातम् ।

उर्वशी-ओह ! न जाने रानी का इन शब्दों से क्या अभिप्राय है ? मगर मेरे हृदय को इसके बचन सुनने से विश्वास हो गया है ।

चित्रलेखा—सखि ! महानुभाव पतिव्रता महारानी ने तुम्हारे और राजा के समागम के लिए स्वीकृति देदी है, इस लिए अब तुम्हारे प्रियसमागम में कोई विघ्न न होगा ।

(४७) उदासीनः संसारसुखविरतः । तत्र भवान् पूज्यः राजा किमद्यावधि त्वया उदासीनः कृतः ? त्वया परित्यक्तः राजापि तथाविधो जात इति तात्पर्यम् ।

विदूषक-(रानी से पृथक्) लूले (छिन्नहस्त) के सामने से अगर कोई बध्य (मारने लायक) भग जाय तो वह कहता है-'चला जा, धर्म होगा' (क्योंकि पकड़ तो सकता ही नहीं) (प्रकटता से) महारानी ! क्या पूज्य महाराज आपसे उदासीन हैं ?

मूढ़, अहं खल्वात्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रस्य सुखमिच्छामि। एतावता चिन्तय तावत्प्रियो न वेति।

राजा–दातुमसहने प्रभवस्यन्यस्यै कर्तुमेव वा दासम्।
नाहं पुनस्तथा त्वयि यथा हि मां शङ्कसे भीरु॥ (४८)

देवी–(भोदु मा वा जधा निद्दिट्ठं संपादिदं पिअप्पसादणं व्वदम्। आअच्छध परिजणा गच्छह्म।)

भवतु मा वा। यथा निर्दिष्टं सम्पादितं प्रियप्रसादनं व्रतम्। आगच्छत परिजनाः, गच्छामः।

राजा–प्रिये! न खलु प्रसादितोऽस्मि यदि सम्प्रति विहाय गम्यते।

देवी–(अज्जउत्त, ण लङ्घिदपुव्वो संपदं णिअमो। (इति सपरिजना निष्क्रान्ता।)

देवी–मूर्ख! निःसन्देह मैं तो अपने सम्पूर्ण सुखों को न्यौछावर करके भी महाराज के सुख को चाहती हूं। तू इतने ही से सोच ले कि वे मुझे प्यारे हैं या नहीं।

राजा—(४८) अन्वयः—दातुमिति। हे असहने! अन्यस्यै दातुम्, वा दासमेव कर्तुं प्रभवसि, हे भीरु! हि यथा मां शङ्कसे, त्वयि अहं तथा न (अस्मि)

च० टी०—हे असहने! हे असहिष्णो! अन्यस्यै कस्यै चिद्, दातुं वितारितुम्, वा अथवा, दासमेव सेवकमेव, कर्तुं विधातुं, प्रभवसि समर्थासि। हे भीरु! हे भयशीले! हि निश्चयेन यथा यादृक्, मां (पुरूरवसम्) शङ्कसे विचारयसि, त्वयि तव विषये, अहं तथा न अस्मि। त्वं यथा मां सम्भावयसि अहं तथा नास्मीति भावः। आर्यावृत्तम्

हि० टी०–हे असहने! मुझे तू चाहे किसी और स्त्री के हाथ सौंप दे, अथवा अपना ही दास बनाले, तू समर्थ है। हे भीरु! जो शंका तू मुझ पर करती है, मैं तेरे विषय में वैसा नहीं हूं।

देवी–आर्यपुत्र! तुम वैसे हो या न हो। मैंने तो यथा निर्दिष्ट प्रियप्रसादन व्रत कर लिया है दासियो! आओ, चलें।

राजा–प्रिये! मैं बिलकुल प्रसन्न नहीं हुआ हूं यदि इस प्रकार छोड़ कर जा रही हो।

आर्यपुत्र ! न लङ्घितपूर्वः सांप्रतं नियमः। (४९)

उर्वशी—(हला, पिअकलत्तो राएसी। न उण हिअअं णिवत्तेदुं सक्कणोमि।)

सखि ! प्रियकलत्रो राजर्षिः। न पुनर्हृदयं निवर्तयितुं शक्नोमि।

चित्रलेखा—(कधं त्थिरासो णिवत्तीअदि।)

कथं स्थिराशो निवर्त्यते। (५०)

राजा—(आसनमुपसृत्य) वयस्य ! न खलु दूरं गता देवी।

विदूषकः—(भण वीसद्धो जंसि वत्तुकामो। असाज्झो त्ति परिच्छिदिअ आदुरो विअ वेज्जेण अइरेण मुक्को तत्त भवं भोदीए।)

भण विस्रब्धो यदसि वक्तुकामः। असाध्य इति परिच्छिद्य आतुर इव वैद्येनाचिरेण मुक्तस्तत्रभवान्भवत्या। (५१)

---

(४९) पूर्वं लङ्घित इति लङ्घितपूर्वः। न लङ्घितपूर्वः पूर्वं व्रतविधानसमये यः नियमः न लङ्घितः न विघ्नितः। अर्थात्—इदानीं तु नियमः पूर्णतां गतः अतः नायं विघ्नस्यावसरः।

देवी—*आर्यपुत्र ! अब तो व्रत पूर्ण हो गया है, इसलिए अब विघ्नों का डर नहीं है।* (यह कह कर रानी परिजन के साथ चली गई।)

उर्वशी—*सखि ! महाराज का अपनी स्त्री में बहुत प्रेम है, यह जानकर भी मैं अपने हृदय को उन से लौटा नहीं सकती।*

(५०) अस्थिराशस्य निवर्तनं तूचितमेव, न पुनः स्थिराशस्य इति भावः।

चित्रलेखा—*सखि ! स्थिर आशा वाला (हृदय) किस प्रकार लौट सकता है ?*

राजा—(आसन के पास आकर) *मित्र ! निःसन्देह अभी रानी दूर नहीं गई है।*

(५१) भण कथय, विस्रब्धः निर्भयः, वक्तुकामः कथयितुकामः, परिच्छिद्य विभाव्य। मदधीनं यत् किमप्यौषधादिकमासीत् तेनायमसाध्यः अत इदानीमस्य परित्याग एव श्रेयानिति विभाव्य।

विदूषक—*मित्र !* (खुलम खुला) *कहिए जो कहना चाहते*

राजा—अपि नामोर्वशी ।
उर्वशी—(आत्मगतम्) (किदत्था भवे ।)
कृतार्था भवेत् ।

राजा—गूढं नूपुरशब्दमात्रमपि मे कान्तं श्रुतौ पातये—
त्पश्चादेत्य शनैः करोत्पलवृतं कुर्वीत वा लोचने ।
हर्म्येऽस्मिन्नवतीर्य स.ध्वसवशान्मन्दायमानाबला—
दानीयेत पदात्पदं चतुरया सख्या ममोपान्तिकम् ॥(५२)

हो । महारानी तो तुम को इस तरह छोड़ कर चली गई है जिस तरह असाध्य रोगी को वैद्य छोड़ जाता है ।

राजा—...क्या उर्वशी (इसका "गूढमित्यादि" पद्य के साथ सम्बन्ध है) ।

उर्वशी—(मन ही मन) कृतार्थ होगी, (राजा 'आपिनाम उर्वशी' इत्यादि कह ही रहा था कि बीच में ही उर्वशी 'कृतार्था-भवेत्' इस प्रकार अपने विषय में चिन्ता कर रही है-अपिनाम उर्वशी कृतार्था भवेत् ?) ।

(५२) अन्वयः–गूढमिति । (अपि नामोर्वशी) गूढं कान्तं नूपुरशब्द-मात्रमपि मे श्रुतौ पातयेत्, वा पश्चात् शनैः एत्य करोत्पलवृते लोचने कुर्वीत, अस्मिन् हर्म्ये अवतीर्य साध्वसवशात् मन्दायमाना, चतुरया सख्या बलात् ममोपान्तिकं पदात्पदम् आनीयेत ।

च० टी०—अपि नाम उर्वशी इति पूर्वेण सम्बन्धः । गूढं निभृतं सशङ्कपदसञ्चारादविस्पष्टम् इत्यर्थः । कान्तं मनोज्ञं नूपुरशब्दमात्र-मपि मञ्जीरशिञ्जितमात्रमपि मे मम श्रुतौ कर्णे पातयेत् कर्णगोचरं कुर्यात् ? वा अथवा पश्चात् पृष्ठतः शनैः मन्दं मन्दम् एत्य आगत्य मे लोचने नेत्रे करोत्पलवृते करौ हस्तौ उत्पले कमले इव, ताभ्याम् वृते आच्छादिते कुर्वीत ? अस्मिन् हर्म्ये प्रासादे अवतीर्य अवतीर्णा भूत्वा साध्वसवशात् भयवशात् मन्दायमाना मन्थरगतिरितिभावः । चतुरया प्रवीणया सख्या बलात् हठात् मम उपान्तिकं समीपम्

चित्रलेखा—(हला उव्वसि, इमं दाव से मणोरहं संपादेहि ।)
सखि उर्वशि, इमं तावदस्य मनोरथं सम्पादय ।
उर्वशी—(ससाध्वसम्) (कीडिस्सं दाव ।)
क्रीडिष्ये तावत् । (इति पृष्ठेनागत्य राज्ञो लोचन संवृणोति ।)
(चित्रलेखा विदूषकं संज्ञां लम्भयति)
राजा-(स्पर्शं रूपयित्वा) सखे, न खलु नारायणोरुसंभवा वरोरुः।
विदूषकः—(कधं भवं अवगच्छदि ।)
कथं भवानवगच्छति ?
राजा-किमत्र ज्ञेयम्-

पदात् पदम् कथमपि अतिकठिनतयेत्यर्थः, आनीयेत ? "मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः । "भीतिर्भीः साध्वसं भयम्" इति च । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

राजा—*क्या प्यारी उर्वशी अपने मन्द और मनोहर झांझरों की झंकारमात्र ही मेरे कानों में डालेगी ? या दबे पांव पीछे से आकर मेरी आंखों को अपने कमल के समान हाथों से मूंदेगी ! (अर्थात् मेरे साथ आंखमिचौनी खेलेगी !) और मेरे महल में उतर कर, भय से मेरे पास शीघ्र न आती हुई भी चतुर सखी द्वारा किसी प्रकार बल से मेरे पास लाई जावेगी ?*

चित्र०—*सखि उर्वशि ! इनके इस मनोरथ को सिद्ध कर ।*

उर्वशी—(भय के साथ) हां, *मैं क्रीड़ा अवश्य करूंगी।* (यह कह पीछे से आकर राजा की आंखें बंद करती है।)

(चित्रलेखा विदूषक को चैतन्य करती है।)

राजा—(उर्वशी के हाथों का स्पर्श अनुभव करके) *मित्र ! जरूर यह नारायण की जांघ से उत्पन्न हुई उर्वशी नहीं है ?*

विदूषक—*आप किस तरह जानते हैं ?*

राजा—*इसमें जानने की कौन सी बात है:—*

अन्यत्कथमित्र पुलकैः कलितं मम गात्रकं करस्पर्शात् ।
नोच्छ्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्यैवांशुभिः कुमुदम् ॥ (५३)

उर्वशी–(अम्महे, वज्जलेवघडिदं विअ मे हत्थजुअलं ण समत्थाम्हि अवणेदुम्)
अम्महे, वज्रलेपघटितमिव मे हस्तयुगलं न समर्थास्म्यपनेतुम्। (५४)

(इति मुकुलिताक्षी चक्षुषो हस्तावपनीय ससाध्वसा तिष्ठति ।)

(राजा हस्ताभ्यां गृहीत्वा परिवर्तयति ।)

उर्वशी—(कथंचिदुपसृत्य) (जेदु जेदु महाराओ ।)

---

(५३) अन्वयः–अन्यदिति । (अस्याः) करस्पर्शात् पुलकैः कलितम् मम गात्रकम् अन्यत् इव कथम् ? कुमुदम् तपनकिरणैः न उच्छ्वसिति, चन्द्रस्य एव अंशुभिः (उच्छ्वसिति ।)

च० टी०–अस्याः उर्वश्याः करस्पर्शात् हस्तस्पर्शात् पुलकैः रोमराजिभिः कलितं युक्तं रोमाञ्चितं सदित्यर्थः मम (पुरूरवसः) गात्रकं शरीरं अन्यत् इव अनिर्वचनीयावस्थं कथं जातमिति शेषः ! कुमुदम् कैरवं तपनकिरणैः तपनस्य सूर्यस्य किरणैः अंशुभिः न उच्छ्वसिति न विकसति, चन्द्रस्यैव अंशुभिः किरणैः विकसतीति शेषः । अर्थात् कुमुदवन्मे गात्रं चन्द्रकिरणवद् उर्वशी करस्पर्शात् विकसति इतितात्पर्यम् । "कुमुदकैरवे" इत्यमरः । आर्या वृत्तम् ॥

हि० टी०—*मित्र ! उर्वशी के हाथों के स्पर्श से मेरा शरीर रोमाञ्चित होकर कुछ और का और ही हो गया है । चन्द्रमा की किरणों से ही कुमुद खिला करता है; सूर्य की किरणों से नहीं ।*

(५४) वज्रलेपघटितम् वज्रलेपबद्धम्, अपनेतुम् दूरीकर्तुम् । अनेन राज्ञः शरीरस्पर्शादात्मनः शरीरस्यावशत्वं सूचितम् ।

उर्वशी—*अहो ! मेरे हाथ मानो वज्रलेप से चिमट गए हैं । मैं इनको हटाने में असमर्थ हूं ।*

(इस प्रकार आंख को बंद करके और राजा की आंख से हाथ हटा कर कांपती हुई उर्वशी खड़ी रहती है ।)

(राजा हाथों से पकड़ कर घुमाता है ।)

जयतु जयतु महाराजः ।

चित्रलेखा—(सुहं दे वअस्स ।)

सुखं ते वयस्य !

राजा—**नन्वेतदुपपन्नम् ।**

उर्वशी—(हला, देवीए दिण्णो महाराओ । अदो से प्पणयवदी विअ सरीर-संगदाम्हि । मा खु मं पुरोभाइणी त्ति समत्थेहि ।)

सखि, देव्यादत्तो महाराजः । अतोऽस्य प्रणयवतीव शरीर-संगतास्मि । मा खलु मां पुरोभागिनीति समर्थय । (५५)

विदूषकः—(कधं इह ज्जेव तुम्हाणं अत्थमिदो सूरो ।)

कथमत्रैव युवयोरस्तमितः सूरः ।

राजा—(उर्वशीमवलोक्य)

देव्या दत्त इति यदि व्यापारं व्रजसि मे शरीरेऽस्मिन् ।
प्रथमं कस्यानुमते चोरितमयि मे त्वया हृदयम् ॥ (५६)

उर्वशी—(**कुछ समीप जाकर**) *जय हो, महाराज की जय हो।*

चित्र०—*महाराज ! सुखी तो हैं ?*

राजा—*निःसन्देह अब सुखी हो गया हूं ।*

(५५) कर्मसु अग्रगामित्वं पुरोभागित्वम् । ननु अत्र विना वार्तया कथमहमस्य शरीरसङ्गत्वात् पुरोभागिनी सञ्जाता ? इति तन्न, देव्या प्रदानात् । देवी खलु अस्य प्रणयिनी अहमपि तद्वितभावः । "हीनलज्जाः स्त्रियः शोच्याः" इति कथनात् ।

उर्वशी—*सखि ! देवी ने अपने महाराज मुझे दे दिए हैं । इस लिए देवी की तरह मैं भी इनके शरीर वाली हो गई हूं मुझे पुरोभा-गिनी (पहले ही निर्लज्ज स्त्रियों की तरह कार्य करने वाली) न समझना ।*

विदूषक—*अहो ! तुम दोनों ने तो (बातों ही बातों में) सूर्य को अस्त कर दिया ।*

राजा—(**उर्वशी को देखकर**)

(५८) **अन्वयः**—देव्या इति । यदि देव्या दत्त इति मे अस्मिन् शरीरे व्यापारं व्रजसि, अयि, प्रथमं त्वया कस्य अनुमते मे हृदयं चोरितम् ?

चित्रलेखा—(वअस्स, णिरुत्तरा एसा। मम संपदं विण्णविअं सुणीअदु।)
वयस्य, निरुत्तरैषा। मम साम्प्रतं विज्ञापितं श्रूयताम्।

राजा—**अवहितोऽस्मि।**

चित्रलेखा–(वसन्ताणन्तरं उण्णसमए भअवं सुज्जो मए उवअरिदव्वो। ता जधा इअं मे पिअसही सग्गस्स ण उक्कण्ठेदि तहा वअस्सेण कादव्वम्।)
वसन्तानन्तरमुष्णसमये भगवान्सूर्यो मयोपचरितव्यः। तद्यथेयं मे प्रियसखी स्वर्गस्य नोत्कण्ठते तथा वयस्येन कर्तव्यम्। (५७)

विदूषकः–(भोदि किं वा सग्गे सुमरिदव्वम्। ण तत्थ खाईअदि ण पीअदि। केवलं अणिमिसेहिं अच्छीहिं मीणदा अवलम्बीअदि।)
भवति ! किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम्। न तत्र खाद्यते न पीयते। केवलमनिमिषैरक्षिभिर्मीनतावलम्ब्यते।

च० टी०—यदि देव्या राज्ञा दत्तः इति मे मम अस्मिन् शरीरे अङ्गे व्यापारम् आलिङ्गनाद्यारम्भम् व्रजसि गच्छसि। अयि ! उर्वशि ! (तदा) प्रथमम् देवीप्रदानात् पूर्वम् त्वया कस्य अनुमते अनुमतौ सत्याम् आज्ञयेत्यर्थः मे मम हृदयं मनः चोरितम्। त्वया तु मे चेतः देवीप्रदानात् प्रागेव हृतमासीदितिभावः। आर्याच्छन्दः।

हि टी०—*सुन्दरि ! यदि 'देवी ने दिया है' इसी लिए तू मेरे शरीर में आलिङ्गनादि करती है, तो इससे पहले किसकी अनुमति से तूने मेरे हृदय को चुरा लिया था।*

चित्रलेखा—*मित्र ! इसका उत्तर उर्वशी नहीं दे सकती, अब मेरी भी एक प्रार्थना सुन लीजिए।*

राजा–(*हां हां कहो, मैं सुनने के लिए*) *सावधान हूं।*

(५७) उष्णसमये ग्रीष्मर्तौ, उपचरितव्यः सेवनीयः, वसन्तानन्तरमित्यादिकस्य नियूढार्थः स्वयमेव विभावनीयः। अनेन च भाविविरहसूचनमपि ज्ञातव्यम्।

चित्र०–*राजन् ! बसन्त ऋतु के बाद ग्रीष्मकाल में मैंने भगवान् सूर्य की सेवा करनी है। सो जिस प्रकार मेरी प्यारी सखी स्वर्ग जाने के लिए उत्कण्ठित न हो, आपने उसके साथ वैसा व्यवहार करना।*

राजा—वयस्य !

अनिर्देश्यसुखं स्वर्गं कथं विस्मारयिष्यते ।

अनन्यनारीसामान्यो दासस्त्वस्याः पुरूरवाः ॥ (५८)

चित्रलेखा–(अणुगिहीदम्हि । हला उव्वसी, अकादरा भविअ विसज्जेहि मम्)

अनुगृहीतास्मि । सखि उर्वशि, अकातरा भूत्वा विसर्जय माम् ।

उर्वशी–(चित्रलेखां परिष्वज्य सकरुणम्) [सहि मा खु मं विसुमरेसि ।]

सखि, मा खलु मां विस्मरिष्यसि ।

विदूषक—*चित्रलेखा ! स्वर्ग में याद करने योग्य है ही क्या, न वहां खाया जाता है, न पिया जाता है, वहां केवल टकटकी लगाए (बिना आंख झपके) मछलियों की तरह रहना पड़ता है ।*

राजा—*मित्र !*

(५८) अन्वयः–अनिर्देश्यसुखमिति । अनिर्देश्यसुखं स्वर्गं कथं विस्मारयिष्यते, अनन्यनारीसामान्यः पुरूरवाः तु अस्याः दासः (अस्ति ।)

च० टी०–अनिर्देश्यं वक्तुमशक्यं सुखं यस्य, तत्स्वर्गं कथं केन प्रकारेण विस्मारयिष्यते विस्मर्तुमशक्यमित्यर्थः। अनन्यनारीसामान्यः न अन्यनारीषु सामान्यः साधारणःअसाधारण इत्यर्थःपुरूरवाःतुःपरम् अस्याः उर्वश्याः दासः सेवकः अस्ति । यथाहम् अन्यनारीषु सामान्य-स्तथा त्वयिन, त्वयितु विशेषप्रणयवान्, दासवच्चोपचरिष्यामि च, अतः सुखपूर्ण स्वर्गविस्मारणे कथमहं क्षमः स्याम् ? अनुष्टुप् छन्दः ।

हि०टी०–*मित्र ! अवर्णनीय सुखों वाला स्वर्ग किस प्रकार भुलाया जा सकता है । किन्तु पुरूरवा (भी) इसका (उर्वशि का) असाधारण दास है ।*

चित्रलेखा–*मैं कृतार्थ हो गई हूं । सखि उर्वशी, अब कातर न होकर मुझे विदा कर ।*

उर्वशी—(*चित्रलेखा की छाती से छाती मिलाकर करुणा के साथ*) *सखि ! मैं विश्वास करती हूं कि तू मुझे न भूलेगी ।*

चित्रलेखा–(सस्मितम्) [वअस्सेण संगदा तुमं मए एव्वं जाचिदव्वा।] **वयस्येन संगता त्वं मयैवं याचितव्या।** (५९) (इति राजानं प्रणम्य निष्क्रान्ता)

विदूषकः—(दिट्ठिआ मणोरहसिद्धीए वट्टदि भवम्।)

दिष्ट्या मनोरथसिद्धया वर्तते भवान्।

राजा–**इमां तावन्मनोरथसिद्धिं पश्य—**

सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठमेकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम्।
अस्याःसखे चरणयोरहमद्य कान्तमाज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः॥

---

(५९) वयस्यसङ्गतायास्तवैवं सम्भाव्यते न पुनर्मम। विस्मरणे खलु राज्ञः प्रेमैव हेतुर्भविष्यति, अतस्त्वमेव मां विस्मरिष्यसि नाहमिति भावः।

चित्रलेखा–(**हंसी के साथ**) *सखि! मुझे ही तुझ से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये क्योंकि पुरूरवा से तेरा सम्बन्ध होगया है इसलिए सम्भव है कि तू उसके प्रेम में मुझे भूल जाय।* (**यह कह राजा को प्रणाम करके चली गई।**)

विदूषक–*मित्र! भाग्यवश आपका मनोरथ सिद्ध हुआ है।*

राजा—*मित्र! मेरी इस मनोरथ सिद्धि को तो देख—*

(६०) **अन्वयः**—सामन्तेति। सखे! यथा अहम् अद्य अस्याः चरणयोः कान्तम् आज्ञाकरत्वम् अधिगम्य कृतार्थः (अस्मि) तथा सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठम् अवनेः एकातपत्रं प्रभुत्वं-अधिगम्य कृतार्थः न (अस्मि)।

च० टी०–**सखे! यथा अहम्, पुरूरवाः अद्य अस्याः उर्वश्याः चरणयोः पादयोः कान्तं सुन्दरम्, आज्ञाकरत्वम् सेवकत्वम्, अधिगम्य प्राप्य, कृतार्थः कृतकृत्यः अस्मि, तथा सामन्तेति–सामन्तानाम् अधीशानाम् मौलयः किरीटाः तेषां मणिभिः रत्नैः रञ्जितं भूषितं पादपीठं यस्य तत् अवनेः पृथिव्याः एकातपत्रम् एकच्छत्रम् प्रभुत्वम् स्वाम्यम्, अधिगम्य प्राप्य कृतार्थः कृतकृत्यः नास्मि। त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं प्राप्य नाहं तथा कृतार्थः यथास्याः सेवकत्वं प्राप्येतिभावः। "सामन्तः स्यादधीश्वरे" इत्यमरः। "चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः" इति च। वसन्ततिलका छन्दः।**

उर्वशी—(णत्थि मे वाआविहवो अदो अवरं मन्तिदुम्)

नास्ति मे वाग्विभवोऽतोऽपरं मन्त्रयितुम्।

राजा—(उर्वशीं हस्तेनावलम्ब्य) **अहो ! अविरुद्धसंवर्धनमेतदिदानीमीप्सितलम्भानाम्। (६१) यतः—**

पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रम्
बाणास्त एव मदनस्य मनोऽनुकूलाः।
संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि यद्यदासी—
त्त्वत्सङ्गमेन मम तत्तदिवानुनीतम्॥ (६२)

हि० टी०—*सखे ! सारी पृथिवी के राजाओं के मुकुटों की माणियों से रंगे हुए इस एक राज्य-छत्र के प्रभुत्व (हकूमत) को पा कर भी मैं अपने को वैसा कृतार्थ नहीं समझता जैसा कि इस सुन्दरी के चरणों में बैठ कर इसकी आज्ञा मानने में अपने को कृतार्थ समझता हूं।*

उर्वशी—*महाराज ! इस से अधिक कहने के लिए मेरे पास वाणी का ऐश्वर्य नहीं है।*

(६१) अविरुद्धसंवर्धनम् आतिशय्यं विरुद्धं नास्ति, ईप्सितलम्भानाम् वाञ्छितप्राप्तीनाम् इदानीं चन्द्रपादादीनामातिशय्यम् विरुद्धं नास्ति। कांक्षितमेलकत्वात्तेषामाधिक्यमिदानीं मे सुखकरमेव, न मत्सम्बन्धे विरुद्धमिति भावः।

राजा—(**उर्वशी को हाथ से पकड़ कर**) *अहो ! इस समय चन्द्र-किरणादियों का बढ़ जाना मेरी मनोकामनाओं के विरुद्ध नहीं है। क्योंकि—*

(६२) **अन्वयः**—पादा इति। ते एव शशिनः पादाः गात्रं सुखयन्ति, ते एव मदनस्य बाणाः मनोऽनुकूलाः (जाताः।) सुन्दरि ! यत् यत् संरम्भरूक्षम् इव आसीत्, तत् तत् त्वत्सङ्गमेन मम अनुनीतम् इव (जातम्।)

चं० टी०—**ते सन्तापदायिनः एव शशिनः चन्द्रमसः पादाः किरणाः गात्रं सुखयन्ति सुखी कुर्वन्ति, ते अङ्गच्छेदकाः एव मदनस्य**

उर्वशी—(अवराद्धाम्हि चिरआरिआ महाराजस्स ।)
अपराद्धास्मि चिरकालिका महाराजस्य ।
राजा—सुन्दरि ! मा मैवम् ।

यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम् ।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ॥ (६३)

कामस्य वाणाः शराः मनोऽनुकूलाः मनसः चेतसः अनुकूलाः अनुवर्तिनः जाताः इतिशेषः । हे सुन्दरि ! यत् यत् वस्तु पूर्वं संरम्भरूक्षम् रोषदारुणम् इव आसीत् तत् तत् वस्तु त्वत्सङ्गमेन तव सङ्गत्या मम पुरूरवसः अनुनीतम् कृतसान्त्वनमिव जातम् । उर्वशीमिलनात् पूर्वं ये सन्तापदायिनः चन्द्रकिरणाः आसन्, इदानीम् उर्वशीलाभे त एव सुखयन्ति, कामबाणा अपि अनुकूलाः जाताः, रुष्टमपि वस्तु इदानीं मां सान्त्वयतीति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

हि० टी०–वही चन्द्रमा की किरणें, जो पहले मेरे अङ्गों को जलाती थीं, अब सुख दे रही हैं । कामदेव के वही बाण, जो पहले मेरे हृदय को छेद डालते थे, अब मुझे प्यारे लगते हैं । हे सुन्दरि ! तेरे मिलने से पूर्व जो चीज क्रोध से भयंकर जान पड़ती थी, अब वही चीज मेरे चित्त को सान्त्वना दे रही है । अर्थात् जो २ वस्तु मेरे विपरीत थी, अब वही अनुकूल हो गई है ।

उर्वशी–महाराज ! मैंने बड़ा अपराध किया जो आपको मिलने में देर लगाई ।

राजा—नहीं, सुन्दरि ! ऐसा न कहो ।

(६३) अन्वयः—यदिति । दुःखात् यत् एव सुखम् उपननम्, तत् रसवतरम (भवति) हि तरुच्छाया तप्तस्य निर्वाणाय विशेषतः (भवति) ।

च० टी०–दुःखात् पीडोत्तरम् दुःखानन्तरमित्यर्थः, यदेव सुखम् उपनतम् प्राप्तम्, तत् सुखम् रसवत्तरम् स्वादुतरम्, भवति । हि यतः तरुच्छाया वृक्षस्य छाया तप्तस्य आतपपीडितस्य निर्वाणाय

विदूषकः—(भोदि, सेविदा पदोसरमणीआ चन्दवादा । ता समओ खु दे गेहप्पवेसस्स ।)

भवति ! सेविताः प्रदोषरमणीयाश्चन्द्रपादाः । तत्समयः खलु ते गेहप्रवेशस्य ।

राजा—तेन हि सख्या मार्गमादेशय ।

विदूषकः—(इदो इदो भोदी ।)

इत इतो भवती ।

(इति परिक्रामन्ति ।)

राजा—सुन्दरि, इयमिदानीं मे प्रार्थना ।

उर्वशी—(कीरिसी सा ।)

कीदृशी सा ?

सुखाय विशेषतः, अतिसुखायेत्यर्थः । 'सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते' इति वचनात् दुःखोत्तरकाले सुखमत्यानन्ददायि भवतीति तात्पर्यम् । अनुष्टुव् वृत्तम् ॥

हि० टी०—जो दुःख के बाद सुख होता है वही अधिक आनंद देता है, जिस प्रकार धूप से घबड़ाये हुए को वृक्ष की छाया विशेष सुख देती है ।

विदूषक—*श्रीमति ! तुमने रात्रि में रमणीय चन्द्रिका की बहार तो देखली, अब तुम्हारा राज महल में प्रवेश करने का समय आ गया है ।*

राजा—*इसलिए श्रीमती को सखी द्वारा रास्ता दिखलाओ ?*

विदू०—*इधर आइये, श्रीमति ! इधर आइये ।*

(सब घूमते हैं ।)

राजा—*सुन्दरि ! अब केवल मेरी एक प्रार्थना (अभिलाषा) है ।*

उर्वशी—*वह कौनसी ?*

राजा—अनधिगतमनोरथस्य पूर्वं,
शतगुणितेव गता मम त्रियामा ।
यदि तु तव समागमे तथैव,
प्रसरति सुभ्रु ! ततः कृती भवेयम् ॥ (६४)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति श्रीकविकुलचूड़ामणि-महाकवि-कालिदास-प्रणीते
विक्रमोर्वशीये त्रोटके तृतीयोऽङ्कः समाप्तः ।

---

(६४) अन्वयः—अनधिगतेति। हे सुभ्रु ! पूर्वम् अनधिगतमनोरथस्य मम त्रियामा शतगुणिता इव गता, यदि तु तव समागमे तथा एव प्रसरति, ततः कृतां भवेयम् ।

च० टी०—हे सुभ्रु ! पूर्वं त्वत्सङ्गमात् पूर्वम्, अनधिगतमनोरथस्य अनधिगतः अप्राप्तः अपूर्ण इति यावत्, मनोरथः मनःकामना यस्य तथा भूतस्य अप्राप्तत्वत्समागमसुखाभिलाषस्येत्यर्थः, मम पुरूरवसः त्रियामा प्रहरत्रयसमन्विता रात्रिः शतगुणिता त्रिशतप्रहरसमन्वितेव गता। विरहपीड़ापीड़ितेन रात्रयो दीर्घा अनुभूयन्ते । किंतु यदि इदानीं तव (उर्वश्याः) समागमे तथैव शतगुणितैव रात्रिः प्रसरति गच्छति ततः कृती कृतार्थो भवेयम् । पुष्पिताग्रा च्छन्दः ।

हि० टी०—हे सुन्दर भवों वाली ! तुम्हें न पाने से पूर्व मुझे रात्रि सौगुनी मालूम होती थी यदि अब तेरे समागम पर भी वैसे ही सौगुनी मालूम हो जावे तो मैं अपने को कृतार्थ समझूं ।

(सब चले गये ।)

इति श्रीमद्विद्वद्वर-पण्डित-हृदयराम-तनय-कविरत्न चक्रधर 'हंस'-प्रणीतायां चन्द्रकलायां तृतीयकला समाप्ता ।

चतुर्थोऽङ्कः ।

(नेपथ्ये सहजन्याचित्रलेखयोः प्रावेशिक्याक्षिप्तिका ।) (क)

(पिअसहिविओअविमणा सहिसहिआ व्वाउला समुल्लवइ ।
सूरकरफंसविअसिअतामरसे सरवरुच्छङ्गे ॥)

प्रियसखीवियोगविमनाः सखीसहिता व्याकुला समुल्लपति ।
सूर्यकरस्पर्शविकसिततामरसे सरोवरोत्सङ्गे ॥ (१)

(नेपथ्य में सहजन्या तथा चित्रलेखा के प्रवेश को सूचित करने वाली आक्षिप्तिका नामक गीति गाई जाती है ।)

(१) अन्वयः—प्रियेति । सूर्यकरस्पर्शविकसिततामरसे सरोवरोत्सङ्गे प्रिय-सखीवियोगविमानाः सखीसाहिता व्याकुला (हंसी) समुल्लपति ।

च०टी०-सूर्येति-सूर्यस्य कराणां रश्मीनां स्पर्शेन संपर्केण विकसितानि प्रफुल्लानि तामरसानि कमलानि यत्र तस्मिन् नवोदितसूर्यकिरण-स्पर्शविकचपद्मे, सरोवरोत्सङ्गे सरोवरस्य तडागस्य उत्सङ्गे उपान्ते प्रियेति-प्रियसख्याः वियोगेन विरहेण विमनाः दुर्मनाः सखीसहिता व्याकुला विरहविधुरेत्यर्थः हंसीतिशेषः समुल्लपति विरौति । हंसी-च्छलतः सहजन्यासहितायाश्चित्रलेखायाः प्रवेशः सूच्यते । उर्वशी-विरहदूनचेताः सहजन्योपेता विह्वला तड़ागोपान्तोपविष्टा चित्रलेखा विलपतीत्यर्थः । हंसीपक्षे यथा सुखजनकमपि सरः केवलं दुःखाय विरहितत्वात्, तथैव चित्रलेखापक्षेऽपि सरः प्रियसखीविरहितत्वात् दुःखकारणं जातम् । प्रियवस्तु प्रियसङ्गतस्य सुखाय भवति, विरहितस्य तु तदेव दुःखाय जायते इति भावः । रविकरसंपर्कसंजात-विकासरक्तसरोजवन्मत्सख्याः कदा नु भर्तृसंदर्शनादिजनितं सुखं संपत्स्यते इति सरोविशेषणध्वनिः । गाथा छन्दः ।*

(क) सहजन्याचित्रलेखयोरुर्वशीसख्योः प्रवेशसूचिकामाक्षिप्तिकाभिधां गीतिं दर्शयति ।
आक्षिप्तिकालक्षणं भरत आह–"चञ्चत्पुटादितालेन मार्गत्रयविभूषिता ।
आक्षिप्तिका स्वरपदग्रथिता कथिता बुधैः" इति ।

* गाथालक्षणं पिङ्गले–"पढमं बारहमत्ता, बीए अट्ठारहेण संजुत्ता ।
जह पढमं, तह तीअं, दहपंचविहूसिआ गाहा" ।

(ततः प्रविशति सहजन्या चित्रलेखा च ।)

चित्रलेखा—(प्रवेशानन्तरं द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य ।) (ख)

(सहअरिदुक्खालिद्धअं सरवरअम्मि सिणिद्धअम् ।
वाहोवग्गिअणअणअं तम्मइ हंसीजुअलअम् ।)

सहचरीदुःखालीढं सरोवरे स्निग्धम् ।
वाष्पापवल्गितनयनं ताम्यति हंसीयुगलम् ॥ (२)

हि० टी०—सूर्य की किरणों के स्पर्श से खिले हुए कमल वाले तालाव के तट पर कोई हंसी अपनी सखी के वियोग से व्याकुल, सखी के साथ विलाप कर रही है। अर्थात्—उर्वशी के वियोग से व्याकुल होकर चित्रलेखा सहजन्या के साथ नवीन सूर्य की किरणों से खिले हुए कमल वाले तालाव के तट पर विलाप कर रही है।

(इसके बाद सहजन्या और चित्रलेखा आती हैं।)

चित्र०—(प्रवेश के बाद द्विपदिका नामवाली गीतिविशेष से चारों तरफ दिशाओं को देखकर)

(२) अन्वयः—सहचरीति। सरोवरे सहचरीदुःखालीढं स्निग्धम्, बाष्पापवल्गितनयनं हंसीयुगलं ताम्यति।

च० टी०—**सरोवरे तडागे सहचरीदुःखालीढं सहचर्याः सख्याः दुःखेन कष्टेन आलीढम्, संयुतम् स्निग्धम् सुन्दरम्, बाष्पापवल्गित नयनं वाष्पैः अश्रुभिः अपवल्गिते उपप्लुते नयने अक्षिणी यस्य तत् हंसीयुगलम् हंसीयुग्मम् ताम्यति ग्लानिं भजते। अत्र तावत् हंसीयुगलच्छलेन चित्रलेखासहजन्योः उर्वशीविरहदुःखं सूच्यते। गाथा छन्दः।**

(ख) द्विपदिकाख्यगीतिविशेषेण दिगवलोकनं विधायाग्रिमां गाथां पठतीत्यर्थः। अथवा–दिशः अवलोक्य द्विपदिकाख्यगीत्या वदति। द्विपदिकालक्षणमाह भरतः—

"शुद्धा खण्डा च मात्रा च सम्पूर्णेति चतुर्विधा।
भवेद् द्विपदिकागीति भरतेन प्रकीर्तिता।
भवेच्च चतुर्भिश्चरणैस्त्रयोदशकलात्मकैः" इति।

कला मात्रा [illegible] द्विपदिकया तदाख्यगीत्या।

सहजन्या—(**सखेदम्**) [सहि चित्तलेहे, मिलाअमाणसतवत्तकसणा दे मुहच्छाआ हिअअस्स असत्थदं सूचेदि। ता कहेहि मे अणिव्विदिकारणं जेण दे समाणदुक्खा होमि।]

सखि चित्रलेखे, म्लायमानशतपत्रकृष्णा ते मुखच्छाया हृदयस्यास्वस्थतां सूचयति। तत्कथय मेऽनिर्वृतिकारणं येन ते समानदुःखा भवामि।

चित्रलेखा—(सहि, अच्छराबाब्बारपज्जाएण तत्त भअदो सुज्जस्स उवट्ठाणे वट्टन्ती पिअसहीए विणा बलिअं उक्कण्ठिदम्हि।)

सखि, अप्सरोव्यापारपर्यायेण तत्रभवतः सूर्यस्योपस्थाने वर्तमाना प्रियसंख्या विना बलवदुत्कण्ठितास्मि। (३)

सहजन्या—(सहि, जाणामि बो अण्णोण्णगदं प्पेमम्। तदो तदो।)

सखि, जानामि युवयोरन्योन्यगतं प्रेम। ततस्ततः।

चित्रलेखा—(तदो इमेसुं दिवसेसुं को णवो वुत्तन्तो वट्टदित्ति प्पणिधाणहिदाए मए अच्चाहिदं उवलद्धम्।)

हि० टी०—*तालाव में प्रियसखी के दुःख से युक्त, सुन्दर, अश्रुपूर्ण नेत्र होकर हंसियों का जोड़ा ग्लानि को प्राप्त हो रहा है। अर्थात्-चित्रलेखा और सहजन्या उर्वशी के दुःख से ग्लानि को प्राप्त हो रही हैं।*

सहजन्या—(**खेद के साथ**) *सखि चित्रलेखा ! मुर्झाये हुए कमल के पत्ते के समान मलिन तुम्हारे मुख की कान्ति प्रकट करती है कि तुम्हारा चित्त स्वस्थ नहीं है। इसलिए अपने चित्त की अशान्ति का कारण बताओ, ताकि मैं भी तुम्हारे ही बराबर दुःखवाली होजाऊं?*

(३) अप्सरसां यः व्यापारः नियमः तस्य पर्यायेण परिपाट्या।

चित्र०—*सखि ! अप्सराओं के नियमानुकूल भगवान् सूर्य की उपासना में लगी हुई मैं प्रिय सखी (उर्वशी) के बिना बहुत उत्कण्ठित हूं।*

सहजन्या—*सखि ! मैं तुम दोनों के परस्पर प्रेम को जानती हूं। इसके बाद फिर—*

तत एतेषु दिवसेषु को नवो वृत्तान्तो वर्तत इति प्रणिधानस्थितया मयात्याहितमुपलब्धम्। (४)

सहजन्या—(सहि, कीरिसं तं।)

सखि कीदृशं तत् ?

चित्रलेखा—(सकरुणम्) [उव्वसी किल राएसिं लच्छीसणाहं गेण्हिअ अमच्चेसु णिहिदकज्जधुरं केलाससिहरुद्देसं गन्धमादणवणं विहरिदुं गदा।]

उर्वशी किल राजर्षिं लक्ष्मीसनाथं गृहीत्वामात्येषु निहितकार्यधुरं कैलासशिखरोद्देशं गन्धमादनवनं विहर्तुं गता। (५)

सहजन्या—(सश्लाघम्) [सहि, सो संभोओ जो तारिसेसु प्पदेसेसु। तदो तदो।]

सखि, स सम्भोगो यस्तादृशेषु प्रदेशेषु। ततस्ततः। (६)

---

(४) वृत्तान्तः वार्ता, प्रणिधानस्थितया समाधिस्थितया, योगद्वारेतिभावः, अत्याहितम् महद्भयम्, उपलब्धम् प्राप्तम्।

चित्र०—इसके बाद उसका इन दिनों का नवीन वृत्तान्त क्या है? इस बात को जानने के लिए मैंने एकाग्र चित्त से विचार किया तो विदित हुआ कि बड़ा भारी भय उपस्थित है।

सह०—सखि ! वह किस प्रकार ?

(५) लक्ष्मीसनाथं न तु कयापि स्त्रियासहितमिति तात्पर्यम्। अमात्येषु मन्त्रिषु निवेशितराज्यधुरं निवेशिता स्थापिता राज्यस्य धूः येन तं निश्चिन्तमिति यावत्, गन्धमादनेति वनस्य नाम, विहर्तुं विहारं (क्रीडाम्) कर्तुम्।

चित्र०—(करुणा के साथ) उर्वशी केवल लक्ष्मी से (शोभा से) युक्त महाराज पुरूरवा को लेकर और राज्य के भार को मन्त्रियों के ऊपर फेंककर कैलास के शिखर वाले प्रान्त में गन्धमादन नामक वन में विहार करने के लिए गई है।

(६) गन्धमादनवनस्यातिरमणीयत्वादेकान्तत्वाच्च तत्र सम्भोगोऽस्ति सुखकर इतिभावः।

सह०—(प्रशंसा के साथ) सखि ! सच्चा सम्भोग तो वही है जो ऐसे (गन्धमादन जैसे) स्थानों में हो। इसके बाद फिर—

चित्रलेखा—(तदो तहिं मन्दाइणीतीरे सिकदापव्वतेहिं कीलमाणा उदअवती णाम विज्जाहरदारिआ तेण राएसिणा चिरं णिज्झाइदेत्ति कदुअ कुविदा मे पिअसही उव्वसी।)

ततस्तत्र मन्दाकिनीतीरे सिकतापर्वतैः क्रीडमानोदयवतीनाम विद्याधरदारिका तेन राजर्षिणा चिरं निध्यातेति कृत्वा कुपिता मे प्रियसख्युर्वशी। (७)

सहजन्या—(असहणा खु सा। दूरारूढ़ो अ से प्पणओ। ता भविदव्वदा एत्थ बलवदी। तदो तदो।)

असहना खलु सा। दूरारूढ़श्चास्याः प्रणयः। तद्भवितव्यतात्र-बलवती। ततस्ततः।

चित्रलेखा-(तदो भत्तुणो अणुणअं अप्पडिवज्जमाणा गुरुसावसंमूढ़हिअआ विसुमरिददेवदाणिअमा अम्मकाजणपरिहरणिज्जं कुमारवणं पविट्ठा। पवेसाणन्तरं अ काणणोवन्तवत्तिलदाभावेण परिणदं से रूवम्।)

ततो भर्तुरनुनयमप्रतिपद्यमाना गुरुशापसंमूढहृदया विस्मृत-देवतानियमा स्त्रीजनपरिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा। प्रवेशान्तरं च काननोपान्तवर्तिलताभावेन परिणतमस्या रूपम्। (८)

---

(७) सिकतापर्वतैः बालुकानिर्मितकृत्रिमपर्वतैः, निध्याता अवलोकिता।

चित्रलेखा—इसके बाद वहां मन्दाकिनी के किनारे पर बालू के पहाड़ों से खेलती हुई विद्याधर की लड़की उदयवती नाम वाली को उस राजर्षि (पुरूरवा) ने बड़ी देर तक देखा है इस बात से मेरी प्यारी सखी उर्वशी उन पर कुपित होगई।

सह०—निःसन्देह वह इस बात को सहन न कर सकी। उस का प्रेम अपूर्व था। होनहार बलवती थी। इसके बाद फिर—

(८) भर्तुः स्वामिनः, अनुनयं प्रसादनोपयोगि-चाटुवचनम्, अप्रतिपद्यमाना अगृह्णती गुरोः भरतस्य शापेन सम्मूढहृदया विस्मृतदेवतानियमा, कन्याजनपरिहरणीयं निषिद्धस्त्रीजनगमनं कुमारस्य कार्तिकेयस्य वनं तपोवनं प्रविष्टा।

चित्र०—इसके बाद पति के अनुनय (खुशामद) को स्वीकार न करती हुई, भरत जी के शाप से देवताओं के नियम को भूलकर उस

सहजन्या—(सशोकम्) [सव्वधा णत्थि विहिणो अलङ्घणीअं णाम। जेण तारिसस्स अण्णारिसो एव्व पलिणामो संवुत्तो। तदो तदो।]

सर्वथा नास्ति विधेरलङ्घनीयं नाम। येन तादृशस्यान्यादृश एव परिणामः संवृतः। ततस्ततः।

चित्रलेखा–(तदो सो वि तस्सिं एव्व काणणे पिअदमं अण्णेसअन्तो उम्मत्ती-भूदो इदो उव्वसी तदो उव्वसी त्ति कदुअ अहोरत्तं अदिवाहेदि। **[नभोऽवलोक्य]** इमिणा उण णिव्विदाणं पि उक्कण्ठाकारिणा मेहोदयेण अप्पदीआरो भविस्सदि त्ति तक्केमि।)

ततः सोऽपि तस्मिन्नेव कानने प्रियतमामन्विष्यन्नुन्मत्तीभूत इत उर्वशी तत उर्वशीति कृत्वाहोरात्रमतिवाहयति। अनेन पुनर्निवृत्ता-नामप्युत्कण्ठाकारिणा मघोदयेनाप्रतीकारो भविष्यतीति तर्कयामि।(९)

कुमार वन में चली गई जहां स्त्रियों के लिए जाना मना था। प्रवेश होने के बाद उस वन के बीच में उसका रूप लता में वदल गया।

सहजन्या—(शोक के साथ) सर्वथा विधाता के लिए कुछ भी अलङ्घनीय नहीं है। जिससे इस तरह के प्रेम का उल्टा ही फल हो गया है। इसके वाद फिर—

(९) कानने वने, अन्विष्यन् गवेषयन्, अहोरात्रम् रात्रिंदिवम्, अतिवाहयति यापयति, प्रतीकारः वैरशुद्धिः। "मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथा वृत्ति चेतः कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे" इति मेघदूतम्॥

चित्र०—इसके बाद वह (पुरूरवा) भी उसी गन्धमादन वन में उर्वशी को ढूंढता हुआ, उन्मत्त होकर 'उर्वशी इधर है, उर्वशी उधर है' ऐसा कहता हुआ रात दिन विताता है। (आकाश की ओर देख कर) और फिर इस मेघोदय से जो कि निवृत्त (सन्तुष्ट) मनुष्यों को भी उत्कण्ठित कर देता है, उसका कोई प्रतीकार (इलाज) नहीं हो सकेगा, मैं ऐसा सोचती हूं।

(अनन्तरे जम्भलिका ।) (ग)

(सहअरिदुक्खालिद्धअं सरवरअम्मि सिणिद्धअम् ।
अविरलवाहजलोल्लअं तम्मइ हंसीजुअलम् ।)

सहचरीदुःखालीढं सरोवरे स्निग्धम् ।
अविरलबाष्पजलार्द्रं ताम्यति हंसीयुगलम् ॥ (१०)

सहजन्या—(सहि, अत्थि कोवि समागमोवाओ ।)

सखि, अस्ति कोऽपि समागमोपायः ?

चित्रलेखा–(गोरीचरणराअसंभवं संगममणिं वज्जिअ कुदो से समागमोवाओ ।)

गौरीचरणरागसम्भवं संगममणिं वर्जयित्वा कुतोऽस्याः समागमोपायः ?

(इसके बाद जम्भलिका नामक गीति का गान होता है ।)

(१०) अन्वयादि—चतुर्थाङ्कस्य द्वितीयः श्लोकः द्रष्टव्यः । अविरलबाष्पजलार्द्रं निरन्तराश्रुजलसिक्तम् ।

हि॰टी॰—*तालाब में प्रिय सखी के वियोग के दुःख से युक्त, आंखों को आनन्दित करने वाला निरन्तर अश्रुपात से सिक्त हो कर हंसियों का जोड़ा ग्लानि को प्राप्त हो रहा है । अर्थात्-चित्रलेखा और सहजन्या, उर्वशी के वियोग से व्याकुल हो कर अश्रुओं से अपने कपोलों को धोती हुई, तालाब के किनारे पर दुःखित हो रही हैं ।*

सह॰—*सखि ! क्या कोई समागम का उपाय भी है ?*

चित्र॰–*गौरी के चरणराग से उत्पन्न हुई संगमनाम वाली मणि को छोड़ कर इस के (उर्वशी के) समागम का उपाय कैसे हो सकता है ?*

(ग) जम्भलिका गीतिविशेषः । तल्लक्षणमाह भरतः—

"उद्ग्राहो द्विः सकृद्वैकखण्डो द्विः शकलोऽथवा ।
यत्र ध्रुवो द्विराभोगो ध्रुवे मुक्तिः स जम्भकः ॥"

एतस्यैवनाम जम्भलिकेति मतङ्गमतम् । "ध्रुवे मुक्तिरहिता पूर्वोक्तलक्षणलक्षिता सा" इति श्रीमद्भट्टसोमचरणाः ।

सहजन्या—[ण तारिसा आकिदिविसेसा चिरं दुक्खभाइणो होन्ति। ता अवस्सं कोवि अणुग्गहणिमित्तभूओ समागमोवाओ भविस्सदि त्ति तक्केमि। (प्राचीं दिशं विलोक्य) ता एहि। उदआहिवस्स भअवदो सुज्जस्स उवट्ठाणं करेम्ह।]

न तादृशा आकृतिविशेषाश्चिरं दुःखभाजो भवन्ति। तदवश्यं कोऽप्यनुग्रहनिमित्तभूतः समागमोपायो भविष्यतीति तर्कयामि। तदेहि उदयाधिपस्य भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कुर्वः। (११)

(अनन्तरं खण्डधारा) (घ)

(चिन्तादुम्मिअमाणसिआ सहअरिदंसणलालसिआ।
विअसिअकमलमनोहरए विहरइ हंसी सरवरए॥)

चिन्तादूनमानसा सहचरीदर्शनलालसा।
विकसितकमलमनोहरे विहरति हंसी सरोवरे॥ (१२)

---

(११) तादृशाः आकृतिविशेषाः चिरं दुःखभागिनो न भवन्ति। एवं विधः सुपुरुषः स महाराजः पुरूरवाः न चिरं विरहव्यथामनुभवेत्। न चापीदृशी सुरूपा उर्वशी चिरमेवमवस्थां सहेत इति चिन्तयामि। उदयाधिपस्य उदयपर्वतस्वामिनः।

सह०—ऐसे विशेष चेहरे वाले पुरुष बहुत देर तक दुःख नहीं भोगा करते। इस लिए मैं सोचती हूं कि अवश्य कोई कृपा का हेतुभूत समागम का उपाय होगा। सो चलो उदय पर्वत के स्वामी भगवान् सूर्य की उपासना करें।

(इसके बाद खण्डधारा नामक गीति का गान होता है।)

(१२) **अन्वयः**—चिन्तेति। विकसितकमलमनोहरे सरोवरे चिन्तादूनमानसा सहचरीदर्शनलालसा हंसी विहरति।

च० टी०—विकसितेति विकसितानि प्रफुल्लानि कमलानि पद्मानि मनोहराणि यत्र तस्मिन्सरोवरे तडागे चिन्तेति-चिन्तया मानसव्यथया दूनं दुःखितं मानसं चेतः यस्याः सा सहचरीति–सहचर्याः सख्याः

(घ) खण्डधारा गीतिविशेषः, तल्लक्षणं यथा—
"यद्गीतं गुणकर्या च रागेण क्रीडकेन च।
तालेन सा खण्डधारा [illegible] प्रकाशिता॥" इति।
यद्वा—"चतुर्दशकलायुक्तैश्चतुर्भिश्चरणैरिह" इति।

(इति निष्क्रान्ते । प्रवेशकः ।)

(नेपथ्ये पुरूरवसः प्रावेशिक्याक्षिप्तिका ।) (ङ)

(गहणं गइन्दणाहो पिअविरहुम्माअपअलिअविआरो ।

विसइ तरुकुसुमकिसलअभूसिअणिअदेहपब्भारो ॥)

गहनं गजेन्द्रनाथः प्रियाविरहोन्मादप्रकटितविकारः ।

विशति तरुकुसुमकिसलयभूषितनिजदेहप्राग्भारः ॥ (१३)

दर्शनस्य विलोकनस्य लालसा प्रबलेच्छा यस्याः सा हंसी मराली विहरति विचरति । हंसी वर्णनव्याजेन पुनः स्वामवस्थामाह-विकसितारविन्दमनोहरे तड़ागे उर्वशीचिन्तापीड़ितहृदया, तद्दर्शनसोत्कण्ठा चित्रलेखा विचरतीति तात्पर्यम् ।

हि॰ टी॰—*खिले हुए कमलों से मनोहर तालाव के पास चिन्ता से व्याकुल हृदय, अपनी सखी को देखने के लिए प्रवल इच्छा वाली, हंसी इधर उधर जारही है । अर्थात्-तालाव के किनारे पर उर्वशी के विरह में व्याकुल चित्रलेखा दुःखित चित्त हो कर इधर उधर भटक रही है ।*

(इस प्रकार दोनों चली गईं । प्रवेशक)

(नेपथ्य में पुरूरवा के प्रवेश के लिये गीत विशेष का गान होता है।)

(१३) अन्वयः—गहनमिति । प्रियाविरहोन्मादप्रकटितविकारः तरुकुसुमकिसलयभूषितनिजदेहप्राग्भारः गजेन्द्रनाथः गहनं विशति ।

च॰ टी॰—प्रियेति-प्रियायाः स्वप्रणयिन्याः विरहेण वियोगेन यः उन्मादः उन्मत्तता तेन प्रकटितः सम्यक् प्रकाशितः विकारः मनसः परिणामः यस्य सः । तरुकुसुमेति--तरुभिः खण्डितवृक्षकैः कुसुमैः पुष्पैः किसलयैश्च भूषितः निजदेहस्य स्वशरीरस्य प्राग्भारः पृष्ठदेशो देहाभोग इतियावत् येन सः गजेन्द्रनाथः हस्तिराट् गहनं

(ङ) प्रवेशकलक्षणं यथा दर्पणे—

"प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।

अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥"

(ततः प्रविशत्याकाशबद्धलक्ष्यः सोन्मादो राजा ।)

राजा—(सक्रोधम्) आः दुरात्मन् रक्षः, तिष्ठ तिष्ठ । क्वमे प्रियतमामादाय गच्छसि । (विलोक्य) हन्त, शैलशिखराद्गगनमुत्पत्य बाणैर्मामभिवर्षति । (लोष्टं गृहीत्वा हन्तुं धावन् । अनन्तरे द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य।)

(हिअआहिअपिअदुक्खओ सरवरए धुदपक्खओ ।
वाहोवग्गिअणअणओ तम्मइ हंसजुआणओ ॥)

हृदयाहितप्रियादुःखः सरोवरे धुतपक्षः ।
व्याधापवल्गितनयनस्ताम्यति हंसयुवा ॥ (१४)

(विभाव्य सकरुणम् ।) कथम् ।

वनं विशति संगच्छते । अत्रापि गजच्छलेन पुरूरवाः आक्षिप्यते । राजापि उर्वशीविरहेण वातूलत्वात्, इतस्ततोगमनेन वने पुष्पादिविभूषितनिजदेहः वनं विशतीति तात्पर्यम् । 'परिणामो विकारो द्वे' इत्यमरः । 'गहनं काननं वनम्' इति च ।

हि० टी०—*अपनी प्राण प्रिया के विरह में मस्त होकर अपने चित्त के विकार को प्रकट करता हुआ पेड़ के फूल और पल्लवों से भूषित शरीर, गजेन्द्रनाथ (अर्थात्—ध्वनि से राजा पुरूरवा) वन में प्रवेश करता है ।*

(इसके बाद आकाश की ओर देखता हुआ उन्मत्त राजा आता है ।)

राजा—(क्रोध के साथ) *ओ दुरात्मन् ! राक्षस ! ठहर ठहर, मेरी प्राणप्यारी को लेकर कहां जा रहा है ।* (देखकर) *हा ! पर्वत की चोटी से उड़कर मुझ पर बाणों की वर्षा करता है ।* (मिट्टी के ढेले को लेकर मारने को दौड़ता हुआ । इसके बाद द्विपदिका गीति से चारों ओर दिशाओं को देख कर ।)

(१४) अन्वयः—हृदयेति । सरोवरे हृदयाहितप्रियादुःखः धुतपक्षः व्याधापवल्गितनयनः हंसयुवा ताम्यति ।

स० टी०—सरोवरे तड़ागे हृदयाहितप्रियादुःखः हृदये मनसि आहितं समन्ताद्धृतं प्रियायाः स्वकान्तायाः दुःखं विपद्रूपं येन सः धुत-

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं, न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं, न नाम शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो, न वाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया मम नोर्वशी॥ (१५)

पक्षः कम्पितपक्षः, पक्षेऽसहायः व्याधापवलिगतनयनः व्याधेन अपवलिगते त्रासिते नेत्रे नयनं यस्य सः, पक्ष वाष्पापवलिगतनयनः अश्रुजलोपप्लुतनयनः हंसयुवा मरालयुवकः ताम्यात दुःखमनुभवति। हंसयुवकच्छलेन राजा लक्ष्यते-राजा उर्वशीवियोगपीड़ितः असहायः वाष्पपरिवृतनेत्रः सरोवरे) ग्लानिं भजते इति तात्पर्यम्। "पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायच भित्तिषु" इत्यमरः।

हि॰टी॰—*अपनी प्राणप्यारी के दुःख से युक्त, पंखों को फड़फड़ाता हुआ (निःसहाय), व्याध के डर से चञ्चल नयन वाला (अश्रपूर्ण नयन), हंसयुवक (ध्वनि से राजा) तालाव के पास दुखित होता है।*

(पहचान कर, करुणा क साथ) *यह किस प्रकार —*

(१५) अन्वयः—अयं नवजलधरः सन्नद्धः, दृप्तनिशाचरः न, इद दूराकृष्टं सुरधनुः शरासनं नाम न, अयमपि पटुः धारासारः, बाणपरम्परा न, कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्, मम प्रिया उर्वशी न।

च॰ टी॰—अयं नवजलधरः नूतनमेघः सन्नद्धः उदितः, दृप्तनिशाचरः सोऽतिगर्वितः राक्षसः न। नायं राक्षसः, अयं तु नूतनमेघः इतिभावः। इदं पुरोदृश्यमानं दूराकृष्टं सुविस्तृतम् अत्यन्तमाकृष्टमिति यावत् सुरधनुः इन्द्रधनुः, शरासन साधारणं धनुः नामेतिनिश्चयेन न। इदमिन्द्रधनुर्वर्तते, इदं राक्षसस्यधनुर्नास्ति। अयमपि पटुः प्रबलः धाराणां वृष्टिधाराणाम् आसारः सम्पातः, वर्षप्रसर इतियावत्, वाणपरम्परा बाणवर्षणं नास्ति। कनकेति-कनकस्य सुवर्णस्य निकषः सुवर्णपरीक्षोपयोगी उपलविशेषः तद्वत् स्निग्धा प्रकाशमाना विद्युत्, मम प्रिया उर्वशी नास्ति। इयं तु विद्युत् प्रभा चलं मम प्रिया उर्वशी

(इति मूर्च्छितः पतति । पुनर्द्विपदिकयोत्थाय निश्वस्य ।)

(मइ जाणिअ मिअलोअणि णिसिअरु कोइ हरेइ ।
जाव णु णवतडिसामलि धाराहरु वरिसेइ ।)

मया ज्ञातं मृगलोचनां निशाचरः कोऽपि हरति ।
यावन्नु नवतडिच्छ्यामलो धाराधरो वर्षति ॥ (१६)

(इति सकरुणं विचिन्त्य) क्व नु खलु रम्भोरूर्गता स्यात् ।

नास्तीतिभावः । "धारासम्पात आसारः" इत्यमरः । "आसारस्तु प्रसरणे" इति विश्वलोचनः । हरिणी वृत्तम् ।

हि० टी०—यह अभिमानी राक्षस नहीं, यह तो पावस (वर्षाऋतु) का नया मेघ उदय हो रक्खा है । यह राक्षस का चढ़ाया हुआ धनुष नहीं, यह तो दूर तक फैला हुआ इन्द्र का धनुष है । यह बाणों की वृष्टि नहीं, यह तो कसौटी पर घिसी हुई सुवर्ण की चमकती हुई रेखा के समान मेघ में बिजली है ।

(राजा यह कह मूर्च्छित होकर गिरता है। फिर द्विपदिका का उच्चारण करते हुए उठकर सांस लेता हुआ ।)

(१६) अन्वयः—मयेति । यावत् नवतडिच्छ्यामलो धाराधरो वर्षति, "कोऽपि निशाचरः मृगलोचनां हरति" मया नु ज्ञातम् ।

च० टी—यावत् नवतडिता नवीनविद्युच्छटया श्यामलः श्यामवर्णः धाराधरः मेघः वर्षति वर्षां करोति, (तावत्) कोऽपि निशाचरः राक्षसः मृगलोचनां मृगस्य लोचने इव लोचने नेत्रे यस्यास्ताम् उर्वशीं हरति हठेन गृह्णातीति मया (पुरूरवसा) नु निश्चयेन ज्ञातम् । वर्षणोत्तरं तु मयाज्ञातं यदयं रजनीचरः नासीत्, अयमपि राक्षसवद् भयावह आसीत् ।

हि टी०—बिजली से युक्त, श्याम वर्ण का नूतन मेघ जब तक बरसता है (बरसने से पहले) तब तक मैंने निश्चय किया कि कोई राक्षस मृग के समान नेत्रों वाली मेरी प्राण प्यारी को चुरा ले जा रहा है। (इस प्रकार करुणा के साथ सोचकर) तो फिर केले के खम्भे के समान जंघाओं वाली उर्वशी कहां चली गई ?

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता, दीर्घं न सा कुप्यति,
स्वर्गायोत्पतिता भवेन् मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि नहि मे शक्ताः पुरोवर्तिनीम्,
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥ (१७)

(इति द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य सास्रम्) अये, परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि । (१८) कुतः ।

---

(१७) **अन्वयः**—तिष्ठेदिति । कोपवशात् प्रभावपिहिता तिष्ठेत् ? सा दीर्घं न कुप्यति, स्वर्गाय उत्पतिता भवेत् ? पुनः मयि अस्याः मनः भावार्द्रम् , मे पुरोवर्तिनीं तां हर्तुं विबुधद्विषः अपि हि न शक्ताः,सा च नयनयोः अत्यन्तम् अगोचरं याता इति अयं कः विधिः ।

च० टी०—कोपवशात् क्रोधवशात् प्रभावपिहिता प्रभावेण तिरस्करिणीविद्याप्रभावेण पिहिता आच्छादिता तिष्ठेत् स्थितिं कुर्यात्? सा उर्वशी, दीर्घं चिरकालं न कुप्यति कोपं न करोति, स्वर्गाय वैकुण्ठाय, उत्पतिता उपरिगता भवेत् ? पुनः अस्याः उर्वश्याः मनः चेतः मयि (पुरूरवसि) भावार्द्रम् भावेन अनुरागेण आर्द्रं स्निग्धम् आसीदिति शेषः। मे मम पुरोवर्तिनीं तामुर्वशीं हर्तुं चोरयितुं विबुधद्विषः दानवाः, अपि हीति निश्चयेन न शक्ताः समर्थाः न सर्वथा, असमर्थाः सन्तीति भावः । सा उर्वशी च नयनयोः लोचनयोः अत्यन्तम् अगोचरं अदृश्यं याता इति तस्याः अदर्शनरूपः कः विधिः प्रकारः ? तस्याः लोचनपथातीतरूपः अयं नूतनः विधिरितिभावः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥

हि०टी०—शायद रूठ कर तिरस्करिणी विद्या के प्रभाव से कहीं छिपी हो ? मगर वह इतनी देर तक नहीं रूठा करती, शायद वह स्वर्ग जाने के लिए ऊपर चली गई हो ? मगर उसका मेरे ऊपर बहुत स्नेह है, मेरी आंखों के सामने से राक्षस उसे हर कर भी नहीं ले जासकते; और वह मेरी आंखों को दिखाई भी नहीं देती; इसलिए हे ईश्वर ! उसका इस प्रकार न दिखाई देना कौन सा प्रकार है ?

(१८) परावृत्तं प्रतिनिवृत्तं भागधेयं सौभाग्यं येषां तेषां मन्दभाग्यानामित्यर्थः ।

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥ (१९)

(अनन्तरं चर्चरी) (च)

(जलहर संहरएहु कोपमिआढ़त्तओ अविरलधारासारदिशामुहकन्तओ ।
ए मइ पुहविं भमन्ते जइ पिअं पेक्खिहिमि तच्छे जं जु करीहसि तं तु सहीहिमि ॥

दुःखं दुःखेन दुःखान्तरेण अनुबद्धम् अनुस्यूतं युक्तमित्यर्थः, दुःखं दुःखान्तरानुषङ्गि इति यावत् ।

(इस प्रकार द्विपदिका गीति से दिशाओं को देखकर, अश्रु सहित) *हाय ! जब दैव विमुख होता है तो दूख पर दुख चले आते हैं । क्योंकि—*

(१९) **अन्वयः**–अयमिति । एकपदे तया प्रियया सुदुःसहः अयं मे वियोगः उपनतः, नववारिधरोदयात् अहोभिश्च निरातपत्वरम्यैः भवितव्यम् ।

च० टी०–**एकपदे युगपत्, तया प्रियया उर्वश्याः अयं सुदुःसहः सोढुमशक्यः मे मम वियोगः विरहः उपनतः उपस्थितः प्राप्तः इति यावत्, तथाच नवेति–नववारिधराणाम् नूतनमेघानाम् उदयात् अहोभिः दिवसैः निरातपत्वरम्यैः आतपरहितमनोहरैः शीतलसुन्दरैरितियावत् भवितव्यम् । असह्यवियोगस्तु पूर्वम् आसीदेव, अधुना दिनान्यपि मेघोदयात् शीतलमनोहारीणि जातानि अतोऽधुना जीवनाशा दुराशा खलु । "तत्समैकपदेतुल्ये सद्यः सपदि च स्मृतम्" इति हलायुधः । मालभारिणीवृत्तम् ।**

हि० टी०—इधर प्यारी का दुःसह वियोग और उधर नूतन जलधरों के उमड़ने से घर्म शून्य (ठण्डे) दिन रमण के योग्य, दोनों एक साथ उपस्थित हुए हैं ।

(इसके बाद चर्चरी का गान होता है ।)

(च) चर्चरी गीति विशेषः, तदुक्तं यथा–"द्रुतमध्यलयं समाश्रिता पठति प्रेमभरान्नटी यदि। सोमो वा प्रतिमण्ठकरासकेन वा द्रुतमध्या प्रथमाहि चर्चरी" ॥ "...तालव्यालितालो लोकेऽसौ रासइत्यभिधीयते" इति ॥

जलधर संहरात्र कोपमाज्ञप्तः
अविरलधारासारदिशामुखकान्तः ।
ए अहं पृथ्वीं भ्रमन्यदि प्रियां
प्रेक्षिष्ये तदा यद्यत्करिष्यसि तत्तत्सहिष्ये ॥ (२०)

(विहस्य) वृथा खलु मया मनसः संतापवृद्धिरुपेक्ष्यते। यदा-मुनयोऽप्येवं व्याहरन्ति "राजा कालस्य कारणम्" इति, तत्किमहं जलधरसमयं न प्रत्यादिशामि । (२१)

---

(२०) अन्वयः-जलधरेति । जलधर ! अत्र कोपम् संहर, आज्ञप्तः अविरल-धारासारदिशामुखकान्तः (असि) ए यदि अहं पृथ्वीं भ्रमन् प्रियां प्रेक्षिष्ये, तदा यत् यत् करिष्यसि तत् तत् सहिष्ये ।

च० टी०-हे जलधर ! हे मेघ ! अत्र मम विषये कोपं क्रोधं संहर, त्यज माकुर्वित्यर्थः । आज्ञतः दत्ताज्ञः, अविरलेति-अविरलं निरन्तरं धारासारैः धारावर्षैः दिशानां मुखेषु कान्तः मनोहरः असि, सुन्दर-त्वात्त्वया कोपः न करणीयः इतिभावः । ए अयि मेघ ! यदि अहं (पुरूरवाः, पृथ्वीं भ्रमन् समग्रां धरां पर्यटन् प्रियां उर्वशीं प्रेक्षिष्ये द्रक्ष्यामि तदा त्वं यत्किञ्चिदपि करिष्यासि, तत्सर्वमहं सहिष्ये, तदाहं सर्वं सोढुं समर्थो भविष्यामीतिभावः ।

हि० टी०—हे मेघ ! मेरे ऊपर क्रोध मत करो, मेरी आज्ञा मानो, तुम निरन्तर वर्षा की धाराओं से दिशाओं के मुखों पर सुन्दर लगते हो । ऐ भाई ! मैं पृथ्वी में घूमता हुआ यदि अपनी प्यारी उर्वशी को देख लूंगा तो तुम जो कुछ भी करोगे मैं सह लूंगा ।

(२१) वृथा खलु अकारणमेव, मे मनसः सन्तापोवर्धते । यतः मुनयः कथयन्ति यत्-कालानां राजाधीनत्वम् , अयमहं जलधरसमयस्य निवारणे समर्थः । न प्रत्यादिशामि न निवारयामि इत्यर्थः । "प्रत्यादेशो निराकृतिः" इत्यमरः ।

(हंस कर) अहो ! मैं व्यर्थ ही अपनी लापरवाही से चित्त के सन्ताप को बढ़ा रहा हूं । जब मुनि भी कहते हैं कि 'समय राजा के आधीन है' तो अब मैं वर्षाकाल को क्यों न रोकूं ।

(अनन्तरे चर्चरी ।)

(गन्धुम्माइअमहुअरगीएहिं वज्जन्तेहिं परहुअतूरेहिं ।

पसरिअपवणुव्वेल्लिअपल्लवणिअरुसुललिअविविहपआरेहिं णच्चइ कप्पअरु ॥)

गन्धोन्मादितमधुकर गीतैर्वाद्यमानैः परभृततूर्यैः ।

प्रसृतपवनोद्वेल्लितपल्लवनिकरःसुललितविविधप्रकारैर्नृत्यति कल्पतरुः

(इति नर्तित्वा) अथवा न प्रत्यादिशामि यत्प्रावृषेण्यैरेव चिन्हैर्मम राजोपचारः संप्रति । कथमिव (२३)

(इसके बाद फिर चर्चरी गीति का गान होता है ।)

(२२) अन्वयः—गन्धेति । गन्धोन्मादितमधुकरगीतैः परभृततूर्यैः वाद्यमानैः प्रसृतपवनोद्वेल्लितपल्लवनिकरः कल्पतरुः सुललितविविधप्रकारैः नृत्यति ।

च० टी०–गन्धेति–गन्धेन सौरभेण उन्मादिताः उन्मादं प्रापिताः ये मधुकराः भ्रमराः तेषां गीतैः गानैः परभृततूर्यैः परेणभ्रियन्ते इति परभृताः कोकिलाः त एव तूर्याणि तैः वाद्यमानैः शब्दायमानैः। गीतैस्तूर्यैरित्युपलक्षणे तृतीया। प्रसृतेति–प्रसृतेन इतस्ततः सञ्चलता पवनेन वायुना उद्वेल्लिताः चञ्चलीकृताः ये पल्लवाः पत्राणि तेषां निकरः समूहः किसलयसमूहो यस्य सः, कल्पतरुः सन्तानवृक्षः सुललितेति–सुललितं मनोहरं यथास्यात्तथा विविधप्रकारैः नानाविधैः नृत्यति नर्तनं करोति । एतेन पल्लवनिकरस्य करत्वं गम्यते ।

हि० टी०–पुष्पों की सुगन्धि से उन्मत्त भौरों के गीतों से, कोकिलाओं के बाजे बजने से (कोयला रूपी वाद्यों की आवाज से) और इधर उधर चलते हुए वायु के द्वारा हिलते हुए पत्तों से, यह कल्पवृक्ष, सुन्दर तथा अनेक प्रकार के नाच कर रहा है।

(२३) प्रावृषेण्यैः प्रावृट्कालभवैः चिन्हैः मेघविद्युल्लेखाधारासारादिभिः । महाराजोपचारः महाराजोपासनोपयुक्तः चामरव्यजनादिरूपः सेवाविशेषः इत्यर्थः ।

(नाच कर) अथवा मैं मेघ को नहीं रोकता हूं, क्योंकि वर्षा ऋतु के इन चिन्हों से ही तो मेरी इस वक्त सेवा हो रही है । क्योंकि—

विद्युल्लेखाकनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रं
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि ।
घर्मच्छेदात्पटुतरगिरो बन्दिनो नीलकण्ठा
धारासारोपनयनपरा नैगमाश्चाम्बुवाहाः ॥ (२४)

(२४) अन्वयः—विद्युदिति । विद्युल्लेखाकनकरुचिरम् अभ्रम् मम श्रीवितानम् (अस्ति) निचुलतरुभिः मञ्जरीचामराणि व्याधूयन्ते, घर्मच्छेदात् पटुतरगिरः नीलकण्ठाः (मम) बन्दिनः, धारासारोपनयनपराः अम्बुवाहाः नैगमाः (सन्ति)।

च० टी०—विद्युदिति । विद्युल्लेखया तडिद्राज्या कनकमिव सुवर्णमिव रुचिरम् मनोज्ञम्, अभ्रम् मेघः, मम (पुरूरवसः) श्रीवितानम् श्रियाः शोभायाः वितानम् उल्लोचः अस्ति । तथा निचुलतरुभिः हिज्जलापरनामभिः जलवेतसैः मञ्जरीचामराणि मञ्जर्यः वल्लर्यः एव चामराणि व्याधूयन्ते उपरि चाल्यन्ते । घर्मच्छेदात् ग्रीष्मसमयनाशात् पटुतरगिरः सुस्पष्टभाषिणः नीलकण्ठाः मयूराः मम बन्दिनः स्तुतिपाठकाः सन्ति । धारेति—धारासाराणां वर्षप्रसराणां वृष्टिजलधराणामित्यर्थः उपनयने आनयने पराः अम्बुवाहाः मेघाः नैगमाः वणिजः सन्ति । पक्षे—धारारूपं सारं धनं तदानयनपराः इत्यर्थः । यथा वणिजः धनरत्नाद्युपहारेण राजानमुपतिष्ठन्ते, तथैवेते जलधराः अपि धारावर्षणरूपोपहारेण मामुपतिष्ठन्ते इत्यर्थः । यतः एते बहुभिरुपचारैः मां सेवन्ते ततः प्रावृट् कालस्य निराकरणमनुचितमितिभावः । "अभ्रं मेघो वारिवाहः" इति विश्वलोचनः । "अस्त्रीवितानमुल्लोचः" इत्यमरः । "निचुलो हिज्जलोऽम्बुजः" इति च "घर्मः स्यादातपे ग्रीष्मे" इति विश्वलोचनः । "सारं न्याय्ये जले वित्ते" इत्यपि सः । "नगमः क्षुरवेदान्तवणिग्वाणिज्यनागरे" इत्यपि च । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ।

हि० टी०—*बिजली से सिंगार किया हुआ यह बादल मेरा तिल्लेदार छत्र है । जलवेतस के वृक्ष अपनी मञ्जरियों को चंवरों की तरह झुला रहे हैं । गर्मी के दूर होने से (वर्षारम्भ के कारण) चतुर मोर, दरवार के भाटों की तरह स्तुति कर रहे हैं । धारा प्रवाह रूपी धन को लाने वाले बादल मेरे राज्य के बनिये हैं । अर्थात्—जिस प्रकार*

(पुनश्चर्चरी) भवतु। किमेवं परिच्छदश्लाघया। यावदस्मिन्कानने तां प्रियामन्वेषयामि ।(२५)

(पाठस्यान्ते भिन्नकः) (छ)

(दइआरहिओ अहिअं दुहिओ विरहाणुगओ परिमन्थरओ ।
गिरिकाणणए कुसुमुज्ज्वलए गअजूहवई तह झीणगई ।)

दयितारहितोऽधिकं दुःखितो विरहानुगतः परिमन्थरः ।
गिरिकानने कुसुमोज्ज्वले गजयूथपतिस्तथाक्षीणगतिः ॥ (२६)

वनिये रत्न और धन आदि से राजा की सेवा करते हैं उसी प्रकार ये बादल वर्षा रूपी उपहार से मेरी सेवा कर रहे हैं ।

(२५) परिच्छदस्य राजोचितपरिजनस्य, श्लाघा अहंकारः, तया; राजानं मामेते उपतिष्ठन्ते इत्यादि वृथाहंकारः न करणीयः इतिभावः ।

(फिर चर्चरी गीति का गान होता है) अस्तु ! परिजनों की प्रशंसा से क्या लाभ ? सो अब तो इस वन में उस प्राणप्यारी को ढूंढ़ता हूं।
(पाठ नामक वाद्य विशेष के बाद भिन्नक राग का गान होता है)

(२६) अन्वयः दयितेति । कुसुमोज्ज्वले गिरिकानने दयितारहितः अधिकं दुःखितः विरहानुगतः परिमन्थरः तथा क्षीणगतिः गजयूथपतिः (भ्रमति)

च० टी०—कुसुमोज्ज्वले कुसुमैः पुष्पैः उज्ज्वले प्रकाशिते, गिरिकानने पर्वतवने दयितारहितः प्रियाहीनः, अधिकं यथास्यात्तथा, दु खितः दुःखोपेतः विरहानुगतः वियोगयुक्तः, परिमन्थरः मन्दगामी निरुपाय इति यावत् तथा क्षीणगतिः क्षीणा गतिर्यस्य स सर्वथा गतिहीनः गजयूथपतिः गजेन्द्रः भ्रमति । गजयूथपतिशब्देन राजा लक्ष्यते । गजयूथपतिरप्यहं स्वप्राणवल्लभामपि रक्षितुं नाशक्नवम्, अतो मे यूथपतित्वं धिगित्यति दुःख कारणम् । "मन्दगामी तु मन्थरः" इत्यमरः ।

(छ) पाठः वाद्यविशेषः । भिन्नकः रागविशेषः । तथा चाहभरतः—
"षड्जमध्यमिकोत्पन्नोभिन्नकोमध्यमो बहुः । षड्जग्रहांशोमन्यासो मन्द्रसोऽन्तोऽथत्राभवत् ॥ षड्जादिमूर्च्छनः शुद्धः सञ्चारिणि सकाकलिः । प्रसन्नादियुतो दानवीरे रौद्रऽद्भुतरसे । दिवस्य पश्चिमे यामे प्रयोज्यः सामदैवतः" ॥ इति ।

(अनन्तरं द्विपदिकया परिक्रम्यावलोक्य च सहर्षम्) हन्त हन्त, व्यवसितस्य मे सन्दीपनमिव संवृत्तम् । कुतः—(२७)

आरक्तराजिभिरियं कुसुमैर्नवकन्दली सलिलगर्भैः
कोपादन्तर्बाष्पे स्मरयति मां लोचने तस्याः ॥ (२८)

इतो गतेति कथं नु मया तत्र भवती सूचयितव्या । यतः—

हि० टी०—फूलों से सुशोभित पर्वत के वन में अपनी प्राणप्यारी से रहित, अत्यन्त दुःखित, विरही, सर्वथा मन्दगामी तथा गतिरहित गजेन्द्र (ध्वनि से-राजा) भ्रमण कर रहा है ।

(२७) व्यवसितस्य प्रियान्वेषणपरस्य मे मम संवर्द्धनम् विरहाग्निसंन्दीपनं ज्ञातम् ।

(इस के बाद द्विपदिका से घूमकर और देखकर हर्ष के साथ) अहो ! प्यारी को ढूंढते हुए मेरी विरहाग्नि और भी बढ़ रही है । क्योंकि—

(२८) अन्वयः—आरक्तेति । इयं नवकन्दली आरक्तराजभिः सलिलगर्भैः कुसुमैः मां कोपादन्तर्बाष्पे तस्याः लोचने स्मरयति ।

च० टी०—इयं नवकन्दली नूतनशिलीन्ध्रापरनामा वृक्षविशेषः आरक्तराजिभिः आरक्ता राजिः पंक्तिः येषां तैः तथाविधैः, सलिलगर्भैः सलिलं जलं गर्भे मध्ये येषां तैः तथाविधैः, कुसुमैः पुष्पैः, मां (पुरूरवसम्) कोपात् क्रोधात्, अन्तर् मध्ये, वाष्पः ययोः तथा विधे, अन्तरितवाष्पभराकुले इत्यर्थः, तस्याः उर्वश्याः, लोचने नयने, स्मरयति स्मारयतीत्यर्थः । पुष्पराजेः सलिलगर्भत्वम् तस्याः नयनयोः अश्रुपूर्णत्वमुचितमेवेति भावः । तथाच पुष्पराजेः आरक्तत्वात् तस्याः कोपरक्तनयनस्मरणमप्युचितमेव । आर्या वृत्तम् ।

हि० टी०—यह नव कन्दली लाल पंखड़ियों वाले, और जलमध्य, अपने फूलों से मुझे, रोष में आसुओं से भरे हुए नेत्रों वाली उस प्राणप्यारी की याद दिलाती है ।

तो मैं किस प्रकार जानूं कि वह सुन्दरी इधर गई है । क्योंकि—

पद्भ्यां स्पृशेद्वसुमतीं यदि सा सुगात्री
मेघाभिवृष्टसिकतासु वनस्थलीषु ।
पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्या
दृश्येत चारुपदपंक्तिरलक्तकाङ्का ॥ (२९)

(द्विपदिकया परिक्रम्यावलोक्य च सहर्षम्) उपलब्धमुपलक्षणं येन तस्याः कोपनाया मार्गोऽनुमीयते । (३०)

---

(२९) अन्वयः—पद्भ्यामिति । सा सुगात्री मेघाभिवृष्टसिकतासु वनस्थलीषु वसुमतीं यदि पद्भ्यां स्पृशेत् ततः अस्याः गुरुनितम्बतया पश्चान्नता अलक्तकाङ्का चारुपदपंक्तिः दृश्येत ।

च० टी—सा सुगात्री शुभाङ्गी मेघैः घनैः अभिवृष्टाः कृताभिवर्षणाः सिकताः वालुकाः यासु तासु वनस्थलीषु वनप्रान्तेषु, वसुमतीं पृथ्वीं यदि पद्भ्यां चरणाभ्यां, स्पृशेत्, ततस्तदा अस्याः गुरुनितम्बतया पश्चान्नता पृष्ठप्रदेशे किञ्चिदवनता अलक्तकाङ्का अलक्तकचिन्होपेता चारुपदपंक्तिः मनोहरचरणचिन्हपद्धतिः दृश्येत । एवंभूतानां चिन्हानामसद्भावात्, तस्याः अत्र आगमनं न जातमिति भावः । शाकुन्तलेऽपि कविकालिदासस्य एवमेव कृतिः—"अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात् पश्चात्" इति । वसन्ततिलका छन्दः ।

हि० टी०—यदि प्राणप्यारी वह उर्वशी इधर गई होती तो, वर्षा से गीली हुई इस रेतली भूमि में उस के पांवों के मेंहदी से रंगे हुए सुन्दर चिन्ह अवश्य दिखाई देते, जो कि बड़े २ नितम्बों के बाझ से एड़ी की ओर से दबे हुए (और आगेकी ओर से उभरे हुए) होते ।

(३०) उपलब्धम् प्राप्तम्, उपलक्षणम् चिन्हम्, कोपनायाः, क्रोधवत्याः, मार्गः पन्थाः, अनुमीयते उन्नीयते ।

(द्विपदिका से घूमकर और देखकर) हर्ष के साथ अब तो मैंने चिन्ह पालिया है जिससे उस कुपित उर्वशी का रास्ता मालूम होसकता है ।

हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिर्निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम् ।
च्युतं रुषा भिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम् ॥(३१)

भवतु । आदास्ये तावत् । (परिक्रम्य विभाव्य च सास्रम्) कथं सेन्द्रगोपं नवशाद्वलमिदम् । तत्कुतोऽस्मिन्विपिने प्रियाप्रवृत्तिमागमयेयम् । (विलोक्य) अयमासारोच्छलितशैलतटस्थलीपाषाणमधिरूढः । (३२)

---

(३१) अन्वयः–हृतोष्ठेति । निमग्ननाभेः हृतोष्ठरागैः निपतद्भिः नयनोदबिन्दुभिः अङ्कितम् शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम्, असंशयं रुषा भिन्नगतेः च्युतम् (अस्ति)

च० टी०—निमग्ननाभेः गम्भीरनाभेः हृतोष्ठरागैः हृतः ओष्ठरागः अधरारुणिमा यैः तैः (नयनाश्रुवर्षेण अधरस्य ताम्बूलादिरागः अपहतः इत्यर्थः) नयनोदबिन्दुभिः अश्रुकणैः, अङ्कितम् चिन्हितम् शुकोदरश्यामम् शुकस्योदरवत् श्यामलम् इदं स्तनांशुकं कुचोपरिवस्त्रम्, असंशयं निश्चितं रुषा क्रोधेन भिन्नगतेः विसंष्ठुलगमनायाः च्युतं भ्रष्टम् अस्तीति शेषः । कोपवशात् विसंष्ठुलपादविक्षेपेण गच्छन्त्या तया पश्चात् परित्यक्तमितिभावः । वंशस्थं वृत्तम् ।

हि० टी०—उस गम्भीर नाभि वाली मेरी प्राणप्यारी का निःसन्देह यह स्तनों के ऊपर का वस्त्र (चोली) तोते की तरह हरित वर्ण वाला, जोकि ओठों की लालिमा वाले आंखों के आंसुओं के चिन्हों से युक्त है, स्खलित गति होने से यहां पर गिरा है ।

(३२) सेन्द्रगोपम् इन्द्रगोपनामकरक्तवर्णकीटविशेषपरिव्याप्तं, शाद्वलं हरितवर्णम् । प्रियाप्रवृत्तिम् उर्वशीवृत्तान्तम्, आगमयेयं ज्ञास्यामि, प्रियामार्गं प्राप्नोमीत्यर्थः । आसारोच्छलितम्, आसारस्य धारासंपातस्योच्छलितं यत्र ।

अस्तु, इसे ग्रहण करता हूं । (घूमकर और मालूम करके आंसुओं सहित) अहो ! यह तो इन्द्रगोप नामक कीड़े से युक्त हरी घास है । सो किस तरह इस जंगल में अपनी प्राणप्यारी के वृत्तान्त को प्राप्त करूं । (देखकर) सो इस पत्थर पर चढ़ता हूं जोकि बर्षा की धारा के गिरने से भीगा हुआ, पहाड़ के तट की भूमि में स्थित है ।

आलोकयति पयोदान्प्रबलपुरोवातनर्तितशिखण्डः।
केकागर्भेण शिखी दूरोन्नमितेन कण्ठेन ॥ (३३)

(उपेत्य) भवतु ! यावदेनं पृच्छामि ।

(अनन्तरे खण्डकः) (ज)

(संपत्तविसूरणओ तुरिअं परवारणओ ।
पिअतमदंसणलालसओ गअवरु विम्हिअमाणसओ ।)

संप्राप्तखेदस्त्वरितं परवारणः ।
प्रियतमादर्शनलालसो गजवरो विस्मितमानसः ॥(३४)

---

(३३) अन्वयः—आलोकयतीति । प्रबलपुरोवातनर्तितशिखण्डः शिखी दूरोन्नमितेन कण्ठेन केकागर्भेण पयोदान् आलोकयति ।

च० टी०-प्रबलेन अतिवेगवता पुरोवातेन पूर्वदिग्वायुना नर्तितः शिखण्डः बर्हः यस्य स तथा भूतः । शिखी मयूरः दूरोन्नमितेन उन्नतीकृतेन कण्ठेन गलेन उपलक्षितः केकागर्भेण स्ववाण्या पयोदान् मेघान् आलोकयति पश्यति । मेघे गर्जिते सति मयूरः सानन्दं नृत्यति । "शिखण्डो बर्हचूडयोः" इति मुक्तावली । "केकावाणी मयूरस्य" इत्यमरः । "शिखावल शिखी केकी "इतिच ।

हि० टी०—गर्दन को ऊंचे उठाये हुए केका बाणी को बोलता हुआ यह मोर बादलों की ओर देख रहा है। इसका बर्ह (शिखण्ड) पूर्व की हवा से कम्पित होरहा है (नजदीक जाकर) अस्तु, इससे कुछ पूछता हूं ।

(इसके बाद खण्डक गीत का गान होता है)

(३४) अन्वयः—सम्प्राप्तेति । त्वरितं सम्प्राप्तखेदः परवारणः प्रियतमादर्शनलालसः विस्मितमानसः गजवरः विचरतीति शेषः ।

च० टी०—त्वरितं शीघ्रमेव सम्प्राप्तखेदः सप्राप्तं लब्धं खेदं दुखं येन सः परवारणः परबलदलनः प्रियतमायाः स्वप्रणयिन्याः दर्शने

(ज) खण्डकः गीतिविशेषः । तल्लक्षणन्तु 'विरहव्यापृता या तुपठेद्गीतिं कुशीलवी । प्राकृतेन प्रबन्धेन खण्डकः स उदाहृतः' ॥

(तेनाखण्डकान्तरे चर्चरी) (झ)

(बंहिण पे इअ अब्भत्थिअम्मि आअक्खहि मं ता
एत्थ अरण्णे भमन्ते जइ तुइ दिट्ठी सा महु कान्ता ।
णिसम्महि पिअङ्कसरिसेण वअणेण हंसगई
ए चिण्हे जाणिहिसि आअक्खिउ तुज्झ मई ॥)

बर्हिण परमित्यभ्यर्थये आचक्ष्व मम ताम्
अत्रारण्ये भ्रमता यदि त्वया दृष्टा सा मम कान्ता ।
निशामय मृगाङ्कसदृशेन वदनेन हंसगतिः
अनेन चिन्हेन ज्ञास्यस्याख्यातं तव मया ॥ (३५)

लालसः साभिलाषुकः विस्मितमानसः विस्मितचेताः गजवरः श्रेष्ठगजः विचरति । गजवरशब्दात् सम्प्राप्तखेदः राजा लक्ष्यते । 'परवारण' इति विशेषणमपि हेतुगर्भमस्ति, अर्थात् परबलदलनोऽप्यहं स्वप्रियतमासंरक्षणेऽपि क्षमो नास्मीति खेदे विस्मयेच ।

हि० टी०—*बहुत शीघ्र खेद को प्राप्त, शत्रुओं का नाश करने वाला, अपनी प्राणप्यारी को देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक, तथा विस्मितचित्त, श्रेष्ट हाथी (ध्वनि से-राजा) घूमरहा है ।*

(खण्डक गीत के बाद चर्चरी का गान होता है ।)

(३५) अन्वयः—बर्हिण इति । बर्हिण ! "अत्रारण्ये भ्रमता त्वया यदि हंसगतिः सा मम कान्ता दृष्टा ताम् मम आचक्ष्व" इति परम् अभ्यर्थये । निशामय, मृगाङ्कसदृशेन वदनेन अनेन चिन्हेन ज्ञास्यसि (इति) मया तव आख्यातम् ।

च० टी०—**हे बर्हिण ! हे मयूर ! अत्रारण्ये अस्मिन्वने भ्रमता पर्यटता त्वया (मयूरेण) यदि हंसगतिः मरालगामिनी, सा मम कान्ता उर्वशी, दृष्टा विलोकिता, ताम् मम मां प्रतीत्यर्थः, आचक्ष्व कथय इति अहं परमत्यन्तम् अभ्यर्थये प्रार्थये । निशामय शृणु, मृगाङ्कसदृशेन चन्द्रतुल्येन वदनेन मुखेन अनेन चिन्हेन ज्ञास्यसि,**

(झ) तेनेतिमङ्गलार्थकमक्षरद्वयम्—"तेकारः शंकर प्रोक्तो नाकारश्च उमा तथा । गीतादौ तेन वक्तव्यं तना इत्यक्षरद्वयम्" इति ।

(चर्चरिकयोपविश्य । अञ्जलिं बध्वा ।)

नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा वनेऽस्मिन्वनिता त्वया ।
दीर्घापाङ्गा सितापाङ्ग दृष्टा दृष्टिक्षमा भवेत् ॥ (३६)

(चर्चरिकया विलोक्य) कथमदत्त्वैव प्रतिवचनं नर्तितुं प्रवृत्तः। किं नु खलु हर्षकारणमस्य (विचिन्त्य) आं, ज्ञातम्—

इति मया पुरूरवसा तव त्वां प्रति आख्यातम् कथितम् । हंसगमनत्वं चन्द्रवन्मुखत्वं च तस्याः चिन्हे । "मयूरो बर्हिणो बर्ही" इत्यमरः। वदनेनेत्युपलक्षणे तृतीया ।

हि० टी०—हे मोर ! 'इस वन में भ्रमण करते हुए तूने यदि हंस की चाल वाली मेरी प्राण प्यारी उर्वशी देखी हो तो मुझे कहदे' तुझसे मेरी यह अत्यन्त प्रार्थना है । भाई सुन, 'वह चन्द्रमा के तुल्य मुखवाली है' इस चिन्ह से तू उसे पहचान लेगा यह मैंने तुझे कह दिया है ।

(चर्चरिका गीति से बैठकर । हाथ जोड़कर ।)

(३६) अन्वयः—नीलकण्ठ इति । हे सितापाङ्ग, नीलकण्ठ ! अस्मिन् वने त्वया, दीर्घापाङ्गा दृष्टिक्षमा मम वनिता दृष्टा भवेत् इति मम उत्कण्ठा अस्ति ।

च० टी०—हे सितापाङ्ग ! धवलदृगन्त ! नीलकण्ठ मयूर ! अस्मिन्वने कानने त्वया दीर्घापाङ्गा आकर्णपूर्णनयनान्ता, दृष्टिक्षमा दृष्टौ दर्शने, क्षमा योग्या, मम (पुरूरवसः) वनिता स्त्री उर्वशी दृष्टा भवेत् विलोकिता स्यात् इति मम (राज्ञः) उत्कण्ठा अस्ति । कथय किं त्वया दृष्टा ? अनुष्टुप् वृत्तम् ।

हि० टी०—हे श्वेतनयनान्त मोर ! इस वन में क्या तूने विशाल नेत्रों वाली मेरी प्राण प्यारी देखी है जो कि देखने के योग्य है ? इस बात को जानने के लिए मुझे बड़ी उत्कण्ठा है ।

(चर्चरिका से देखकर) हाय ! बिना उत्तर दिये ही यह नाचने लग गया है । इसकी प्रसन्नता का क्या कारण है ? (सोच कर) हां, समझ गया—

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशा-
द्घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽस्य जातः ।
रतिविगलितबन्धे केशहस्ते सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे किं करोत्येष बर्ही ॥ (३७)

भवतु । परव्यसनसुखितं न पुनरेनं पृच्छामि । (द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य) अये, इयमातपान्तसंधुक्षितमदा जम्बूविटपमध्यास्ते परभृता । विहगेषु पण्डितैषा जातिः । यावदेनां पृच्छामि । (३८)

---

(३७) अन्वयः—मृद्विति । मत् प्रियायाः विनाशात् अस्य मृदुपवनविभिन्नः घनरुचिरकलापः निःसपत्नः जातः । सुकेश्याः कुसुमसनाथे रतिविगलितबन्धे केशहस्ते सति एष बर्ही किं करोति ? (अत्र 'कं हरेदेष बर्ही' इति पाठो बहुत्रावलोक्यते, स एव साधीयान् ।)

च० टी०—मत् प्रियायाः उर्वश्याः विनाशात् विलोपात् अस्य मृदुपवनविभिन्नः मृदुपवनेन मन्दं प्रवहता वातेन विभिन्नः विश्लिष्टः घनरुचिरकलापः घनवत् मेघवत् रुचिरः सुन्दरः, कलापः पिच्छभारः यस्य सः, निःसपत्नः निरुपमः जातः, सुकेश्याः सुन्दरकेशवत्याः, कुसुमसनाथे पुष्पयुक्ते, रतिविगलितबन्धे रत्यां रतिकाले विगलितः स्रस्तः बन्धः बन्धनं यस्य तस्मिन् केशहस्ते सति एष बर्ही मयूरः किं करोति । असत्यामुर्वश्यां भवतु नामायं निरुपमः, परं रतिविगलितबन्धे पुष्पयुक्ते उर्वशीकेशपाशे सति अस्य शोचनीया दशा स्यात् । "कलापः संहते बर्हे काञ्च्यादौ तूणवृन्दयोः" इति विश्वलोचनः । मालिनी वृत्तम् ।

हि० टी०—मेरी प्राण प्यारी के नाश हो जाने से इस मोर का मृदु पवन से बिखरा हुआ बादल की भांति सुन्दर केश कलाप निरुपम हो गया है । पुष्पयुक्त उस सुकेशी के केश कलाप के रतिकाल में ढीला होने पर यह मोर क्या करेगा ? अर्थात् उस समय इसे अपने प्रति स्पर्धी के कारण असह्य दुःख होगा ।

(३८) परव्यसनसुखितम् अन्यकष्टहर्षितम् , आतपस्य घर्मस्य अन्तेन नाशेन संधुक्षितः बर्धितः मदः मादः यस्याः सा, परभृता कोकिला, विहगेषु पक्षिषु ।

(अनन्तरे खुरकः) (ज)

(विज्जज्झरकाणणलीणओ दुक्खविणिग्गहब्राहुप्पीडओ।
दूरोसारिअहिअआणन्दओ अम्बरमाणे भमइ गइन्दओ ॥)

विद्याधरकाननलीनो दुःखविनिर्गतबाष्पोत्पीड़ः।
दूरोत्सारितहृदयानन्दः अम्बरमानेन भ्रमति गजेन्द्रः॥ (३८)

खैर, दूसरे के दुःख से सुखी होने वाले इसे नहीं पूछता हूं। (द्विपदिका से दिशाओं को देख कर) अरे, धूप के चले जाने पर यह मतवाली कोयल जामून के पेड़ में बैठी है। पक्षियों में इसकी जाति उत्तम गिनी जाती है। इसे पूछता हूं।

(इसके बाद खुरक गीत के द्वारा गान होता है।)

(३८) अन्वयः—विद्येति। विद्याधरकाननलीनः दुःखविनिर्गतबाष्पोत्पीड़ः दूरोत्सारितहृदयानन्दः गजेन्द्रः अम्बरमानेन भ्रमति।

च० टी०—विद्याधराणां देवयोनीनां कानने वने लीनः प्राप्तः दुःखेन कष्टेन विनिर्गतानि प्रादुर्भूतानि यानि बाष्पाणि अश्रूणि तैः उत्पीडः पीड़ायुक्तः, दूरोत्सारितं दूरीकृतं हृदयस्य चेतसः आनन्दः हर्षः येनः सः, गजेन्द्रः हस्तिराट् अम्बरमानेन (उपलक्षणे तृतीया) आकाशव्यापिना अङ्गेन, अत्युच्चेन इति यावत् भ्रमति पर्यटति। उर्वशीविरहेण सोत्पीड़ः राजा भ्रमतीति लक्ष्यते।

हि० टी०—विद्याधरों के वन में प्रविष्ट, दुःखजनित अश्रु गिराता हुआ, और जिसके हृदय का आनन्द दूर हो गया है, ऐसा गजराज (ध्वनि से-राजा) घूम रहा है।

(ज) खुरको गेय विशेषः। यथाह भरतः—"पूर्वपूर्वाक्षरत्यागे योऽन्यो वर्ण चयः स चेत्।
उत्तरोत्तरसंघातो खुरकः परिकीर्तितः॥"
यद्वा नृत्यविशेषः—'पटमञ्जरि रागसंयुतं यद् द्रुतमध्येन लयेन यत् प्रयुक्तम्।
प्रतिताल युतं च नर्तनं तत् खुरकाख्यं मुनये शिवेन दत्तम्॥
'लघुर्द्रुतद्वयं यत्र प्रतितालः प्रकीर्तितः' इति।

(हेल्ले हेले) हरे हरे ।
(परहुअ महुरपलाविणि कन्ती णन्दणवण सच्छन्द भमन्ती ।
जइं पइं पिअअम सा महु दिट्ठी ता आअक्खहि महु परपुट्ठी ॥)

परभृते मधुरप्रलापिनि कान्ते नन्दनवने स्वच्छन्दं भ्रमन्ती ।
यदि परं प्रियतमा सा मम दृष्टा तदाचक्ष्व मम परपुष्टे ॥ (३९)

(एतदेव नर्तित्वा वलन्तिकयोपसृत्य जानुभ्यां स्थित्वा ।) **भवति !** (ट)

त्वां कामिनो मदनदूतिमुदाहरन्ति
मानावभङ्गनिपुणं त्वममोघमस्त्रम् ।
तामानयप्रियतमां मम वा समीपं
मां वा नयाशु कलभाषिणि यत्र कान्ता ॥ (४०)

हेरे, हेरे ।

(३९) **अन्वयः**—परभृत इति । हे मधुरप्रलापिनि कान्ते, परभृते, परपुष्टे ! यदि (त्वया) नन्दनवने स्वच्छन्दं भ्रमन्ती सा मम परं प्रियतमा दृष्टा, तर्हि मम आचक्ष्व ।

च० टी०—**हे मधुरप्रलापिनि, प्रियभाषिणि, कान्ते मनोनयनानन्ददायिनि, परभृते पिक, परपुष्टे कोकिल, यदि त्वया नन्दनवने देवकानने, भ्रमन्ती पर्यटन्ती, सा प्रसिद्धा उर्वशी मम (पुरूरवसः) परं प्रियतमा दृष्टा विलोकिता तर्हि तदा मम आचक्ष्व मां प्रति कथय । 'परभृते परपुष्टे' इत्यत्र आदरात्, वक्तुरुन्मत्तत्वाद्वा द्विरुक्तिर्न दोषावहा।**

हि० टी०—*ऐ मधुरालाप करने वाली, ऐ चित्त को आनन्दित करने वाली कोयल अगर तूने स्वच्छन्द भ्रमण करने वाली मेरी प्राण प्यारी देखी हो तो बतादे ?*

(यही नाचकर, वलन्तिका राग से कुछ नजदीक जाकर, घुटनाओं के बल ठहर कर) *ऐ कोयल !*

(४०) अन्वयः—त्वामिति । हे मृदुभाषिणि ! कामिनः त्वां मदनदूतिम् उदाहरन्ति, त्वम् मानावभङ्गनिपुणम् अमोघम् अस्त्रम् (असि) वा तां प्रियतमां मम समीपमानय, वा माम् आशु (तत्र) नय, यत्र कान्ता (अस्ति)

(ट) वलन्तिका रागविशेषः । तथा च संगीतरत्नाकरे—
"वलन्तिका तदुपाङ्गं स्याद्रिहीना मन्द्रधैवता संन्यासांशग्रहहार्या श्रृंगारे शार्ङ्गिणोदिता ।"

(वामकेन किञ्चिद्वलित्वा । आकाशे ।) किमाह भवती । कथं त्वामेवमनुरक्तं विहाय गतेति । शृणोतु भवती । (ठ)

कुपिता नु न कोपकारणं सकृदप्यात्मगतं स्मराम्यहम् ।
प्रभुता रमणेषु योषितां नहि भावस्खलितान्यपेक्षते ॥ (४१)

च० टी०–हे मृदुभाषिणि, प्रियप्रलापिनि, कामिनः कामपीड़िताः नराः त्वां मदनदूतिम् कामसंचारिकाम् उदाहरन्ति कथयन्ति, त्वम् मानावभङ्गनिपुणं मानस्य कोपस्य अवभङ्गे भञ्जने निपुणम् दक्षम् अमोघम् सफलम्, अस्त्रं शस्त्ररूपम् असि, वा अथवा तां प्रियतमाम् उर्वशीम्, मम (पुरूरवसः) समीपम् आनय वा अथवा माम्, आशु शीघ्रमेव तत्र तस्याः समीपम् नय प्रापय, यत्र सा नयनानन्दायिनी कान्ता अस्ति। "दूती संचारिके समे" इत्यमरः । वसन्ततिलका छन्दः ।

हि टी०—*ऐ मीठा बोलने वाली कोयल ! कामी लोग तुझको कामदेव की दूती कहा करते हैं; तू कामिनियों के मान तोड़ने के लिए अमोघ अस्त्र है; या तो तू मेरी प्यारी को मेरे पास ले आ; अथवा मुझे ही शीघ्र वहां ले चल जहां पर वह आंखों को आनन्द देने वाली है।*

(बांई तरफ से कुछ मुड़कर । आकाश की ओर) *आप क्या कहती हो–किस लिए इस तरह प्रेम करने वाले तुम्हें, छोड़कर चली गई । श्रीमति ! सुनिए—*

(४१) **अन्वयः**—कुपितेति । कुपिता नु, कोपकारणं सकृदपि आत्मगतं न स्मरामि, हि योषितां रमणेषु प्रभुता भावस्खलितानि न अपेक्षते ।

च० टी०–सा उर्वशी कुपिता क्रुद्धा, नु इति वितर्के, कोपकारणं क्रोधकारणं सकृदपि एकवारमपि, आत्मगतं स्वविषये, न स्मरामि; हि यतः योषितां स्त्रीणां रमणेषु स्वपतिषु प्रभुता स्वामित्वं भावस्खलि-

---

(ठ) वामकं पार्श्वस्थितवस्त्ववलोकने संस्थानविशेषः–

यदुक्तम् —"भुतेन शिरसा यत्त पार्श्वेन वलितेन च
तद्वामकं त्र करणं पार्श्वस्थस्यावलोकने" इति

(ससंभ्रममुपविश्य अनन्तरं जानुभ्यां स्थित्वा 'कुपिता' इति पठित्वा विलोक्य च ।)
कथं कथाविच्छेदकारिणी स्वकार्य एव व्यासक्ता । (४२)

महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः
प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य ।
अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता
फलमभिनवपाकं राजजम्बूद्रुमस्य ॥ (४३)

तानि अभिप्रायस्खलितानि न अपेक्षते नेच्छति । अभिप्रायस्यान्यथाभावे ताः कुप्यन्ति, अन्यथाचरणे तु किमुत वक्तव्यमिति भावः । सुन्दरी वृत्तम् ।

हि० टी०—*वह उर्वशी कुपित अवश्य हुई है मगर उसके क्रोध का कारण एक बार भी याद नहीं आता, क्योंकि स्त्रियां तो अपने प्यारों पर इस प्रकार प्रभुता जताती हैं कि उनके भाव (अभिप्राय) मात्र के बदलने से कुपित हो जाती हैं । अर्थात्—जो स्त्रियां भाव के परिवर्तन मात्र से कुपित हो जाती हैं, उनके विपरीत कोई काम करने पर वे कुपित हो जावें, इसका क्या कहना है ?*

(सहसा बैठकर, फिर घुटनाओं पर स्थित होकर "कुपिता" इत्यादि पढ़कर और देखकर ।)

(४२) कथेति—कथाविच्छेदकारिणी मम कथायाम् विघ्नोत्पादिका, अन्यविषयलग्नचित्ता अननुरागवती इतिभावः । व्यासक्ता लग्ना ।

अहो ! मेरी बात को बिना सुने ही यह तो किसी और काम में लग गई है ।

(४३) **अन्वयः**—महदिति—महदपि परदुःखं शीतलं सम्यग् आहुः, यत् मदान्धा एषा आपद्गतस्य मम प्रणयम् अगणयित्वा राजजम्बूद्रुमस्य अभिनवपाकं फलम् अधरमिव पातुं प्रवृत्ता ।

च० टी०—(लोकाः) महदपि गुरुतरमपि परदुःखम् अन्यकष्टं यत् शीतलम् आहुः कथयन्ति तत् सम्यक् समीचीनम्, यत् यस्मात् मदान्धा वसन्तमदमत्ता एषा इयं कोकिला आपद्गतस्य प्रियाविरह-

तदेवं गतेऽपि प्रियेव मे मञ्जुस्वनेति न मे कोपोऽस्याम् । सुखमास्तां भवती । साधयामस्तावत् । (उत्थाय द्विपदिकया परिक्रम्याव-लोक्य च ।) अये, दक्षिणेन वनधारां प्रियचरणनिक्षेपशंसी नूपुरशब्दः । यावदेनमनुगच्छामि । (परिक्रम्य) (४४)

(पिअअमविरहकिलामिअवअणओ अविरलवाहजलाउलणअणओ ।
दूसहदुक्खविसंठुलगमनओ पसरिअगुरुतावदिविअङ्गओ ।
आहिअ दुम्मिअमाणसअओ दरिअंगओ काणणं परिभमइ गइन्दओ ॥)

दुःखपीड़ितस्य मम पुरूरवसः प्रणयम् अनुरागम् , अगणयित्वा अवि-चार्य्यैव, राजजम्बूद्रुमस्य तत्संज्ञकवृक्षस्य अभिनवपाकं सद्यः पक्वं फलं अधरमिव ओष्ठमिव पातुं प्रवृत्ता प्रक्रान्ता । यथा कामपीडिता काचित् कामिनी आर्तजनप्रार्थनामगणयित्वा आलिङ्गनचुम्बनादिक-मारभते, तद्वदियमपि ममार्तस्य वचनमनादृत्यैव स्वकार्ये व्यासक्तेति भावः । "राजजम्बूर्महाफला" इत्यमरः । मालिनी वृत्तम् ॥

हि० टी०—*लोग दूसरे के बड़े भारी दुःख को भी शीतल बताते हैं यह ठीक ही है, क्योंकि मद से मस्त हुई यह कोयल, अपनी प्राण प्यारी के दुःख से पीडित मेरे प्रेम को न गिनकर, मेरी प्राणप्यारी के ओष्ठों के समान, पके हुए महाफलों को खाने लग गई है ।*

(४४) तत् तस्मात् , एवं गतेऽपि एवं मम प्रार्थनामगणयित्वा कार्यान्तरलग्ने सत्यपि, यदियं मत्प्रिया इव मञ्जुभाषिणी, अतोऽस्यां मे कोपोऽनुचित इतिभावः ! साधयामः गच्छामः वनधारां वनपार्श्वं दक्षिणेन तस्य दक्षिणतः इत्यर्थः । धारा पङ्क्तिः, दक्षिणेत्येनप्रायग्रान्तो निपातः । तद्योगे च वनधारामिति द्वितीया । "धारा पङ्क्तौ द्रव-द्रव्यस्रोत्रेऽश्वगति । पत्रके" इति विश्वलोचनः ।

ऐसा होने पर भी यह कोयल मेरी प्यारी की तरह मीठा बोलती है इसलिए इस पर मेरा क्रोध अनुचित है । हे कोयल ! तुम सुख से रहो । हम जाते हैं । (उठकर द्विपदिका से घूमकर और देखकर) अरे ! दक्षिण दिशा से प्रिया के गमन को बताने वाले उसके नूपुरों की सी झंकार आ रही है । इस झंकार के पीछे चलता हूं । (घूमकर)

प्रियतमाविरहक्लान्तवदनः अविरलबाष्पजलाकुलनयनः ।
दुःसहदुःखविसंष्ठुलगमनः प्रसृतगुरुतापदीप्ताङ्गः ॥
अधिकं दूनमानसो दरीं गतः कानने परिभ्रमति गजेन्द्रः ॥(४५)

(इति ककुभेन षड्पभङ्गाः ।)

(अनन्तरं द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य ।)

(पिअकरिणीविच्छोइअओ गुरुसोआणलदीविअओ ।
बाहजलाउललोअणओ करिवरु भमइ समाउलओ ॥)

---

(४५) अन्वयः—प्रियतमेति—प्रियतमाविरहक्लान्तवदनः अविरलबाष्पजलाकुलनयनः दुःसहदुःखविसंष्ठुलगमनः प्रसृतगुरुतापदीप्ताङ्गः अधिकं दूनमानसः दरीं गतः गजेन्द्रः कानने भ्रमति ।

च० टी०—प्रियेति-प्रियतमायाः प्राणप्रियायाः विरहेण वियोगेन क्लान्तं कान्तिरहितं वदनं मुखं यस्य सः, अविरलं निरन्तरं, बाष्पजलेन नयनाश्रुवारिणा, आकुले युक्ते, नयने नेत्रे यस्य सः, दुःसहेन सोढुमशक्येन, दुःखेन कष्टेन, विसंष्ठुलगमनः स्खलद्गतिः, प्रसृतेन विसर्पिणा, गुरुतापेन अतिदुःखेन दीप्तानि अङ्गानि यस्यसः, अधिकं यथा स्यात्तथा दूनमानसः दुःखितचेताः दरीं कन्दरां गतः प्राप्तः, गजेन्द्रः गजाधिपः कानने वने भ्रमति विचरति । गजेंद्रापदेशेन राजा लक्ष्यते-राजा वने विचरतीतिभावः ॥

हि० टी०—*अपनी प्राणप्यारी के वियोग से मुर्झाये हुये मुंह वाला, निरन्तर आंसुओं से पूर्ण नयन; असह्य दुःख के कारण इधर उधर गिरता हुआ; सारे अङ्गों में फैले हुए ताप से युक्त; अधिक दुःखित चित्त;और कन्दरा को प्राप्त, यह गजेन्द्र (ध्वनि से-राजा) वन में घूमरहा है।*

(इस प्रकार राजा ने छः अवच्छेदों से ककुभ राग को गाया।)

(फिर द्विपदिका से दिशाओं को देख कर।)

प्रियकरिणीवियुक्तो गुरुशोकानलदीप्तः ।
बाष्पजलाकुललोचनः करिवरो भ्रमति समाकुलः ॥४६॥

(सकरुणम्) हा धिक् कष्टम् ।

मेघश्यामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसा ।
कूजितं राजहंसेन नेदं नूपुरशिञ्जितम् ॥ (४७)

---

(४६) अन्वयः—प्रियेति–प्रियकरिणीवियुक्तः गुरुशोकानलदीप्तः बाष्पजलाकुललोचनः समाकुलः करिवरः भ्रमति ।

च० टी०—प्रियकरिण्याः स्वप्रियहस्तिन्याः वियुक्तः विरहितः गुरुशोकानलदीप्तः गुरुणा महता, शोकानलेन शोकाग्निना, दीप्तः, बाष्पजलाकुललोचनः बाष्पजलेन अश्रुजलेन, आकुले व्याप्ते, लोचने नेत्रे यस्य सः, समाकुलः सम्यक् आकुलः करिवरः गजेन्द्रः भ्रमति विचरति । करिवरापदेशेन शोकसमाकुलो राजा लक्ष्यते ।

हि०टी०—*अपनी प्यारी हस्तिनी (ध्वनि से-उर्वशी) से रहित, शोक की बड़ी भारी आग से दीप्त, अश्रुयुक्त नयन, और व्याकुल गजेन्द्र (ध्वनि से-राजा) घूम रहा है । (करुणा के साथ) हाय ! धिक्कार है ।*

(४७) अन्वयः—मेघेति । मानसोत्सुकचेतसा राजहंसेन मेघश्यामाः दिशः दृष्ट्वा कूजितम् , इदं नूपुरशिञ्जितं न (अस्ति ।)

च० टी०—मानसे तदाख्यसरोवरे, उत्सुकं तत्रगमनायउत्कण्ठितम् , चेतः मनः यस्य तेन, राजहंसेन, मेघश्यामा मेघेन मेघोदयेन श्यामाः नीलाः दिशः दृष्ट्वा कूजितं शब्दः कृतः, इदं नूपुरशिञ्जितं नूपुराणां मञ्जीराणां शिञ्जितं ध्वनिः नास्ति । "ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः" इति कविप्रसिद्धत्वात् । "मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्" इति त्रिकाण्डी । "भूषणानां तु शिञ्जितम्" इति च । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०—मानसरोवर की ओर उड़ने के लिए उत्सुक, राजहंस ने बादलों से काली दिशाओं को देख कर शब्द किया है, यह नूपुरों की झंकार नहीं है ।

भवतु। यावदेते मानसोत्सुकाः पतत्रिणः सरसोऽस्मान्नोत्पतन्ति तावदेतेभ्यः प्रियाप्रवृत्तिरवगमयितव्या। (वलन्तिकयोपसृत्य) अहो, जलविहंगमराज ! (४८)

पश्चात्सरः प्रतिगमिष्यसि मानसं त्वं
पाथेयमुत्सृज बिसं ग्रहणाय भूयः।
मां तावदुद्धर शुचो दयिताप्रवृत्त्या
स्वार्थात्सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव ॥ (४९)

---

(४८) पतत्रिणः पक्षिणः। प्रियाप्रवृत्तिं प्रियायाः उर्वश्याः प्रवृत्तिं वार्ताम्, आगमयेयम् प्राप्नोमि। वलन्तिका गीतिविशेषः, गतिविशेषो वा।

अस्तु, जब तक ये मानसरोवर में जाने के लिए उत्सुक पक्षी, इस तालाब से नहीं उड़ते (मुझे) तब तक इनसे अपनी प्यारी का पता लगाना चाहिए। (वलन्तिका राग से समीप जाकर) *अहो ! जलपक्षिराज !*

(४९) अन्वयः–पश्चादिति। त्वं पाथेयं बिसम् उत्सृज, भूयः ग्रहणाय मानसं सरः पश्चात् प्रतिगमिष्यसि। तावत् मां दयिताप्रवृत्त्या शुचः उद्धर सतां प्रणयिक्रिया एव स्वार्थात् गुरुतरा।

च० टी०—त्वं पथिषु साधु पाथेयं सिद्धान्नम्, बिसम् मृणालरूपं पाथेयम्, उत्सृज परित्यज, भूयः पुनः, ग्रहणाय आदातुं मानसं मानसरोवरं पश्चात् प्रतिगमिष्यसि। पूर्वं तावत् मां (पुरूरवसम्) दयिताप्रवृत्त्य दयितायाः स्वप्रियायाः प्रवृत्त्या संवाददानेन, शुचः वियोगदुःखात् उद्धर शोकविहीनं कुरु इत्यर्थः। किं तव एवं करणेनेत्याह–सतां सज्जनानाम् प्रणयिक्रिया प्रियजनोपकारः एव स्वार्थात् स्वप्रयोजनात् गुरुतरा बलवती महतीत्यर्थः। न खलु सत्पुरुषाः स्वार्थमनुसरन्ति, तेषां तु परोपकरणमेव सुखकरमितिभावः। वसन्ततिलका वृत्तम्।

हि० टी०—*ऐ राजहंस ! रास्ते में खाने के योग्य इस मृणाल* को छोड़ दे; *मृणाल (कमल की नाल) को खाने के लिए तू फिर मान*

(पथोन्मुखो विलोकयति) मानसोत्सुकेन मया न लक्षितेत्येवं वचनमाह।

(उपविश्य चर्चरी ।)

(रे रे हंसा किं गोइज्जइ ।)

रे रे हंस, किं गोप्यते ।

(इति नर्तित्वा उत्थाय ।)

यदि हंस गता न ते नतभ्रूः सरसो रोधसि दृक्पथं प्रिया मे ।
मदखेलपदं कथं नु तस्याः सकलं चोर गतं त्वया गृहीतम् ॥(५०)

सरोवर में चला जाना, इस को तोड़ने से पहिले मेरा उद्धार कर, मैं प्राण प्यारी के वृत्तान्त को न मिलने के शोक से दुःखित हूं, क्योंकि सज्जन पुरुष स्वार्थ की अपेक्षा परोपकार को बड़ा समझते हैं।

(रास्ते की ओर देखता है) हां, यह कहता है कि—'मानसरोवर की ओर चित्त होने के कारण मैंने तुम्हारी प्यारी नहीं देखी'।

(बैठकर चर्चरी राग से गान करता है।)

अरे ! रे ! हंस ! छिपते क्यों हो ?

(यह कह कर तथा नाचकर और उठकर ।)

(५०) अन्वयः–यदीति । हंस ! यदि नतभ्रूः मे प्रिया सरसः रोधसि ते दृक्पथं न गता, (तदा) हे चोर ! त्वया मदखेलपदं तस्याः सकलं गतं कथं नु गृहीतम् ।

च० टी—हे हंस ! यदि नतभ्रूः मे मम (पुरूरवसः) प्रिया उर्वशी सरसः सरोवरस्य रोधसि तटे ते तव (हंसस्य) दृक्पथं दृग्गोचरं न गता, तदा हे चोर ! त्वया मदखेलपदं मदेन हर्षेण खेला लीला तदुपलक्षितं पदं–पादक्षेपः यस्मिन् तत् अथवा खेलत इति खेले (पचाद्यच् विशेष्य निघ्नत्वात् क्लीबत्वम्) मदेन खेले खेलायुक्ते पदे चरणौ यत्र तथा भूतम्। तस्याः उर्वश्याः सकलं सम्पूर्णं गतं गमनं कथं केनप्रकारेण गृहीतम् ? यतः भवद्गमनं मत्प्रियानुकारि ततो भवता अवश्यमेव मत्प्रिया दृष्टेति भावः। "कासारः सरसीसरः" इति त्रिकाण्डी। "क्रीडा खेला च कूर्दनम्" इति च। मालभारिणी वृत्तम्।

हि० टी०—हे हंस ! यदि वह कुटिल भवों वाली मेरी प्यारी,

(चर्चरी)

(गइअणुसारे मइ लक्खिज्जइ ।)

गत्यनुसारेण मया लक्ष्यते । (चर्चरिकयोपसृत्याञ्जलिं बद्ध्वा ।) (५१)

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हृता ।

विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥ (५२)

तालाव के किनारे पर तूने नहीं देखी, तो हे चोर ! उसकी मतवाली चाल को तूने किस प्रकार ग्रहण कर लिया ? (क्योंकि तेरा गमन मेरी प्राण प्यारी की तरह है, इस लिए तूने उसे जरूर देखा है ।)

(चर्चरी का गान होता है ।)

(५१) तव गमनं मत्प्रियासदृशं वर्तते, अतस्तद्‌दृष्ट्वा मया निश्चीयते यदवश्यमेव त्वया सा दृष्टेति ।

तेरे गमन के अनुसार मैं निश्चय करता हूं कि (तूने वह अवश्य देखी है ।) (चर्चरिका राग को गाता हुआ समीप जाकर, हाथ जोड़कर)

(५२) अन्वयः—हसेति । हे हंस मे कान्तां प्रयच्छ (यतः) त्वया अस्याः गतिः हृता, विभावितैकदेशेन (अभियोगवता) यत् अभियुज्यते (तत्) देयम् ।

च० टी०—हे हंस ! मे मम कान्तां प्रियां, प्रयच्छ देहि, यतः त्वया हंसेन अस्याः उर्वश्याः, गतिः गमनम्, हृता नीता, विभावितैकदेशेन विभावितः साक्ष्यादिभिरुपायैः अङ्गीकारितः एकदेशः चोरितद्रव्यांशः येन तादृशेन चोरेण अथवा विभावितः दृष्टः एकदेशो यत्रेति व्याख्येयम् । चोरितद्रव्यस्य एकांशः अस्माभिः त्वयि दृष्टः, अतः तद्वस्तु त्वयाहृतम्,* उर्वशीत्वयैवहृतेतिभावः ।

हि० टी०—*हे हंस ! मेरी प्रिया को मुझे देदे; क्योंकि इस उर्वशी की चाल तूने ही चुराई है; चुराई हुई चीज का एक हिस्सा जिसके पास देखा जाय (उस चीज का चोर वही होता है) उसे ही वह सारी चीज अवश्य देनी पड़ती है ।*

---

* "निन्हुते लिखितं नैकमेकदेशे विभावितः, दाप्यः सर्वं नृपेणार्थं न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः" इति याज्ञवल्क्यः ।

(पुनश्चर्चरी)

(कंइ पंइ सिक्खिउ ए गइलालस ।
सा पंइ दिट्ठी जहणभरालसा ॥)

कस्मात्त्वया शिक्षितमेतद्गतिलालस ।
सा परं दृष्टा जघनभरालसा ॥ (५३)

(पुनश्चर्चरा 'हंस, प्रयच्छ' इत्यादि पठित्वा द्विपदिकया निरूप्य । विहस्य)
एष स्तेनानुशासी राजेति भयादुत्पतितः । यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये । (द्विपदिकया परिक्रम्यावलोक्य च) **अये, प्रियासहायश्चक्रवाकस्तिष्ठति । तावदेनं पृच्छामि । (५४)**

(फिर चर्चरी का गान होता है ।)

(५३) **अन्वयः**—कस्मादिति । हे गतिलालस ! त्वया एतत् कस्मात् शिक्षितम् ? सा जघनभरालसा त्वया परं दृष्टा ।

च०टी०–हे गतिलालस ! गतौ गमनविषये लालसा अभिलाषः यस्य तत्सम्बुद्धौ, त्वया हंसेन, एतत् गमनम् , कस्मात् शिक्षितम् अभ्यस्तम्? सा उर्वशी, जघनभरालसा त्वया परं निश्चितं दृष्टा विलोकिता ।

हि० टी०—हे गतिलालस ! तूने मेरी प्राणप्यारी की चाल कहां सीखी है?इस चाल के कारण तूने मेरी प्राणप्यारी को अवश्य देखा है ।

(फिर चर्चरी का गान) "हंस, प्रयच्छ" इत्यादि पढ़कर, द्विपदिका गान को करके । हंस कर)

(५४) स्तेनः चोरः तमनुशास्तीति स्तेनानुशासी, दुष्टशासकः, सज्जनपुरस्कर्ता च राजा इति प्रसिद्धः । उत्पतितः उड्डीनः । अन्यमवकाशं स्वप्रियावृत्तान्तजिज्ञासया स्थानान्तरम् अवगाहिष्ये गमिष्यामि, स्थलान्तरमन्विष्यामीतिभावः ।

'यह चोरों को दण्ड देने वाला राजा है' यह इसी डर से उड़ गया है । इसलिए अब किसी दूसरे स्थान में जाता हूं । (द्विपदिका राग से घूमकर तथा देख कर ।) अरे, यहां पर तो मेरी प्राण प्यारी का सहायक चक्रवाक स्थित है । तो इसी को पूछता हूं ।

(अनन्तरं कुट्टिलिका ।) †

(मम्मररणिअमणोहरए ।)

मर्मररणितमनोहरे ।

(मल्लघट्टी)

(कुसुमिअतरुवरपल्लविए ।)

कुसुमिततरुवरपल्लविते ।

(चर्चरी)

(दइआविरहुम्माइअओ काणणे भमइ गइन्दओ ।)

दयिताविरहोन्मादितः कानने भ्रमति गजेन्द्रः । (५५)

(इसके बाद कुट्टिलिका, मल्लघट्टी तथा चर्चरी का नृत्य होता है ।)

(५५) अन्वयः—मर्मरेति ! दयिताविरहोन्मादितः गजेन्द्रः, मर्मररणितमनोहरे कुसुमिततरुवरपल्लविते कानने भ्रमति ।

च०टी०–दयितायाः प्रियायाः, विरहेण वियोगेन, उन्मादितः उन्मादं प्रापितः गजेन्द्रः गजपतिः मर्मराणां शुष्कपत्राणां, रणितेन शब्देन, मनोहरे सुन्दरे, कुसुमिताः पुष्पिताः ये तरुवराः श्रेष्ठवृक्षाः तैः पल्लविते पत्रयुक्ते, कानने वने, भ्रमति विचरति । मर्मरः शुष्कपर्णध्वनिरिति यद्यपि, तथापि विशिष्टवाचकानां पदानां विशेषणवाचकपदसांनिध्ये सति विशेष्यमात्रपरत्वमित्यभियुक्तोक्तेः शुष्कपत्रमात्रपरोऽयं मर्मरशब्दः । यद्वा मर्मरः स्वरश्च रणितं च पक्ष्यादीनां ताभ्यां मनोहरे । अत्रापि गजेन्द्रशब्देन राजा लक्ष्यते, अर्थात् उर्वशीवियोगेन उन्मत्तीभूतः राजा कानने विचरतीतिभावः ।

हि० टी०—*अपनी प्राणप्यारी के वियोग में उन्मत्त गजेन्द्र (ध्वनि से-राजा), सूखे पत्तों की मर्मरध्वनि से मनोहर, पुष्पयुक्त पेड़ों से पत्रयुक्त वन में घूमता है ।*

---

† कुट्टिलिका नाट्यविशेषः यदुक्तम्–“रागेणरहितं यतु अर्धमत्तलिकायुतम् ।
भाषयैव च तन्नाट्यं कुटिली संज्ञकं मतम्” ॥

अर्धमत्तली लक्षणं तु—“स्खलत्समतौ पादौ वामश्चेदञ्चितः करः ।
कट्यामन्यस्तदा त्वर्धमत्तली तरुणे मदे ॥

(द्विलयान्तरे चर्चरी ।) *

(गोरोअणाकुङ्कुमवण्णा चक्क भणइ मइ ।
महुवासर कीलन्ती धणिआ ण दिट्ठी तुइ ॥)

गोरोचनाकुङ्कुमवर्ण चक्र भण माम् ।
मधुवासरे क्रीडन्ती धन्या न दृष्टा त्वया ॥ (५६)

(चर्चरिकयोपसृत्य जानुभ्यां स्थित्वा)

रथाङ्गनामन्वियुतो रथाङ्गश्रोणिबिम्बया ।
अयं त्वां पृच्छति रथी मनोरथशतैर्वृतः ॥ (५७)

(दो लयों के बाद चर्चरी का गान होता है ।)

(५६) अन्वयः—गोरोचनेति । गोरोचनाकुङ्कुमवर्ण ! चक्र ! माम् भण, (किम्) त्वया मधुवासरे क्रीडन्ती धन्या न दृष्टा ?

च० टी०—गोरोचना गोः पित्तवत् कुंकुमवर्ण, चन्दनवर्ण ! हे चक्र ! हे कोक ! माम् पुरूरवसं प्रति भण कथय, किम् त्वया चक्रेण मधुवासरे वसन्तदिवसे क्रीडन्ती क्रीडां कुर्वती धन्या सा उर्वशी न दृष्टा विलोकिता ? त्वया दृष्टा न वेति माम् प्रति कथयेत्यर्थः । "कोकश्चक्रश्चक्रवाकः" इति त्रिकाण्डी ।

हि० टी०—हे गोरोचना की तरह चन्दन के रंगवाले चक्रवाक ! मुझ से कहो कि क्या तुमने वसन्त के दिनों में क्रीड़ा करती हुई सौभायवती मेरी प्यारी नहीं देखी है ?

(चर्चरिका राग से समीप जाकर, तथा घुटनों पर स्थित होकर)

(५७) अन्वयः—रथाङ्गेति । हे रथाङ्गनामन् ! रथाङ्गश्रोणिबिम्बया वियुतः मनोरथशतैर्वृतः अयं रथी त्वां पृच्छति ।

च० टी०—हे रथाङ्गनामन् ! हे चक्रवाक ! अहं रथाङ्गश्रोणिबिम्बया रथाङ्गवत् रथचक्रवत् विस्तृतमितियावत् श्रोणिबिम्बं नितम्बमण्डलं यस्याः तयां चक्राकारश्रोणिमण्डलया प्रियतमया

---

* नृत्यगीतवाद्यानां साम्यं लयः । "लयः साम्यम्" इत्यमरः । तस्य च त्रैविध्यमुक्तमन्यत्र—"द्रुता मध्या विलम्बश्च लयः स त्रिविधो मतः" इति ।

कथं कः क इत्याह । मा तावत् न खलु विदितोऽहमस्य । (५८)

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ ।
स्वयं वृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ॥ (५९)

वियुतः संत्यक्तः, मनोरथशतैः अभिलाषशतैः वृतः युक्तः अयं जनः राजा रथी रथवान् महारथो वा त्वां पृच्छति । तद्रथस्याहं रथी, परमिदानीं तां विना सन्तप्यमानः नीरथः संजातः इतिभावः । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०—*हे चक्रवाक ! चक्र के समान गोल नितम्बों वाली अपनी प्राणप्यारी से मैं वियुक्त होगया हूं । सैकड़ों मनोरथों से युक्त मैं महारथी राजा तुझे पूछता हूं (कि वह चक्राकार नितम्बों वाली प्राणप्यारी उर्वशी कहां गई है ।)*

(५८) चक्रवाकरुते कक इति, परं पुरूरवसः शाब्दबोधः कः कः इति ?

अरे यह तो "कौन है, कौन है" कहता जाता है । न सही, निःसन्देह यह मुझे नहीं जानता ।

(५९) **अन्वयः**–सूर्याचन्द्रमसाविति । यस्य सूर्याचन्द्रमसौ मातामहपितामहौ, यश्च द्वाभ्याम् उर्वश्या, भुवा च स्वयं पतिः वृतः (सः अहम् अस्मि)

च० टी०–**यस्य मम पुरूरवसः सूर्याचन्द्रमसौ उष्णरश्मिशीतरश्मी मातामहपितामहौ, यश्चाहं द्वाभ्याम् उर्वश्या देवस्त्रिया भुवा पृथिव्या च स्वयं पतिः स्वामी वृतः स्वीकृतः सोऽहमस्मीति शेषः ।** *

हि० टी०—*जिसके सूर्य और चन्द्रमा, नाना और दादा हैं; और जिसे उर्वशी तथा पृथ्वी दोनों ने पति स्वीकार किया है (मैं वही पुरूरवा हूं ।)*

---

* (पुरा किल सत्ययुगादौ सूर्यनप्ता मनोः पुत्रः सुद्युम्नापरनामा इलो नाम राजा मृगया सङ्गात् शिवनिवारितमुमावनमेकाकी प्रविष्टमात्रः स्त्री बभूव । तामेकाकिनीं सुन्दरीं दृष्ट्वा कामातुरो बुधः तां स्वस्य अङ्कमनयत् तस्यां पुरूरवसं पुत्रमजीजनत्–इति भविष्योत्तरपुराण कथा ।)

कथं तूष्णीं स्थितः। भवतु। उपालभे तावदेनम्। (जानुभ्यां स्थित्वा।) तद्युक्तं तावदात्मानुमानेन वर्तितुम्। कुतः—

सरसि नलिनीपत्रेणापि त्वमावृतविग्रहां
 ननु सहचरीं दूरे मत्वा विरौषि समुत्सुकः।
इति च भवतो जायास्नेहात्पृथक्स्थितिभीरुता
 मयि च विधुरे भावः कोऽयं प्रवृत्तिपराङ्मुखः॥ (६०)

यह चुप क्यों होगया है। अस्तु। इसे उपालम्भ (उलहना) देता हूं। (घुटनाओं के बल पर स्थित होकर।) सो तुझे मेरे साथ अपना अनुमान करके व्यवहार करना उचित है। कैसे—

(६०) अन्वयः—सरसीति। सरसि नलिनीपत्रेणापि आवृतविग्रहां सहचरीं दूरे मत्वा ननु त्वं समुत्सुकः विरौषि, भवतः इति च जायास्नेहात्पृथक्स्थितिभीरुता (अस्ति) विधुरे मयि च प्रवृत्तिपराङ्मुखः अयं कः भावः (अस्ति) ?

च० टी०—सरसि सरोवरे नलिनीपत्रेण कमलिनीपत्रेण आवृतविग्रहाम् आच्छादिततनुम् सहचरीं सखीं स्त्रियं दूरे मत्वा, ननु निश्चयेन त्वं समुत्सुकः उत्कण्ठितः विरौषि शब्दं करोषि, भवतः इति च उत्सुकत्वं जायास्नेहात् स्त्रीस्नेहात्, पृथक्स्थितिः भिन्नावस्थानं तेन भीरुता भयशीलत्वम्. प्रियां विना कथमेकाकी वर्तिष्ये इति भयम् अस्ति, विधुरे प्रियाविरहिते मयि पुरूरवसि च प्रवृत्तिपराङ्मुखः वार्ताविमुखः अयं कः भावः अभिप्रायः अस्ति ? "वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः" इत्यमरः। हरिणी छन्दः।

हि० टी०—हे चक्रवाक ! कमलिनी के पत्ते की ओट में बैठी हुई अपनी प्यारी चकवी को दूर समझ कर निःसन्देह तू उत्कण्ठित होकर रोता है; तेरा यह विलाप स्त्री के अलग होने की डर से है, मगर सचमुच अपनी प्राणप्यारी से बिछडे हुए मेरे साथ वार्तालाप से विमुख होकर तेरा क्या अभिप्राय है ?

(उपविश्य) सर्वथा मदीयानां भाग्यविपर्ययाणामयं प्रभावः । यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये । (द्विपदिकया परिक्रम्यावलोक्य च ।) अये,

इदं रुणद्धि मां पद्ममन्तःक्वणितषट्पदम् ।
मया दष्टाधरं तस्याः ससीत्कारमिवाननम् ॥ (६१)

इतो गतस्यानुशयो मा भूदित्यास्मिन्नपि कमलसेविनि भ्रमरे प्रणयं करिष्ये । (६२)

(बैठकर) सर्वथा मेरे जैसे मन्द भागियों का ही यह प्रभाव है । अब किसी दूसरे स्थान में उसे ढूंढ़ता हूं । (द्विपदिका के साथ घूमकर तथा देखकर) अरे,

(६१) अन्वयः–इदमिति । अन्तः क्वणितषट्पदम् इद पद्मं मां रुणद्धि, (कथमिव ?) मया दष्टाधरम् (अतएव) ससीत्कारं तस्याः आननमिव ।

च०टी०–अन्तर्मध्ये क्वणितषट्पदम् क्वणिताः शब्दायमानाः षट्पदाः भ्रमराः यस्य तथाभूतम् इदं पद्मं कमलं मां पुरूरवसं रुणद्धि अग्रे गन्तुं मार्गं न प्रयच्छति, मम गतिभङ्गं करोतीत्यर्थः । कथमिव ? यतः इदं पद्मं मया दष्टाधरं सुरतकाले प्राप्तदन्तक्षतं अत एव ससीत्कारं सीत्कारसहितं तस्याः उर्वश्याः आननं मुखमिव । इदं पद्मं प्रियायाः सुन्दरं मुखमण्डलं स्मारयन् मामत्रैव बध्नातीति भावः। अनुष्टुब् वृत्तम्।

हि० टी०—यह कमल का फूल, जिस के अन्दर भौंरे गूंज रहे हैं, मुझे रोक रहा है; क्योंकि इसे देखकर मुझे अपनी प्राणप्यारी की उस वक्त की सूरत याद आती है, जब मैंने उसके ओष्ठ (होंट). को प्यार से दान्त लगा दिया था और वह "सी सी" करती थी ।

(६२) इतः पश्चात् गतस्य सुखस्थानं कमलं त्यक्त्वा कुत्रचिद्गामिनः मम अनुशयः पद्मपरित्यागसन्तापः माभूदिति ज्ञात्वा कमलशये कमलहृदयशायिनि भ्रमरे प्रणयं करिष्ये ।

यहां से जाने पर सन्ताप न हो, इस लिए इस कमल के भीतर रहने वाले भ्रमर के साथ मित्रता करता हूं ।

(अस्यान्तरे अर्धद्विचतुरस्रकः ।) *

(एक्कक्कमवाड्ढिअगुरुअरपेम्मरसे ।

सरं हंसजुआणओ कीलइ कामरसे ।)

एकक्रमवर्धितगुरुतरप्रेमरसे ।

सरसि हंसयुवा क्रीड़ति कामरसे ॥ (६३)

(चतुरस्रकेणोपेत्याञ्जलिं बद्ध्वा ।)

मधुकर मदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्तिं

वरतनुरथ वासौ नैव दृष्टा त्वया मे ।

(इस के बाद अर्धद्विचतुरस्रक नाट्य विशेष का गान होता है ।)

(६३) अन्वयः—एकेति । एकक्रमवर्धितगुरुतरप्रेमरसे सरसि हंसयुवा कामरसेन क्रीडति ।

च० टी०—एकक्रमेण युगपत् वर्धितः छिन्नः, प्रियाविरहेणेतिभावः, गुरुतरः अतीवप्रेमरसः यस्मिं, तस्मिं सरसि तडागे हंसयुवा कामरसेन कामाभिनिवेशेन क्रीड़ति । यद्वा–एकक्रमवर्धितगुरुतरप्रेमरसः हंसयुवा कामरसेन शरेण विद्धः नावक्रीड़ति, कामस्य रसोऽभिनिवेशो यस्मिन् तादृशेन एकक्रमेण युगपद्वार्द्धितः छिन्नः "वृधू छेदने" इति धातुः । गुरुतरप्रेमरसोन्मत्तः ईषत् क्रीडामपि न करोतीति भावार्थः । यद्वा इयं गीतिः व्यतिरेकदृष्टान्तेन योज्या—कामरसेन युगपदुत्पादितप्रेमरसः हंसयुवा क्रीड़ति मन्दभाग्योऽहं तु स्वप्रियां द्रष्टुमप्यसमर्थः इतिभावः । प्रेमरसे–सरे–कामरसे–इत्यादिषु प्रथमा-तृतीये–"प्राकृते लिङ्गवचनमतन्त्रम्" इति हेमचन्द्राद्युक्तत्वाद्बोद्धव्ये ।

हि० टी०—*प्रिया के वियोग में जिसका अत्यन्त प्रेम सहसा नाश होगया है, ऐसा हंसयुवक (ध्वनि-से राजा) कामासक्त होकर सरोवर पर विचरण कर रहा है ।*

(चतुरस्रक नाट्य विशेष से समीप जाकर तथा हाथ जोड़ कर ।)

---

* अर्द्धद्विचतुरस्रकः नाट्यविशेषः तदुक्तं यथा–"अस्यैव चेच्चरणयोरन्तरं स्यात्षडङ्गुलम् ।

वितस्तिमात्रमथवा नन्द्यावर्तं तदुच्यते" ॥

अस्यैवनन्द्यावर्तमित्यपरं नाम ।

यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्ध
तव रतिरभविष्यत्पुण्डरीके किमस्मिन् ॥ (६४)

(इति द्विपदिकया परिक्रम्यावलोक्य च) अये, करिणीसहायो नागाधिराजो नीपस्कन्धनिषण्णस्तिष्ठति । यावदेनं गच्छामि ।

(कुलिका)

(करिणीविरहसन्ताविअओ)

करिणीविरहसन्तापितः ।

(मन्दघटी)

(काणणे गन्धुद्धअमहुअरु)

---

(६४) अन्वयः—मधुकरेति । हे मधुकर ! मदिराक्ष्याः तस्याः प्रवृत्तिं शंस अथवा असौ मे वरतनुः त्वया नैव दृष्टा, (कुतः ?) यदि सुरभिं तन्मुखोच्छ्वासगन्धम् अवाप्स्यः (तदा) किं तव अस्मिन् पुण्डरीके रतिः अभविष्यत् ?

च० टी०—हे मधुकर ! हे भ्रमर ! मदिराक्ष्याः सालसनेत्रायाः, तस्याः उर्वश्याः, प्रवृत्तिं वार्तां शंस कथय, अथवा असौ मे मम वरतनुः ? अनवद्याङ्गी प्रियतमा त्वया नैवदृष्टा निश्चितमेव तव दृष्टिपथं न पतितेत्यर्थः । कुतः ? इत्याह यदि सुरभिं शोभनं गन्धम् तन्मुखोच्छ्वासगन्धम् अवाप्स्यः प्राप्स्यः, तदा किं तव अस्मिं पुण्डरीके तुच्छकमले रतिः आसक्तिः अभविष्यत् ? यदा अनेन कमलगन्धेन भवतः मनः आकृष्टं तदा भवता तस्याः मुखस्य पद्माधिकसुगन्धिः नैव आघ्रातेतिभावः । मालिनी वृत्तम् ।

हि० टी०—हे भौंरे ! उस मतवाली आंखों वाली का कुछ पता बता दे, अथवा तूने उस अनवद्याङ्गी को नहीं देखा; क्योंकि यदि तूने उस प्यारी के मुख के स्वास की सुगन्धि ली होती, तो इस तुच्छ कमल में तेरा प्रेम क्यों होता ।

(इस तरह द्विपदिका से घूमकर और देख कर) अरे ! यह गजराज हथिनी का सहायक कदम्ब वृक्ष की शाखापर लगा हुआ स्थित है । सो इसी के पास जाता हूं ।

(कुलिका और मन्दघटी गीतियों का गान होता है)

कानने गन्धोद्धतमधुकरः । (६५)

(अतोऽन्तरं विलोक्य) अथवा न तावदयमुपसर्पणकालः ।

अयमचिरोद्गतपल्लवमुपनीतं प्रियतमाग्रहस्तेन ।

अभिलेढु तावदासवसुरभिरसं शल्लकीभङ्गम् ॥ (६६)

* (स्थानकेनावलोक्य) अये, कृतापहारकः संवृत्तः । भवतु । समीपमस्य गत्वा पृच्छामि ।

---

(६५) अन्वयः—करिणीति । करिणीविरहसन्तापितः (गजः) गन्धोद्धतमधुकरश्च कानने भ्रमति ।

च० टी०—करिणीविरहेण हस्तिनीवियोगेन, सन्तापितः दुःखितः, गजः, गन्धोद्धतः पुष्पगन्धोद्धतः, गर्वोद्धतः इति वा मधुकरः भ्रमरः कानने वने भ्रमति । अत्रापि गजमधुकरच्छलेन राजा लक्ष्यते, अर्थात् उर्वशीवियोगेन सन्तप्तः राजा भ्रमति ।

हि० टी०—*हस्तिनी के वियोग में दुःखित हाथी तथा पुष्प की सुगन्धि से उद्धत भ्रमर (ध्वनि से-राजा) वन में भ्रमण कर रहा है ।*

(इसके बाद देखकर) *अथवा अभी उसके पास जाने का समय नहीं है ।*

(६६) अन्वयः—अयमिति । अयम् अचिरोद्गतपल्लवं प्रियतमाग्रहस्तेन उपनीतं आसवसुरभिरसं शल्लकीभङ्गं तावत् अभिलेढु ।

च० टी०—अयं गजपतिः अचिरोद्गतपल्लवं नूतनोत्पन्नपत्रं प्रियतमायाः अग्रहस्तेन शुण्डाग्रभागेन उपनीतम् आनीतम् आसवसुरभिरसं मदिरासुगन्धियुक्तरसं शल्लकी गजप्रियस्तरुभेदः तस्य भङ्गं नवपल्लवम् तावत् आदौ अभिलेढु आस्वादयतु । 'शल्लकी श्वाविद्गयोः' इतिलोचनः ।

हि० टी०—*यह हाथी नवीन पत्तों वाले, अपनी प्यारी हथिनी की सूंड से लाये हुए, और मदिरा की सुगन्धि वाले शल्लकी के पत्तों को पहले आस्वादन करले । (तब मैं इसके पास जाऊंगा ।)*

---

* स्थानकं रागविशेषः [illegible] "स्थानकं तद्वदवस्यात् पृथग् भूताविदारिकम्" तद्वदिति प्रकृतालापवदित्यर्थः ।

(अनन्तरे चर्चरी)

(हंइं पैं पुच्छिमि आअक्खहि गअवरु ललिअपहारें णासिअतरुवरु ।
दूरविणिज्जिअससहरकन्ती दिट्ठी पिय पैं संमुहजन्ती ॥)

अहं त्वां पृच्छामि आचक्ष्व गजवर ललितप्रहारेण नाशिततरुवर ।
दूरविनिर्जितशशधरकान्तिर्दृष्टा प्रिया त्वया संमुखं यान्ती ॥ (६७)

(पदद्वयं पुरत उपसृत्य ।)

मदकलयुवतिशशिकला गजयूथप यूथिकाशबलकेशी ।
स्थिरयौवना स्थिता ते दूरालोके सुखालोका ॥ (६८)

(स्थानक राग से देखकर) *अरे ! यह तो खा चुका हैं । अस्तु । इसके समीप जाकर पूछता हूं ।*

(इसके बाद चर्चरी का गान होता है)

(६७) **अन्वयः**—अहामिति । हे ललितप्रहारेण नाशिततरुवर, गजवर ! अहं त्वां पृच्छामि आचक्ष्व (यत्) दूरविनिर्जितशशधरकान्तिः संमुखं यान्ती (मे) प्रिया त्वया दृष्टा ?

च० टी०—**हे ललितप्रहारेण कोमलाघातेन नाशिततरुवर खण्डितवृक्षश्रेष्ठ ! गजवर, गजश्रेष्ठ ! अहं पुरूरवाः त्वां पृच्छामि, आचक्ष्व कथय, यत् दूरेति—दूरमत्यन्तं विनिर्जिता पराजिता शशधरकान्तिः शशिनः कान्तिर्यया । आह्लादकतातिशयनिष्कलङ्कतादियुतमुखेनेति शेषः शशधरेत्यनेन पूर्णचन्द्रताद्योत्यते । संमुखं समक्षे यान्ती गच्छन्ती मे प्रिया उर्वशी त्वया गजवरेण दृष्टा विलोकिता ? हे गजवर ! प्रत्युत्तरं देहि यत्समक्षे यान्ती पूर्णचन्द्रमुखी त्वया मे प्रिया दृष्टा न वेति ? इति निर्गलितोऽर्थः ।**

हि० टी०—*हे ललितप्रहार से पेड़ को तोड़ने वाले गजपति ! मैं तुझे पूछता हूं, बता, कि पूर्णचन्द्रमा की कान्ति को तिरस्कृत करने वाली सामने जाती हुई क्या तूने मेरी प्राणप्यारी देखी है ?*

(दो पैर आगे समीप जाकर)

(६८) **अन्वयः**—मदकलेति । हे मदकल, गजयूथप ! युवतिशशिकला यूथिकाशबलकेशी स्थिरयौवना सुखालोका (प्रिया) ते दूरालोके स्थिता ?

च० टी०—**हे मदेन मदोदयेन कलः मधुराव्यक्तशब्दः यस्य**

(सहर्षमाकर्ण्य) अहह, अनेन प्रियोपलब्धिशंसिना मन्द्रकण्ठ-गर्जितेन समाश्वासितोऽस्मि। साधर्म्याद्भूयसी मे त्वयि प्रीतिः। (६९)

मामाहुः पृथिवीभृतामधिपतिं नागाधिराजो भवा-
नव्युच्छिन्नपृथुप्रवृत्ति भवतो दानं ममाप्यर्थिषु।
स्त्रीरत्नेषु ममोर्वशी प्रियतमा यूथे तवेयं वशा
सर्वं मामनु ते प्रियाविरहजां त्वं तु व्यथां मानुभूः॥(७०)

तत्सम्बुद्धौ, हे गजयूथप, हस्तिनां यूथपते! युवतिशशिकला युवतिषु मध्ये शशिकला चन्द्रकलास्वरूपा, अनेन युवतीनां तारकास्वरूपत्वं, शशिकलापदेन च निष्कलङ्कत्वं सूचितम्। यूथिकाशबलकेशी यूथिकाभिः तन्नामकपुष्पैः शबलाः चित्रिताः केशाः यस्याः सा तथा भूता स्थिरयौवना स्थिरं चाञ्चल्यरहितं यौवनं यस्याः सा, सुखालोका सुखः सुखकरः आलोकः दर्शनं यस्याः सा सुन्दरदर्शना उर्वशी किम् ते तत्र दूरालोके स्थिता? दूरादपि त्वया दृष्टा किम्?

हि० टी०—*हे मतवाले गजराज! क्या तूने नारीरूप नक्षत्रों में चन्द्रमा की कला के समान यूथिका फूलों से सिंगारे हुए बालों वाली, स्थिर यौवन वाली दूर से क्या कोई सुन्दरी देखी है?*

(६९) प्रियोपलब्धिशंसिना प्रिया वृत्तान्तसूचकेन। साधर्म्यात् समानधर्मत्वात् भूयसी बहुला।

(हर्ष के साथ सुनकर) *अहह! तुम्हारी इस प्रिया के वृत्तान्त को सूचित करने वाली गम्भीर कण्ठ की आवाज से मुझे दिलासा मिल गया है। समान धर्म होने से तेरे साथ मेरी बहुत प्रीति है।*

(७०) **अन्वयः**—मामिति। माम् पृथिवीभृताम् अधिपतिम् आहुः, भवान् नागाधिराजः, अव्युच्छिन्नपृथुप्रवृत्ति भवतः दानं मम अर्थिषु (समानम्) स्त्रीरत्नेषु उर्वशी मम प्रियतमा, यूथे तव इयं वशा प्रियतमा, ते सर्वं मामनु, तु त्वं प्रियाविरहजां व्यथां मानुभूः।

च० टी०—**माम् पुरूरवसं पृथिवीभृताम् राज्ञाम् अधिपतिम् अधीश्वरम् आहुः कथयन्ति लोका इतिशेषः। भवान् त्वम् नागाधिराजः नागानां गजानाम् अधिराजः अधीश्वरः अस्ति, अधिपतित्व-**

सुखमास्तां भवान् (द्विपदिकया परिक्रम्यावलोक्य च ।) अये, अयमसौ सुरभिकंदरो नाम विशेषरमणीयः सानुमान् । प्रियश्चायमप्सरसाम् । अपि नाम सुतनुरस्योपत्यकायामुपलभ्येत । (परिक्रम्यावलोक्य च ।) कथमन्धकारः । भवतु । विद्युत्प्रकाशेनावलोकयामि । कथं मदीयैर्दुरितपरिणामैर्मेघोदयोऽपि शतह्रदाशून्यः संवृत्तः । तथापि शिलोच्चयमेनमपृष्ट्वा न निवर्तिष्ये । ७१)

मावयोः समानमित्यर्थः । विशेषेण उच्छिन्ना न भवति इति अव्युच्छिन्ना-निरवच्छिन्ना पृथ्वी महती प्रवृत्तिः आदरो यस्मिन् तत्, निरन्तरमेव वहदित्यर्थः, भवतः तव दानं मदजलम्, पक्षे-प्रवृत्तिः उद्गमो यस्य, दीनेभ्यः अर्थादिवितरणं मम समानम् । स्त्रीरत्नेषु मध्ये उर्वशी मम प्रियतमा-तथा यूथे गजयूथमध्ये इयं वशा करिणी तव प्रियतमा । अतः ते तव सर्वं मामनु मम तुल्यम्, तु किन्तु त्वं प्रियाविरहजां वनितावियोगोत्पन्नां व्यथां कष्टं मानुभूः न सहेथाः । "वशा योषासुता-वन्ध्या स्त्रीगुर्वीकरिणीष्वपि" इति लोचनः । अनुभूः इत्यत्र "न माङ् योगे" इत्यद् निषेधः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

हि० टी०—हे गजराज ! लोग मुझे राजाओं का राजा कहते हैं; और तुम हाथियों के राजा हो, निरन्तर तुम्हारे दान (मद) की धारा बहती रहती है और मेरे यहां भी याचकों को दान दिया जाता है; स्त्रीरत्नों में उर्वशी मेरी अति प्यारी है और तुम्हारी हथिनी भी अधिक प्यारी है; इस प्रकार तेरा और मेरा सब कुछ एकसा है, परन्तु तूने अपनी प्राणप्यारी के वियोग के कष्ट को कभी अनुभव नहीं किया ।

(७१) सानुमान् पर्वतः । उपत्यकायाम् आसन्नभूम्याम् । मदीयैः मामकीनैः, दुरितानां पापानां परिणामैः परिपाकैः, शतह्रदया विद्युल्लतया, शून्यः रहितः । शिलोच्चयम् पर्वतम् ।

अच्छा, तुम सुखी रहो (द्विपदिका सहित घूमकर और देखकर) अरे, यह तो सुरभिकन्दर नाम वाला पर्वत बड़ा ही रमणीय है । अप्सरायें इसको बहुत ही पसन्द करती हैं । शायद वह कोमलाङ्गी इस पर्वत के

(अनन्तरे खण्डिकः ।)*

(पसरिअखरखुरदारिअमेइणि वणगहणे अविचल्लु ।
परिसप्पइ पेच्छह लीणो णिअकज्जुज्जुअ कोलु ॥)

प्रसृतखरखुरदारितमेदिनिर्वनगहनेऽविचलः ।
परिसर्पति पश्यत लीनो निजकार्योद्युक्तः कोलः ॥ (७२)

समीप की भूमि में मिल जाय । (घूमकर तथा देखकर) अरे, अन्धकार कैसे हो गया । अस्तु, बिजली के प्रकाश से देखूंगा।

अहो ! यह मेरे पापों के परिणाम से मेघोदय भी बिजली से खाली होगया है । तौभी इस पर्वत को विना पूछे नहीं लौटूंगा ।

(इसके बाद खण्डिका नामवाली गीति का गान होता है ।)

(७२) अन्वयः—प्रसृतेति । प्रसृतखरखुरदारितमेदिनिः अविचलः वनगहने लीनः निजकार्योद्युक्तः कोलः परिसर्पति ।

च० टी०—प्रसृतैः विस्तृतैः खरखुरैः प्रचण्डखुरैः दारिता खण्डिता मेदिनी पृथ्वी येन सः, अविचलः धीरः, वनगहने निविडवने, लीनः निजकार्योद्युक्तः कन्दाद्यन्वेषणार्थं कृतोद्योगः कोलः वराहः सूकरः इतियावत्, परिसर्पति इतस्ततः भ्रमति । प्रसृतखरखुरेति कन्दाद्युत्खननार्थं भूमिदारणम् बुभुक्षापीड़ितः क्रोधवशतः भूमिदारणं करोति इतिवा। राज्ञः पक्षे-प्रबलतरविरहखिन्नः हस्तपादेन भूम्यास्फालनं च कुर्वन्, धीरः क्रोड़ार्थं वनगहने लीनः प्रियतमान्वेषणरूपनिजकार्योद्युक्तो राजा भ्रमति। पश्यत इति उन्मादवशात् आकाशवचनम्।

---

* गीतिविशेषः खण्डिका यदुक्तम्—"पर्य्यायेण शनैस्तिर्य्यङ् नतमुक्तं धुतं शिरः श्रीरागकुम्भतालेन निबद्धा खण्डिका मता " इति। कुम्भतालश्च-"कामबाणद्रुता यत्र अर्धचन्द्रस्ततः परम् । दविरामो लघुश्चैको बिन्दुश्चार्धद्रुतो भवेत् । दविरामो लघुद्वन्द्वद्रुतो लघुविरामवान्" इति च ।
यथा-ते ते ते ते ते ति थ्यै थै ते ति थ्यै थै थै ते थै ० ० ० ० ० ~ ६ । । ० ।
खण्डिका गद्यभेदोवा—यथाह भगवान् भरतः—
"खण्डा गणशंदबल्या सात्वती वृत्तिमाश्रिता । वृत्ता हास्यकृदारब्धा वैदर्भी भङ्गिसंभवा"।

अपि वनान्तरमल्पभुजान्तरा श्रयति पर्वत पर्वसु सन्नता।
इयमनङ्गपरिग्रहमङ्गला पृथुनितम्ब नितम्बवती तव ॥ (७३)

कथं तूष्णीमेवास्ते। शङ्के विप्रकर्षान्न शृणोति। भवतु। समीपमस्य गत्वा पृच्छामि। (७४)

(अनन्तरे चर्चरी)

हि० टी०—अपने विस्तृत तथा प्रचण्ड खुरों से पृथ्वी को खनता हुआ, धीर, गहनवन में लीन, कन्दमूल उखाड़ने को उद्योग करता हुआ सुअर इधर उधर घूम रहा है। ध्वनि से अर्थात्-अत्यन्त विरह के कारण हाथ पैरों को पृथ्वी में मारता हुआ, धीर, क्रीड़ा के लिए गहनवन में लीन और अपनी प्राणप्यारी के अन्वेषण में लगा हुआ राजा घूमरहा है।

(७३) अन्वयः—अर्पीति। हे पृथुनितम्ब ! पर्वत ! अल्पभुजान्तरा पर्वसु सन्नता अनङ्गपरिग्रहमङ्गला इयं नितम्बवती तव वनान्तरम् अपि श्रयति ?

च० टी०—हे पृथुनितम्ब ! पर्वत ! अल्पभुजान्तरा अल्पं किञ्चित् भुजयोः बाह्वोः अन्तरम् वक्षस्थलं यस्याः स्तनयोरतिस्थूलत्वात् इत्यर्थः। पर्वसु सन्धिभागेषु सन्नता-सम्यङ् नता सम्प्राप्तेति यावत् तथा अनङ्गेति-अनङ्गस्य कामस्य परिग्रहः स्त्री तद्वत् मङ्गला सुलक्षणसम्पन्ना, इयं नितम्बवती पृथुनितम्बयुक्ता उर्वशी तव भवतः वनान्तरम् अपि श्रयति अर्पीति प्रश्ने निवसति? द्रुतबिलम्बितं छन्दः।

हि० टी०—हे पृथुनितम्ब ! पर्वत ! क्या तुम्हारे किसी वन प्रदेश में जिसके भुजाओं का मध्य भाग (उरःस्थल) कुच स्थौल्य के कारण स्वल्प है तथा तुम्हारे सन्धि भागों में आई हुई, रात के समान विस्तृत नितम्बों वाली कोई स्त्री निवास तो नहीं करती ?

(७४) शंङ्के शङ्कां करोमि। विप्रकर्षान दूरत्वात।

अरे ! यह चुप क्यों होगया। कदाचित् दूर होने से नहीं सुनता। अच्छा, निकट जाकर पूछता हूं।

(इसके बाद चर्चरी का गान होता है।)

(फलिहसिलाअलणिम्मलणिब्भरु बहुविहकुसुमविरइअसेहरु ।
किंणरमहुरुग्गीअमणोहरु देक्खावहि महु पिअअम महिहरु ॥)

स्फटिकशिलातलनिर्मलनिर्भर ! बहुविधकुसुमविरचितशेखर !
किंनरमधुरोद्गीतमनोहर ! दर्शय मम प्रियतमां महीधर ! ॥ (७५)

(चर्चरिकयोपसृत्याञ्जलिं बद्ध्वा)

सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन्मया विरहिता त्वया ॥ (७६)

(तथैव प्रतिशब्दं शृणोति । आकर्ण्य सहर्षम् ।) **कथं यथाक्रमं दृष्टेत्याह**

---

(७५) **अन्वयः**— स्फटिकेति । हे स्फटिकशिलातलनिर्मलनिर्भर ! बहुविधकुसुमविरचितशेखर ! किंनरमधुरोद्गीतमनोहर ! महीधर ! मम प्रियतमां दर्शय ।

च० टी०—**स्फटिकशिलातलैः निर्भरम् अत्यन्तं निर्मल ! बहुविधैः नानाप्रकारकैः कुसुमैः पुष्पैः विरचितः निर्मितः शेखरः येन तत्सम्बुद्धौ, किंनराणां किंपुरुषाणां मधुरोद्गीतैः सुन्दरगानैः मनोहर ! हृदयहारिन् ! हे महीधर ! हे पर्वत ! मम पुरूरवसः प्रियतमां प्राणवल्लभां दर्शय । "स्यात्किं नरः किंपुरुषः" इत्यमरः ।**

हि० टी०—हे स्फटिकमणि की शिलाओं से अति निर्मल, नाना प्रकार के फूलों से सुशोभित, और किंनरों के सुन्दरगान से मनोहर, पर्वत ! मेरी प्राणप्यारी को दिखादे ।

(चर्चरिका से समीप जाकर तथा हाथ जोड़कर)

(७६) **अन्वयः**—सर्वेति । हे सर्वक्षितिभृतां नाथ ! सर्वाङ्गसुन्दरी, मया विरहिता, रामा (किम्) त्वया अस्मिं रम्ये वनान्ते दृष्टा ?

च० टी०—**हे सर्वक्षितिभृतां नाथ ! हे सर्वपर्वतराज ! सर्वाङ्गसुन्दरी सर्वैः सम्पूर्णैः अङ्गैः हस्तादिभिः सुन्दरी शोभना मया पुरूरवसा विरहिता वियुक्ता, रामा रमणयोग्या किं त्वया अस्मिं रम्ये रमणीये वनान्ते वनप्रदेशे दृष्टा विलोकिता ? दृष्टा किमित्यर्थः ?**

हि० टी०—हे पर्वतराज ! क्या तूने किसी रमणीक प्रदेश में मुझ से रहित रमण के योग्य नारी को देखी है ?

भवतु । अवलोकयामि (दिशोऽवलोक्य सखेदम् ।) अयं ममैवायं कन्दरान्तर्विसर्पी प्रतिशब्दः । (इति मूर्च्छति । उत्थायोपविश्य सविषादम् ।) अहह, श्रान्तोऽस्मि । यावदस्या गिरिणद्यास्तीरे तरङ्गवातमासेविष्ये (द्विपदिकया परिक्रम्यावलोक्य च ।) इमां नवाम्बुकलुषां स्रोतोवहां पश्यता मया रातिरुपलभ्यते । कुतः— (७७)

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
पदाविद्धं यान्ती स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥ (७८)

---

(७७) कन्दरायाः गुहायाः अन्तरे मध्ये विसर्पति गच्छति यः स कन्दरान्तविसर्पी गुहामध्यव्यापीत्यर्थः प्रतिशब्दः प्रतिध्वनिः । तरङ्गवातम् तरङ्गानां वातम् वायुम् नवाम्बुकलुषां नवाम्बुभिः नूतनजलैः, कलुषां कलुषितां, स्रोतोवहां नदीम् ।

(वैसे ही प्रतिशब्द को सुनता है । सुनकर हर्ष के साथ ।) 'यथा क्रम देखी है' यह कहता है । अच्छा, देखता हूं । (दिशाओं को देखकर दुःख के साथ) यह तो गुफा में गूंजने वाली मेरी ही प्रतिध्वनि है । (ऐसा कहकर मूर्च्छित होता है । फिर उठकर और बैठकर दुःख के साथ) अहो ! मैं थक गया हूं । अब तो इस नदी के किनारे पर जल तरङ्गों की हवा का आनन्द लेता हूं । (द्विपदिका से घूमकर और देखकर) इस नई वर्षा से कलुषित (दराई हुई) नदी को देखते हुए मुझे रति पैदा हो रही है । कैसे—

(७८) अन्वयः–तरङ्गेति । तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरसना संरम्भशिथिलं वसनमिव फेनं विकर्षन्ती, इयं बहुशः, स्खलितम् अभिसन्धाय पदाविद्धं यान्ती ध्रुवम् असहना सा नदीभावेन परिणता ।

च० टी०–तरङ्ग एव भ्रूभङ्गो यस्याः सा, क्षुभिताः क्षोभं प्राप्ताः विहगाः पक्षिणः तेषां श्रेणयः एव रसना काञ्ची यस्याः सा, तथा संरम्भशिथिलं संरम्भेण संभ्रमेण शिथिलं शैथिल्ययुक्तं स्खलनपूर्वकमितियावत् वसनं वस्त्रमिव फेनं विकर्षन्ती आकर्षन्ती इयं

भवतु । प्रसादयामि तावदेनाम् । (अनन्तरं कुटिलिका ।)

(पसीअ पिअअम सुन्दरि एणए खुहिआकरुण विहङ्गमए णए ।

सुरसरितीरसमूसुअएणए अलिउलझंकारिए णए ॥)

प्रसीद प्रियतमे सुन्दरि एनया क्षुभिताकरुणविहङ्गमके नत्या ।
सुरसरित्तीरसमुत्सुकैणके अलिकुलझंकारिते नदि ॥ (७९)

नदी बहुशः बहुतरं स्खलितं मत्कृतमपराधम् अभिसन्धाय मनसि निधाय पदाविद्धं पद्भ्यां चरणाभ्याम् आविद्धं स्खलनपूर्वकं वक्रं वा यान्ती गच्छन्ती, ध्रुवं निश्चितमेव असहना कोपना सा उर्वशी नदीभावेन परिणता नदीत्वं प्राप्ता इति चिन्तयामि । शिखरिणीच्छन्दः । ध्रुवेति पदेन उत्प्रेक्षालङ्कृतिः ।

हि० टी०—तरङ्ग रूपी भवों से टेढ़ी चाल वाली भय; से चञ्चल पक्षियों की श्रेणि रूप तंड़ागी वाली, भ्रम (जल्दी) में शिथिल वस्त्र की तरह झाग को खींचती हुई; बहुत से मेरे अपराधों को चित्त में धारण करती हुई; और टेढ़ी २ जाती हुई; निःसन्देह वह क्रुद्ध मानिनी उर्वशी नदी का रूप धारण कर चुकी है ।

अच्छा, इसको प्रसन्न करता हूं । (इसके बाद कुटिलिका गीति।)

(७९) अन्वयः—प्रसीदेति । हे प्रियतमे, सुन्दरि, क्षुभिताकरुणविहङ्गमके, सुरसरित्तीरसमुत्सुकैणके, अलिकुलझङ्कारिते, नदि ! एनया नत्या प्रसीद ।

च० टी०-उन्मादातिशयवशतो राजा प्रियतमां नदीरूपेण परिणतां निश्चित्य पादपतनादिना तस्याः प्रसाधनतत्परः चाटुं करोति-हे प्रियतमे ! सुन्दरि ! क्षुभितेति-क्षुभिताः क्षोभं प्राप्ताः अकरुणाः निष्ठुराः विहङ्गमाः पक्षिणः हंसपिकादयः यस्यां तत्सम्बुद्धौ एवं च वियोगजन्यपीड़ावत्त्वे सत्यपि एतादृशमविरोधिखगाश्रयदानेनापि मम पीड़ाकरणं तव नोचितमिति व्यज्यते । सुरसरिद्रूपायास्तव तीरे समुत्सुकाः एणाः मृगाः यस्याः तत्सम्बुद्धौ त्वमेतादृशी मत्प्रतिपक्षिपक्ष्याश्रयदाननिरता अहं तु त्वयि नितरामुत्कण्ठितः इत्यहो ते नैष्ठुर्यमिति-ध्वन्यते । अलिकुलानां भ्रमरसमूहानां झङ्कारः शब्दः यस्यां तत्सम्बुद्धौ, हे नदि ! एनया नत्या प्रणामेन प्रसन्ना भव ।

(तेन कुटिलिकान्तरे चर्चरी ।)

(पुव्वदिसापवणाहअकल्लोलुग्गअबाहओ मेहअङ्गे णच्चइ ससलिअँ जलणिहिणाहओ।
हंसरहङ्गसङ्खकुङ्कुमकआभरणु करिमअराउलकसणकमलकआवरणु ।
वेलासलिलुव्वेल्लिअहत्थदिण्णतालु ओत्थरइ दसदिस रुन्धेविणु णवमेहआलु ॥)

पूर्वदिक्पवनाहतकल्लोलोद्गतबाहु-
मेघाङ्गैर्नृत्यति सलिलं जलनिधिनाथः ।
हंसरथाङ्गशङ्खकुङ्कुमकृताभरणः
करिमकराकुलकृष्णकमलकृतावरणः ।
वेलासलिलोद्वेल्लितहस्तदत्ततालो-
ऽवस्तृणाति दशदिशो रुद्ध्वा नवमेघकालः ॥ (८०)

हि० टी०—हे *प्रियतमा ! सुन्दरि ! नदि ! तुम भयभीत निष्करुण पक्षियों को आश्रय देती हो; तुम्हारे किनारे पर उत्सुक मृग रहते हैं, तुम भ्रमरों से झंकारित रहती हो, तुम मेरी इस प्रणाति से प्रसन्न हो जाओ।*

(८०) अन्वयः—पूर्वदिगिति। पूर्वदिक्पवनाहतकल्लोलोद्गतबाहुः जलनिधिनाथः मेघाङ्गैः सललितं नृत्यति। (किं भूतः) हंसरथाङ्गशङ्खकुङ्कुमकृताभरणः करिमकराकुलकृष्ण-कमलकृतावरणः वेलासलिलोद्वेल्लितहस्तदत्ततालः नवमेघकालः दशादिशः रुद्ध्वा अवस्तृणाति

च० टी०—पूर्वदिक्पवनेन पूर्वदिशावायुना आहतः ताडितः कल्लोलः तरङ्गः एव उद्गतः बाहुः करः यस्य सः जलनिधिनाथः अपांपतिः समुद्रः मेघाङ्गैः जलधररूपाङ्गैः सह नृत्यति । किं भूतः जलनिधिनाथः, इत्याह—हंसैः रथाङ्गैः चक्रवाकैः शङ्खैः कङ्कुमैश्च कृतम् आभरणं भूषणं येन सः, करिभिः गजैः मकरैश्च आकुलं व्याप्तं कृष्ण-कमलं कृष्णजलमेव आवरणम् आच्छादनं यस्य सः, वेलायाः सलिलस्य जलस्य यदुद्वेल्लितम् आघातः तेन दत्तः हस्ततालः येन सः नवमेघ-कालः नूतनजलधरसमयः दशदिशः रुद्ध्वा अवस्तृणाति आच्छा-दयति। हस्तदत्तेत्यत्र प्राकृते पूर्वनिपातानियमात् दत्तहस्तेति विधेयम्।

हि० टी—*पूर्व दिशा की वायु से उठी हुई तरङ्ग रूपी हाथों* वाला यह समुद्र सुन्दर नाच कर रहा है। समुद्र ने हंस, चक्रवाक;

(चर्चरिकयोपसृत्य जानुभ्यां स्थित्वा)

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि भामिनि दासजनं यतः॥(८१)

कथं तूष्णीमेवास्ते। अथवा परमार्थतः सरिदियं नोर्वशी। अन्यथा कथं पुरूरवसमपहाय समुद्राभिसारिणी भवेत्। अनिर्वेद-प्राप्याणि श्रेयांसि। भवतु। तमेवोद्देशं गच्छामि, यत्र मे नयनयोः सा सुनयना तिरोहिता। (पारक्रम्यावलोक्य च) इमं तावत्प्रियाप्रवृत्तये सारङ्गमासीनमभ्यर्थये। (८२)

शङ्ख, कुङ्कुम रूपी भूषणों को पहना है, हाथी, मकर आदियों से व्याप्त, कृष्णजल रूपी वस्त्र को ओढ़े हुए, तट के पानी की चोट रूपी हाथ की तालियां बजाता हुआ और यह नये बादलों वाला समय दशों दिशाओं को रोक कर आच्छादित है।

(चर्चरिका द्वारा कुछ समीप जाकर और घुटनाओं को टेक कर)

(८१) अन्वयः—त्वयीति। हे भामिनि! त्वयिनिबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः मम कम् अपराधलवं पश्यसि, यतः दासजनं त्यजसि।

चं० टी०—हे भामिनि! त्वयि निबद्धरतेः नितरां सक्तचित्तस्य प्रियवादिनः प्रियभाषणपरस्य प्रणयस्य प्रीतेः भङ्गात् नाशात् पराङ्मुखं विपरीतं चेतः अन्तःकरणं यस्य मम पुरूरवसः कम् अपराध-लवं दोषलेशमपि पश्यसि, यतः यस्मात् कारणात् दासजनं सेवकं त्यजसि। हे भामिनि! अहं तु सदैव तव दासः मयितु दोषलेशोऽपि न विद्यते अतः अयं मम त्यागः सर्वथा अनुचितः। द्रुतविलम्बितं छन्दः।

हि० टी—हे भामिनि! इस दास का तूने कौनसा अपराध देखा है जो इसे छोड़ दिया है। मैं तो तेरे ऊपर प्रेम रखता हूं, हमेशा मीठा बोलता हूं, कभी तेरे प्रेम के विमुख नहीं हुआ।

(८२) परमार्थतः याथार्थ्यतः, सरित् नदी। अपहाय त्यक्त्वा। समुद्रमभिसरति पश्चाद्गच्छतीति समुद्राभिसारिणी। अनिर्वेदप्राप्याणि—अनिर्वेदेन दुःखं विना प्राप्याणि लभ्यानि—मया प्रियान्वेषणेखिन्नेन न भवितव्यं, भवतु पुनरपि तामन्वेषयिष्यामि। उद्देशं प्रदेशं, तिरोहिता नयनपथातिक्रान्ता।

अभिनवकुसुमस्तबकिततरुवरस्य परिसरे
मदकलकोकिलकूजितमधुपझंकारमनोहरे ।
नन्दनविपिने निजकरिणीविरहानलेन सन्तप्तो
विचरति गजाधिपतिरैरावतनामा ॥ (८३)

(गलितकः । जानुभ्यां स्थित्वा ।)

यह चुप क्यों होगई है । अथवा यथार्थ में यह नदी है उर्वशी नहीं । नहीं तो यह मुझ पुरूरवा को छोड़कर समुद्र के पीछे क्यों जाती । परन्तु अच्छी चीजें सुख से नहीं मिलतीं । अच्छा, अब मैं उसी प्रदेश में जाऊंगा जहां वह मेरे नयनों की सुनयना गुम हुई है । (घूमकर और देखकर) अपनी प्राणप्यारी के वृत्तान्त को जानने के लिए इस समीप वाले सारस से प्रार्थना करता हूं ।

(८३) **अन्वयः**—अभिनवेति । अभिनवेत्यादिविशेषणविशिष्टे नन्दनविपिने निजकरिणीविरहानलेन संतप्तः ऐरावतनामा गजाधिपतिः विचरति ।

च० टी०—**अभिनवकुसुमैः नवीनपुष्पैः स्तबकितस्य पुञ्जीभूतस्य तरुवरस्य श्रेष्ठवृक्षस्य परिसरे मदेन कलानां मनोहराणां कोकिलानां पिकानां कूजितेन शब्देन, मधुपानां भ्रमराणां झङ्कारेण च मनोहरे सुन्दरे नन्दनविपिने इन्द्रवने निजकरिणीविरहानलेन स्वहस्तिनीवियोगाग्निना सन्तप्तः ऐरावतनामा गजाधिपतिः विचरति भ्रमति ।**

हि० टी०—नये २ फूलों के गुच्छों से युक्त वृक्षों से सुशोभित, मदमस्त सुन्दर कोयलों के कूजन से तथा भौंरों के गुञ्जार से मनोहर नन्दन वन में अपनी हथिनी के वियोग की आग से संतप्त ऐरावतनाम वाला गजेश्वर घूम रहा है । अर्थात् उर्वशी के वियोग में राजर्षि पुरूरवा सन्तप्त होकर घूम रहा है ।

(गलितक नामक नाट्य विशेष । घुटनाओं से स्थित होकर ।)

कृष्णसारच्छविर्योऽयं दृश्यते काननश्रिया ।
नवशष्पावलोकाय कटाक्ष इव पातितः ॥ (८४)

(चर्चरी)

(सुरसुन्दरि जहणभरालस पीणुत्तुङ्गघणत्थणि थिरजोव्वण तणुसरीरि हंसगइ ।
गअणुज्जलकाणणे मिअलोआणभमन्त दिट्ठी तंइं तहविरहसमुद्दन्तरे उत्तारहि मंइं ॥)

सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी
स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः ।
गगनोज्ज्वलकानने मृगलोचना भ्रमन्ती
दृष्टा त्वया तद्विरहसमुद्रान्तरादुत्तारय माम् ॥ (८५)

---

(८४) अन्वयः— कृष्णेति । यः अयं कृष्णसारच्छविः दृश्यते, काननश्रिया नवशष्पावलोकाय कटाक्षः इव पातितः ।

च० टी०—यः अयं कृष्णसारच्छविः कृष्णसारः कृष्णमृगः तद्वच्छविर्दीप्तिर्यस्य, पक्षे-कृष्णः यः सारः अर्थात् अक्ष्णः कनीनिका तद्वच्छाविर्यस्मिन् सः, दृश्यते विलोक्यते, काननश्रिया वनकान्त्या, नवशष्पावलोकाय नवीनघासदर्शनाय कटाक्षः इव पातितः प्रक्षिप्तः। वनकान्तिः कटाक्षमिव पातयतीत्यर्थः ।

हि०टी०—*कृष्ण मृग की तरह यह शोभा इस प्रकार मालूम हो रही है, मानो वन की शोभा नवीन तथा हरी घास को देखकर कटाक्षपात कर रही हो ।*

(इस के बाद चर्चरी गीति का गान होता है ।)

(८५) अन्वयः--सुरसुन्दरीति । सुरसुन्दरी स्थिरयौवना जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी तनुशरीरा हंसगतिः भ्रमन्ती मृगलोचना, गगनोज्ज्वलकानने (किम्) त्वया दृष्टा ? तद्विरहसमुद्रान्तरात् माम् उत्तारय ।

च० टी०—स्थिरयौवनात्वे सुरसुन्दरीत्वं हेतुः जघनभरेण अलसा, पीनौ अतिदीर्घौ उत्तुङ्गौ घनौ स्तनौ यस्याः सा, तनुशरीरा सूक्ष्मकाया हंसगतिः भ्रमन्ती मृगलोचना, गगनेति--गगनवत् आकाशवत् उज्ज्वले महत्त्वनीलत्वादिगुणविशिष्टे कानने वने किम् त्वया सा दृष्टा ? तद् यदि तदा तद्विरहसमुद्रान्तरात् तद्वियोगसमुद्रमध्यात् माम् उत्तारय । तद्वृत्तान्त कथनेनेति शेषः ॥

(उपसृत्याञ्जलिंबद्ध्वा ।) हंहो ! हरिणीपते !

अपि दृष्टवानसि मम प्रियां वने कथयामि ते तदुपलक्षणं शृणु ।
पृथुलोचना सहचरी यथैव ते सुभगा तथैव खलु सापि वीक्ष्यते॥(८६)

कथमनादृत्य मद्वचनं कलत्राभिमुखं स्थितः । सर्वथोपपद्यते परिभवास्पदं विधिविपर्ययः । यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये । (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त, दृष्टमुपलक्षणं तस्या मार्गस्य । (८७)

हि० टी०—सुरसुन्दरी, स्थिर यौवन वाली; जघन भार से आलस्य युक्त; पीन तथा ऊचे घने स्तन वाली; पतले शरीर वाली; और हंस की चाल वाली, घूमती हुई मृगलोचना, आकाश की तरह स्वछ वन में क्या तूने देखी है । अगर देखी है तो मुझे उस के विरहरूपी समुद्र से पार करदे ।

(समीपजाकर तथा हाथ जोड़ कर) अहो हरिणीपति !

(८६) अन्वयः—अपीति । हे हरिणीपते वने मम प्रियाम् अपि दृष्टवान् असि ? शृणु तदुपलक्षणं ते कथयामि । यथैव ते सहचरी पृथुलोचना, सा सुभगापि खलु तथैव वीक्ष्यते ।

च० टी०—हे हरिणीपते, हे हरिणीस्वामिन्, वने मम पुरूरवसः प्रियाम् उर्वशीम् अपीति प्रश्ने दृष्टवान् असि ? दृष्टा त्वया किम् ? शृणु तदुपलक्षणं तस्याश्चिह्नम् ते तुभ्यं कथयामि । यथैव ते तव सहचरी प्रिया पृथुलोचना अतिदीर्घनयना अस्ति, सा सुभगा उर्वशी अपि खलु निश्चितमेव तथैव, तव प्रियासदृशी दीर्घनयना वीक्ष्यते विलोक्यते । मञ्जुभाषिणी वृत्तम् ।

हि० टी०—हे हरिणीपति ! क्या तूने मेरी प्यारी को इस वन में देखा है ? सुन, मैं तुझे उस के लक्षण बताता हूं । जिस प्रकार तेरी प्यारी हिरनी विशाल नेत्रों वाली है, निःसन्देह मेरी प्यारी भी उसी प्रकार विशाल नेत्रों वाली दीखती है ।

(८७) अनादृत्य तिरस्कृत्य, कलत्राभिमुखम् स्वप्रियाभिमुखम् । उपपद्यते युज्यते । विधेः भाग्यस्य, वैपरीत्यं विपरीतता, परिभवस्य तिरस्कारस्य, आस्पदम् कारणम् । अन्यमवकाशमवगाहिष्ये प्रियाप्रवृत्तिलाभार्थमुपायान्तरम् अवलम्बिष्ये ।

रक्तकदम्बः सोऽयं प्रियया घर्मान्तशंसि यस्येदम् ।
कुसुममसमग्रकेसरविषममपि कृतं शिखाभरणम् ॥ (८८)

तर्तिक नु खलु शिलाभेदगतं नितान्तरक्तमिदमवलोक्यते (८९)

प्रभालेपी नायं हरिहतगजस्यामिषलवः
स्फुलिङ्गः स्यादग्नेर्गहनमभिवृष्टं पुनरिदम् ।

अरे ! मेरी बात की परवाह न कर के अपनी स्त्री की ओर मुंह किये खडा हो गया है । ठीक है भाग्य का उलटा होना ही तिरस्कार का कारण हो जाता है । अब हम अपनी प्यारी के वृतान्त को जानने के लिए कोई और उपाय करते हैं । (घूम कर और देख कर) अहो ! उस के रास्ते का चिन्ह मैंने देख लिया है ।

(८८) **अन्वयः**—रक्तेति । सः अयं रक्तकदम्बः यस्य इदं घर्मान्तशंसि अग्रकेसरविषममपि कुसुमं प्रियया शिखाभरणं कृतम् ।

च० टी०—**सोऽयं रक्तकदम्बः** रक्तानि रक्तवर्णानि कदम्बानि कुसुमानि यस्य सः (रक्तकदम्बो हि वर्षासु कुसुमितो भवति ।) यस्य इदं घर्मान्तशंसि घर्मस्य ग्रीष्मस्य अन्तं शंसति यत् वर्षाकालप्रसिद्धम्, असमग्रकेसराविषममपि असम्यक् प्रस्फुटितमपि कुसुमं पुष्पं प्रियया उर्वश्या शिखाभरणं केशपाशभूषणं कृतम् । आर्या वृत्तम् ।

हि० टी०—यह वही लाल कदम्ब है, जिसके वर्षाकाल में फूलने वाले, अच्छी तरह न खिले हुए फूल प्यारी उर्वशी ने अपने केशपाश को सजाने के लिए लिये थे ।

(८९) शिलायाः भेदः शिलाद्वयमध्यवर्तिरन्ध्रम् इत्यर्थः, तद्गतम् तत्स्थितम् ।

अहो ! इन दो शिलाओं के बीच में अत्यन्त लाल यह क्या चीज दीख रही है ?

अरे रक्ताशोकस्तवकसमरागो मणिरयं
यमुद्धर्तुं पूषा व्यवसित इवालम्बितकरः ॥ (९०)

भवतु । आदास्ये तावत् (ग्रहणं नाटयति ।)

(पणइणिवद्धासाइओ वाहाउलणिअणअणओ ।
गअवइ गहणे दुहिओ परिभमइ खामिअवअणओ ॥)

---

(९०) **अन्वयः**–प्रभालेपीति । अयं प्रभालेपी हरिहतगजस्य आमिषलवः न (अस्ति) अग्नेः स्फुलिङ्गं स्यात् ? पुनः इद गहनम् अभिवृष्टम् । अरे ! रक्ताशोकस्तव-कसमरागः अयं मणिः (अस्ति) पूषा यम् उद्धर्तुम् आलम्बितकरः व्यवसितः सन् इव ।

च० टी०—**अयं पुरोदृश्यमानं प्रभालेपी प्रभया कान्त्या लिम्पति व्याप्नोतीति, तेजः पुञ्जसमावृत इत्यर्थः हरिहतगजस्य सिंहमारित-हस्तिनः आमिषलवः मांसखण्डः नास्ति । तर्हि अग्नेः वन्हेः स्फुलिङ्गः स्यात् ? पुनः इदं गहनं वनं सद्यः अभिवृष्टम् वर्षासिक्तम् । सद्यो-वर्षणत्वात् स्फुलिङ्गस्य सर्वथा असम्भवः । अये ! रक्तेति-रक्ताशो-कस्तवकेन रक्ताशोकपुष्पगुच्छेन समरागः तुल्यवर्णः यस्य सः, तथा-भूतः अयं मणिः अस्ति, पूषा सूर्यः यं मणिम् उद्धर्तुं भूमितः ग्रहणा-र्थम् अवलम्बितकरः प्रसारितकरः सन् व्यवसितः कृतोद्योगः इव । अत्रोत्प्रेक्षते कविः सूर्यकिरणराशिव्याप्तत्वात् तद्ग्रहणाय सूर्यं कृत-प्रयत्नः प्रसारितकरः इव । शिखरिणी छन्दः ।**

हि० टी०—यह तेज से व्याप्त, सिंह से मारे हुए हाथी के मांस का टुकड़ा नहीं है, तो क्या यह आग का चिंगारा है ? परन्तु अभी तो वर्षा हुई है । ठीक है, अरे यह तो लाल अशोक के गुच्छे के समान रंग वाली मणि है, जिसको उठाने के लिए मानो सूर्य अपने किरणरूपी हाथों को फैलाये है ।

अच्छा, इसे उठा लेता हूं । (ग्रहण करता है ।)

प्रणयिनीबद्धास्वादो बाष्पाकुलनिजनयनः।
गजपतिर्गहने दुःखितः परिभ्रमति क्षामितवदनः ॥ (९१)

(द्विपदिकयोपसृत्य गृहीत्वात्मगतम् ।)

मन्दारपुष्पैरधिवासितायां यस्याः शिखायामयमर्पणीयः ।
सैव प्रिया सम्प्रति दुर्लभा मे मैवैनमश्रूपहतं करोमि ॥ (९२)

(इत्युत्सृजाति) (नेपथ्ये)

---

(९१) **अन्वयः**—प्रणयिनीति । प्रणयिनीबद्धास्वादः बाष्पाकुलनिजनयनः क्षामितवदनः दुःखितः गजपतिः गहने परिभ्रमति ।

च० टी०–**प्रणयिन्यां** प्रियतमायां **बद्धः** लग्नः **आस्वादः** यस्य सः, **बाष्पाकुले** अश्रुव्याप्ते **निजनयने** स्वनेत्रे यस्य सः, **क्षामितवदनः** म्लानीभूतमुखः, **दुःखितः**, खिन्नः **गजपतिः** **गहने** वने **परिभ्रमति** विचरति । गजान्यापदेशेन राज्ञः अवस्थासूचनम् ।

हि०टी०–*अपनी प्राणप्यारी में अत्यन्त प्रेम वाला, अश्रुव्याप्तनयन, म्लानमुखवाला दुःखित गजपति (ध्वनि से-राजा) वन में घूम रहा है ।*

(द्विपदिका द्वारा समीप जाकर, मणि को लेकर अपने चित्त में))

(९२) **अन्वयः**—मन्दारेति । मन्दारपुष्पैः अधिवासितायां यस्याः शिखायाम् अयम् अर्पणीयः, सम्प्रति सैव प्रिया मे दुर्लभा, एनम् अश्रूपहतं मैव करोमि ।

च० टी०–**मन्दारपुष्पैः** तन्नामककल्पवृक्षपुष्पैः **अधिवासितायां** सुगन्धीकृतायां **यस्याः** उर्वश्याः **शिखायां** केशपाशे **अयं** मणिः **अर्पणीयः** आसीत्, **सम्प्रति** इदानीं **सैव प्रिया** उर्वशी **मे** मह्यं **दुर्लभा**, अतः **एनं** मणिम् **अश्रूपहतं** वाष्पदूषितं **मैव** नैव **करोमि** । अधुना त्वयं मणिः तद्विना भूषणाभावे दूषणः जातः । इन्द्रवज्रा छन्दः ।

हि० टी०–*मन्दार के फूलों से सुगन्धित जिसके बालों में इसे लगाना चाहिए था; इस समय जब वह प्यारी ही दुर्लभ हो गई है तो इसे आंखों के आंसुओं से दूषित क्यों करूं ।*

(यह कहकर छोड़ना है ।) (नेपथ्य में)

वत्स ! गृह्यतां गृह्यताम् ।

संगमनीयो मणिरिह शैलसुताचरणरागयोनिरयम् ।
आवहति धार्यमाणः संगममाशु प्रियजनेन ॥ (९३)

राजा—(ऊर्ध्वमवलोक्य) कोमामनुशास्ति । (विलोक्य) **कथं** भगवान्मृगराजधारी । भगवन्, अनुगृहीतोऽहममुनोपदेशेन । (मणिमादाय) हंहो ! संगममणे ! (९४)

तया वियुक्तस्य निमग्नमध्यया भविष्यसि त्वं यदि संगमाय मे ।
ततः करिष्यामि भवन्तमात्मनः शिखामणिं बालमिवेन्दुमीश्वरः(९५)

वत्स ! *उठाओ, उठाओ ।*

(९३) **अन्वयः**—संगमनीय इति । अयं शैलसुताचरणरागयोनिः संगमनीयः मणिः इह प्रियजनेन धार्यमाणः आशु संगमम् आवहति ।

च० टी०—अयं शैलेति—शैलसुतायाः पार्वत्याः चरणरागः पादपद्मरागः योनिः सम्भवः यस्य सः, संगमनीयः संगमनीयनामा मणिः, इह प्रियाविरहे प्रियजनेन प्रणयवता धार्यमाणः अङ्गेषु निहितः सन् आशु शीघ्रमेव संगमं मेलनम् आवहति करोति । आर्यावृत्तम् ।

हि० टी०—महारानी पार्वती के चरणकमलों से उत्पन्न यह संगमनीय नामक मणि जिस वियोगी के पास होगी, यह मणि उसका बिछड़े हुए मनुष्य से मेल करा देती है ।

(९४) अनुशास्ति उपदिशति । मृगराजधारी चन्द्रः । अनुगृहीतः कृतकृत्यः ।

राजा—(आकाश की तरफ देखकर) मुझे कौन उपदेश दे रहा है ? (देखकर) क्या भगवान् चन्द्रमा हैं । भगवन् ! मैं आपके इस उपदेश से कृतकृत्य हो गया हूं । (मणि को उठाकर) हे संगममणे !

(९५) **अन्वयः**-तयेति । हे संगममणे ! यदि त्वं तया निमग्नमध्यया वियुक्तस्य मे संगमाय भविष्यसि, ततः भवन्तम् , ईश्वरः बालम् इन्दुमिव आत्मनः शिखामणिं करिष्यामि।

च० टी०—हे संगममणे ! यदि त्वं तया निमग्नमध्यया अतिसूक्ष्मावलग्नया तनुमध्यया वियुक्तस्य वियोगं प्राप्तस्य मे मम पुरूरवसः संगमाय मेलनाय भविष्यसि, ततः भवन्तम् (मणिम्) ईश्वरः

(परिक्रम्यावलोक्य च) अये, किं नु खलु कुसुमरहितामपि लतामिमां पश्यता मया रतिरुपलभ्यते। अथवा स्थाने मम मनो रमते। इयं हि-

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा।
चिन्तामौनमिवास्थिता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा॥(९६)

महादेवः बालम् इन्दुम् चन्द्रमिव आत्मनः स्वस्य पुरूरवसः शिखामणिं शिरोभूषणं करिष्यामि। वंशस्थविलं छन्दः।

हि० टी०—हे संगममणि! यदि तू मुझे उस पतली कमर वाली के साथ मिला देगी, तो मैं तुम्हें अपने मुकुट पर इस प्रकार लगाऊंगा, जैसे महादेव के मस्तक पर द्वितीया का चन्द्रमा लगा रहता है।

(घूमकर और देखकर) अरे, न जाने पुष्प रहित भी इस लता को देखकर क्यों मेरे चित्त में प्यार सा उठ रहा है। अथवा मेरे चित्त का इस पर लगना ठीक ही है। यह तो—

(९६) **अन्वय**—तन्वीति। तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया अश्रुभिः धौताधरा इव, स्वकालविरहात् विश्रान्तपुष्पोद्गमा आभरणैः शून्या इव, मधुलिहां शब्दैः विना चिन्तामौनम् आस्थिता इव, (अत एव) प्रकुप्य पादपतितं माम् अवधूय याता चण्डी इव सा लक्ष्यते।

च० टी०—तन्वी क्षीणा मेघजलेन आर्द्रपल्लवतया सिक्तपत्रतया अश्रुभिः बाष्पैः धौताधरा इव क्षालितौष्ठा इव, स्वकालविरहात् वसन्तसमयाभावात् विश्रान्तपुष्पोद्गमा विश्रान्तः विरतः पुष्पोद्गमः पुष्पोत्पत्तिः यस्याः सा, आभरणैः भूषणैः शून्या इव; तथा मधुलिहां भ्रमराणां शब्दैः विना भ्रमरगुञ्जितं विना, चिन्तामौनम् तूष्णीम् आस्थिता प्राप्ता इव, अत एव प्रकुप्य कुपिता भूत्वा पादपतितं माम् पुरूरवसम् अवधूय तिरस्कृत्य याता धाविता चण्डी कोपना सा उर्वशी इव लक्ष्यते दृश्यते। "चण्डी तु पार्वत्यां क्लिष्कोपनयोषितोः" इति लोचनः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः।

यावदस्यां प्रियानुकारिण्यां लतायां परिष्वङ्गप्रणयी भ्रमामि।

(लए पेक्ख विणु हिअए भमामि जइ विहिजोएण पुणि तहिं पाविमि।
ता रण्णे विणु करिमि णिब्भन्ती पुण णइ मेल्लइ ताह कअन्ती ॥)

**लते प्रेक्षस्व विना हृदयेन भ्रमामि यदि विधियोगेन पुनस्तां प्राप्स्यामि।
तदारण्येन विना करोमि निर्भ्रान्ति पुनर्न प्रवेशयामि तां कृतान्ताम् ॥**

हि॰ टी॰—यह पुष्प विहीन लता नहीं है यह क्षीण शरीर वाली उर्वशी है—इस लता का वर्षा से भीगा हुआ पत्ता, उर्वशी का अधर है जो कि आंखों के आंसुओं से भीगा हुआ है वसन्तकाल के अभाव से पुष्प विहीन यह लता; आभूषणों से हीन उर्वशी की तरह दिखाई देती है। और भौंरों के गुञ्जार से हीन यह लता ऐसी जान पड़ती है मानों वह वियोगिनी चिन्ता में चुपचाप बैठी है। इस लिए ऐसा मालूम होता है कि वह उर्वशी कुपित होकर चरणों में गिरे हुए मेरा तिरस्कार कर के चली गई है, जिस का उसे पश्चात्ताप हो रहा है।

सो अब इस प्यारी का अनुकरण करने वाली लता के साथ आलिङ्गन का प्रेमी हो कर घूमता हूं।

(९७) अन्वयः—लत इति। हे लते! (त्वम्) प्रेक्षस्व, हृदयेन विना भ्रमामि, यदि विधियोगेन पुनः तां प्राप्स्यामि, तदा निर्भ्रान्ति ताम् अरण्येन विना करोमि, तां कृतान्तां पुनर्न प्रवेशयामि।

च॰टी॰—हे लते, त्वम् प्रेक्षस्व विलोकय, हृदयेन विना अस्थिरचित्तः भ्रमामि विचरामि यदि विधियोगेन दैवयोगेन पुनः ताम् उर्वशीं प्राप्स्यामि तदा निर्भ्रान्ति निर्गता भ्रान्तिर्यस्यां क्रियायां यथास्यात्तथा ताम् अरण्येन विना करोमि। इदानीं तु अरण्याद्बहिर्निष्कासयामि कदापि पुनः अरण्यं नानेष्यामीत्यर्थः। तां कृतान्तां स्वविरहेण पीडादायिकाम्, कृतः अन्तः अर्थात्सुखस्य ययेति वा। पुनः कानने न प्रवेशयामि।

हि॰ टी॰—हे लता! देख, मैं हृदय रहित घूम रहा हूं। अगर भाग्यवश एक बार फिर उसे पा लूं तो उस वियोग में दुःख देने वाली को फिर कभी इस वन में प्रवेश न कराऊं।

(इति चर्चरिकयोपसृत्य लतामालिङ्गति । ततस्तदीयस्थानमाक्रम्यैव प्रविष्टोर्वशी ।)

राजा—(निमीलिताक्षः स्पर्शं नाटयित्वा) अये ! उर्वशीगात्रस्पर्शादिव निर्वृतं मे हृदयम् । न पुनरस्ति विश्वासः । कुतः—(९८)

समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति क्षणेन तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा ।
अतो विनिद्रे सहसा विलोचने करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ॥(९९)

(शनैरुन्मील्य चक्षुषी) कथं सत्यमेवोर्वशी । (इति मूर्च्छितः पतति ।)

(इस प्रकार चर्चरिका गीति से समीप जाकर उस लता का आलिङ्गन करता है । तब उस लता के स्थान में उर्वशी खड़ी हो गई ।)

राजा–(आंख बंद कर उर्वशी के स्पर्श का अभिनय करके) *अरे ! मानों उर्वशी के शरीर के स्पर्श से मेरा चित्त शांत हो गया है । परन्तु विश्वास नहीं होता । क्योंकि*—

(९९) **अन्वयः**–समर्थय इति । यत्प्रथमं प्रियां प्रति समर्थये, तत् क्षणेन मे अन्यथा परिवर्तते अतः स्पर्शविभावितप्रियः सहसा विलोचने विनिद्रे न करोमि ।

च० टी०—यत् किञ्चिद्वस्तु प्रथमं-पूर्वं प्रियां प्रति-उर्वशीं प्रति समर्थये, तत्परिज्ञापकमितिकृत्वा निश्चिनोमि, तद्वस्तु क्षणेन शीघ्रमेव मे मम अन्यथा विपरीतरूपेण परिवर्तते । अतः अस्मात् स्पर्शेन विभाविता अनुमिता प्रिया उर्वशी येन एवं भूतोऽहं, सहसा झटिति विलोचने नयने विनिद्रे उन्मीलिते न करोमि । निमीलितलोचन एव क्षणमपि तत्स्पर्शसुखमनुभवामि इत्यर्थः । वंशस्थविलं छन्दः ।

हि०टी०–*जिस वस्तु को मैं पहिले यह समझता हूं कि यह मेरी प्यारी उर्वशी की सूचक है (अथवा उर्वशी ही है) वही वस्तु दूसरे क्षण में मेरे लिये एकदम दूसरा रूप धारण कर लेती है । अब क्योंकि स्पर्श द्वारा मैंने यह जान लिया है कि यह प्रेयसी उर्वशी ही है, अतः (विपरीत होने के डर से) एकदम आंख न खोलूंगा ।*

(धीरे से आंखें खोलकर) क्या सचमुच उर्वशी है ? (यह कह मूर्च्छित होकर गिरता है ।)

उर्वशी-(समस्ससदु समस्ससदु महाराओ ।)

समाश्वसितु समाश्वसितु महाराजः।

राजा-(संज्ञां लब्ध्वा) प्रिये ! अद्य जीवितम् ।

त्वद्वियोगोद्भवे चण्डि मया तमसि मज्जता ।
दिष्ट्या प्रत्युपलब्धासि चेतनेव गतासुना ॥(१००)

उर्वशी-(मरिसदु मरिसदु महाराओ । जं मए कोववसं गदाए अवत्थन्तरं पाविदो महाराओ ।)

मर्षयतु मर्षयतु महाराजः। यन्मया कोपवशं गतयावस्थान्तरं प्रापितो महाराजः।

राजा-नाहं प्रसादयितव्यस्त्वया। त्वद्दर्शनेन प्रसन्नो मे सबाह्यान्तरात्मा। तत्कथय कथमियन्तं कालं मया विरहिता स्थितासि।

(अनन्तरे चर्चरी)

उर्वशी-*महाराज ! धैर्य धारण कीजिए, धैर्य धारण कीजिये ।*

राजा-(चेतना को प्राप्त होकर) *प्यारी ! आज जीवित होगया हूं ।*

(१००) अन्वयः-त्वदिति । चण्डि ! त्वद्वियोगोद्भवे तमसि मज्जता मया गतासुना चेतना इव दिष्ट्या प्रत्युपलब्धासि ।

च० टी०-हे चण्डि ! कोपने ! त्वद्वियोगोद्भवे तव विरहेणोत्पन्ने तमसि अन्धकारे मज्जता निमज्जन मया पुरूरवसा गतासुना मृतेन चेतना चैतन्यमिव दिष्ट्या भाग्येन प्रत्युपलब्धासि प्राप्तासि। अनुष्टुप् छन्दः।

हि० टी०-हे कोपने ! मैं तेरे वियोग के अन्धकार में डूब गया था, जिस प्रकार किसी मरे हुए मनुष्य को फिर चेतना प्राप्त होजाय इसी तरह भाग्य से आज तू मुझे प्राप्त हुई है।

उर्वशी-*महाराज ! क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये । क्योंकि मैंने क्रोध के वश में होकर महाराज को दूसरी अवस्था में पहुंचा दिया है।*

राजा-*प्रिये ! मुझे प्रसन्न करने की आवश्यकता नहीं, मेरा तो आत्मा बाहर भीतर तुम्हारे दर्शनों से ही प्रसन्न हो गया है। सो यह तो बताओ कि तुम किस प्रकार इतने समय तक मेरे विना रही हो।*

(इसके बाद चर्चरी गीति का गान होता है।)

(मोरा परहुअ हंस रहङ्ग अलि गअ गव्वअ सरिअ कुरङ्गम् ।
तुज्झह कारणे रण्ण भमन्ते को ण हु पुच्छिअ मयि रोअन्ते ॥)

मयूरः परभृद्धंसो रथाङ्गोऽलिर्गजः पर्वतः सरित्कुरङ्गः ।
तव कारणेनारण्ये भ्रमता को न खलु पृष्टो मया रुदता ॥ (१०१)

उर्वशी—(अन्तकरणपच्चक्खी किदवुत्तन्तो महाराओ ।)

अन्तःकरणप्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तो महाराजः ।

राजा—**प्रिये ! अन्तःकरणमिति न खल्ववगच्छामि ।**

उर्वशी—(सुणादु महाराओ पुरा भअवदा महासेणेण सासदं कुमारव्वदं गेण्हिअ अकलुसो णाम गन्धमादणकच्छो अज्झासिदो । किदा अ ट्ठिदी ।)

शृणोतु महाराजः । पुरा भगवता महासेनेन शाश्वतं कुमारव्रतं गृहीत्वा अकलुषो नाम गन्धमादनकच्छोऽध्यासितः । कृता च स्थितिः । (१०२)

---

(१०१) **अन्वयः**–मयूर इति । तव कारणेन अरण्ये रुदता मया मयूरादिः कः खलु न पृष्टः ।

च०टी०–**हे प्रिये तव कारणेन त्वदर्थं अरण्ये वने रुदता विलपता मया पुरूरवसा मयूरः बर्ही, परभृत् कोकिलः, हंसः, रथाङ्गः चक्रवाकः, अलिः भ्रमरः, गजः हस्ती, पर्वतः गिरिः, सरित् नदी, कुरङ्गः मृगः, कः खलु निश्चयेन न पृष्टः, अर्थात्–त्वदर्थं मया मयूरादयः सर्वेऽपि पृष्टाः ।**

हि० टी०–*हे प्रिये तेरे कारण रुदन करते हुए मैंने वन में मोर, कोयल, हंस, चक्रवाक, भ्रमर, हाथी, पहाड़; नदी और मृग इत्यादि किस किससे नहीं पूछा ।*

उर्वशी–*महाराज का अन्तःकरण तो इस वृत्तान्त को प्रत्यक्ष जानता है ।*

राजा—*क्या कहा 'अन्तःकरण' प्रिये मैं बिलकुल नहीं जानता ।*

(१२०) महासेन कार्तिकेयेन, शाश्वतं चिरकालपर्यन्तं, कुमारव्रतं ब्रह्मचर्यनियमं, गन्धमादनस्य तन्नामकपर्वतस्य, कच्छः जलप्रायदेशः, स्थितिः मर्यादा ।

उर्वशी–*महाराज ! सुनिये । पूर्व समय में भगवान् कार्तिकेय ने जन्म भर ब्रह्मचर्य व्रत को ग्रहण कर अकलुष नामक गन्धमादन पर्वत के जल-प्राय देश (कच्छ) में निवास किया और वहां उन्होंने यह मर्यादा बांधी ।*

राजा—कीदृशी ?

उर्वशी—(जा किल इत्थिआ इमं देसं आगमिस्सदि सा लदाभाएण परिणदा भविस्सदि। किदो अ सावान्तो गोरीचरणराअसंभवं मणिं वज्जिअ लदाभावं ण मुञ्चिस्सदि त्ति। तदो अहं गुरुसावसंमूढहिअआ विसुमरिददेवदाणिअमा अम्हकाजणपरिहरणीअं कुमारवणं पविट्ठा। पवेसाणन्तरं अ काणणावन्तवत्तिलदाभाएण परिणदं मे रूवम्।

या किल स्त्री इमं देशमागमिष्यति सा लताभावेन परिणता भविष्यति। कृतश्च शापान्तो गौरीचरणरागसम्भवं मणिं वर्जयित्वा लताभावं न मोक्ष्यतीति। ततोऽहं गुरुशापसंमूढहृदया विस्मृतदेवतानियमा स्त्रीजनपरिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा। प्रवेशान्तरं च काननोपान्तवर्तिलताभावेन परिणतं मे रूपम्।

राजा—प्रिये ! सर्वमुपपन्नम्।

रतिखेदसुप्तमपि मां शयने या मन्यसे प्रवासगतम्।
सा त्वमिहैतदवस्थं कथं सहेथाश्चिरवियोगम् ॥ (१०२)

राजा—*कैसी ?*

उर्वशी—*कि जो स्त्री इस स्थान में आवेगी वह लता के रूप में बदल जावेगी और उन्होंने शाप का अन्त इस प्रकार से किया है कि पार्वती के चरणों के राग से उत्पन्न हुई मणि के बिना वह स्त्री लता के रूप से न छूटेगी। इसलिए मैं बड़े भारी शाप से मूढ़ हृदय (पागलसी) होकर; देवता के नियम को भूल कर, स्त्री जनों को सर्वथा छोड़ने योग्य कुमार वन में प्रवेश कर गई। और प्रवेश करने के बाद उसी वन के बीच में लता के रूप में मेरा रूप बदल गया।*

राजा—*प्रिये ! सब कुछ ठीक है ।*

(१०२) अन्वयः—रतीति। या शयने रतिखेदसुप्तमपि मां प्रवासगतं मन्यसे, सा त्वम् इह एतदवस्थम् चिरवियोगं कथं सहेथाः ?

च० टी०—या त्वं शयने शय्यायां रतिखेदात् सुरतक्रीडोत्पन्नपरिश्रमात् सुप्तमपि निद्रितमपि मां पुरूरवसं प्रवासगतं विदेशगतं मन्यसे। या त्वं मैथुनखेदादपसृतस्य परावृत्य निद्रितस्यापि मे वियोग-

इदं चैतद्यथाकथितं संगमनिमित्तं पुनरुपलब्धप्रभावमस्माभिः। (इति मणिं दर्शयति ।)

उर्वशी—(कधं संगमणीओ अअं मणी । अदो एव्व महाराएण आलिङ्गिदा ज्जेव एदंवत्थम्हि संवुत्ता ।)

कथं संगमनीयोऽयं मणिः । अत एव महाराजेनालिङ्गितैवैतदवस्थास्मि संवृत्ता ।

राजा—(ललाटे मणिं संनिवेश्य ।)

स्फुरता विच्छुरितमिदं रागेण मणेर्ललाटनिहितस्य ।
श्रियमुद्वहति मुखं ते बालातपरक्तकमलस्य ॥ (१०३)

दुःखमनुभवसि इत्यर्थः। सा त्वम् इह अस्मिन् विजने वने एतदवस्थम् एवं प्रकारकम् अनिर्वचनीयदशमिति यावत् चिरवियोगं चिरविरहं कथं केन प्रकारेण सहेथाः ? आर्या छन्दः ।

*हि० टी०—हे प्रिये ! जो रति जनित खेद के कारण (अपने समीप ही) शय्या में सोए हुए मुझको प्रवासी की तरह मानती है अर्थात् मेरा चुपचाप शयन भी जिसे प्रवास जनित वियोग की तरह अखरता है। वही तू इस निर्जन वन में इतने बड़े विरह कोकिस प्रकार सहनकर सकी होगी ?

और यह पूर्व कथनानुसार (हमारे तुम्हारे) संगम का कारणभूत मणि है इसका प्रभाव हमने जान लिया है। (यह कहकर मणि को दिखाते हैं।)

उर्वशी—क्या यह संगमनीय (समागम का कारण) मणि है ? इस ही लिए महाराज के आलिङ्गन करते ही मैं इस अवस्था को प्राप्त हुई हूं।

राजा—(मस्तक में मणि को रख कर।)

(१०३) अन्वयः—स्फुरतेति । ललाटनिहितस्य मणेः स्फुरता रागेण विच्छुरितं इदं ते मुखं बालातपरक्तकमलस्य श्रियम् उद्वहति ।

च० टी०—ललाटनिहितस्य शिरःस्थापितस्य मणेः स्फुरता रागेण विस्तृतकान्त्या विच्छुरितं मिलितं इदं ते तव मुखं बालातपेन नवोदितसूर्यतापेन रक्तं यत् कमलं तस्य श्रियं शोभाम् उद्वहति धारयति। निदर्शनालङ्कारः। आर्या छन्दः।

उर्वशी—(पिअंवद, महन्तो क्खु कालो अम्हाणं पइट्ठाणदो णिग्गदाणम् । कदाइ असूइस्सन्ति पकिदिओ अम्हाणम् । ता एहि । गच्छम्ह ।)

प्रियंवद ! महान्खलु काल आवयोः प्रतिष्ठानान्निर्गतयोः । कदाचिदसूयिष्यन्ति प्रकृतय आवाम् । तदेहि । गच्छावः । (१०४)

राजा—यदाह भवती । (इत्युत्तिष्ठतः ।)

उर्वशी—(अध कधं महाराओ गन्तुं इच्छदि ।)

अथ कथं महाराजो गन्तुमिच्छति ?

राजा-अचिरप्रभाविलसितैः पताकिना सुरकार्मुकाभिनवचित्रशोभिना ।
गमितेन खेलगमने विमानतां नय मां नवेन वसतिं पयोमुचा ॥ १०५

हि० टी०—तेरे अलकों में बंधी हुई मणि की छाया जब तेरे मुखारविन्द में पड़ती है तो ऐसा जान पड़ता है मानो कमल के लाल फूल पर प्रातःकाल के सूर्य की कच्ची धूप पड़ रही हो।

(१०४ प्रतिष्ठानात् राजधानीतः, प्रयागपूर्वतीरस्थितनगरात् इति यावत्, निर्गतयोः प्रस्थितयोः । असूयिष्यन्ति अपवदिष्यन्ति, प्रकृतयः प्रजाः मन्त्रिणो वा ।

उर्वशी–हे प्रिय बोलने वाले ! प्रतिष्ठानपुर (जो कि इलाहाबाद के पूर्व तट पर स्थित था और पुरूरवा की राजधानी थी) से निकले हुए हमें बहुत समय गुजर गया है। कदाचित् नगर निवासी लोग हमारी निन्दा करेंगे सो आओ, चलें।

राजा—बहुत अच्छा श्रीमति ! (दोनों उठते हैं।)

उर्वशी—तो अब महाराज किस प्रकार जाना चाहते हैं ?

(१०५) राजा-अन्वयः-अचिरेति । हे खेलगमने ! अचिरप्रभाविलसितैः पताकिना सुरकार्मुकाभिनवशोभिना विमानतां गमितेन नवेन पयोमुचा मां वसतिं नय।

च टी०—हे खेलगमने ! सलीलगमने ! उर्वशि ! अचिरप्रभा विद्युत् तस्या विलसितैः दीप्तिभिः पताकिना केतुमता, सुरकार्मुकम् इन्द्रधनुः एव अभिनवं नूतनं चित्रम् आलेख्यम् तेन शोभिना शोभमानेन विमानतां विमानत्वं गमितेन प्रापितेन स्वभावेनेतिशेषः नवेन नूतनेन पयोमुचा मेघेन मां पुरूरवसं वसतिं गृहं नय प्रापय। "आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्" इतिकोषः। मञ्जुभाषिणी छन्दः।

(चर्चरी)

(पाविअसहअरिसंगमओ पुलअपसाहिअअङ्गअओ ।
सेच्छापत्तविमाणओ विहरइ हंसजुआणओ ॥)

प्राप्तसहचरीसंगमः पुलकप्रसाधिताङ्गः ।
स्वेच्छाप्राप्तविमानो विहरति हंसयुवा ॥ (१०६)

(इति खण्डधारया निष्क्रान्तौ ।)

इति श्रीकविकुल-चूड़ामणि-महाकवि-कालिदास-प्रणीते
विक्रमोर्वशीये त्रोटके चतुर्थोऽङ्कः समाप्तः ।

हि०टी०—हे क्रीडा के साथ गमन करने वाली ! जिस में बिजली ही पताका फहरा रही हो, इन्द्रधनुष रूपी नवीन चित्र से सुशोभित नूतन मेघ को विमान बना कर उसके द्वारा मुझे घर पहुंचा दे ।

(इसके बाद चर्चरी गीति का गान होता है ।)

(१०६) **अन्वय**.—प्राप्तेति । प्राप्तसहचरीसंगमः पुलकप्रसाधिताङ्गः स्वेच्छाप्राप्तविमानः हंसयुवा विहरति ।

च०टी०—**प्राप्तः उपलब्धः सहचर्याः स्वप्रियायाः संगमः येन सः पुलकैः हर्षजनितरोमाञ्चैःप्रसाधितं भूषितं अङ्गं शरीरं यस्य सः,स्वेच्छया ईश्वरेच्छया प्राप्तः विशिष्टः मानः प्रियासङ्गालिङ्गनादिजन्य उत्कर्षः येन। स्वेच्छयैव प्राप्तं विमानं आकाशयानं येन वा । अभिलाषोपनीतव्योमयानः इत्यर्थः। हंसयुवा हंसयुवकः विहरति स्वेच्छया परिभ्रमतीत्यर्थः। हंसयुवकच्छलेन राजा लक्ष्यते-अर्थात् अधुना उर्वशीयुक्तः राजा सहर्षं विहरतीति भावः ।**

हि०टी०—अपनी प्राणप्रिया के साथ, पुलकित (रोमाञ्चों से विभूषित शरीर) और ईश्वरेच्छा से प्यारी के साथ आलिङ्गनादि उत्कर्ष को प्राप्त अथवा इच्छानुसार विमान को प्राप्त करके हंस युवक (महाराज पुरूरवा) स्वेच्छा से विहार कर रहे हैं ।

(इस प्रकार खण्डधारा गीति को गान कर दोनों चले गये ।)

इति श्रीमद्विद्वद्वर-पण्डित-हृदयराम-तनय-कविरत्न-चक्रधर 'हंस' प्रणीतायां चन्द्रकलायां चतुर्थकला समाप्ता ।

अथ पञ्चमोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशति हृष्टो विदूषकः)

विदूषकः–(ही ही भो, दिट्ठिआ चिरस्स कालस्स उव्वसीसहाओ तत्तभवं राआ णन्दणवणप्पमुहेसु पदेसेसु विहरिअ पडिणिवुत्तो। पविसिअ णअरं दाणीं सकज्जाणुसासणेण पइदिमण्डलं अणुरञ्जअन्तो रज्जं करेदि । असंताणत्तणं वज्जिअ से ण किंवि सोअणीअम् ! अज्ज तिहिविसेसो त्ति भअवदीणं गङ्गाजमुणाणं संगमे देवीए सह किदाहिसेओ संपदं उवआरिअं उवविट्ठो। ता जाव अलंकरणीअमाणस्स अङ्गाणुलेवणमल्लभाई भादुओ विअ होमि।) (इति परिक्रामति ।)

ही ही भोः, दिष्ट्या चिरस्य कालस्योर्वशीसहायस्तत्रभवान्राजा नन्दनवनप्रमुखेषु प्रदेशेषु विहृत्य प्रतिनिवृत्तः। प्रविश्य नगरमिदानीं स्वकार्यानुशासनेन प्रकृतिमण्डलमनुरञ्जयन्राज्यं करोति। असंतानत्वं वर्जयित्वास्य न किमपि शोचनीयम्। अद्य तिथिविशेष इति भगवत्योर्गङ्गायमुनयोः संगमे देव्या सह कृताभिषेकः साम्प्रतमुपकार्यामुपविष्टः। तद्यावदलंक्रियमाणस्याङ्गानुलेपनमाल्यभागी भ्रातेव भवामि।

(इसके बाद प्रसन्न होता हुआ विदूषक आता है।)

विदूषक–अहो ! भाग्यवश बहुत समय के बाद उर्वशी के साथ माननीय महाराज नन्दन वन आदि अनेक स्थानों में विहार कर लौटे हैं। वे इस समय नगर में प्रवेश कर अपने कार्यानुशासन (राज्यप्रबन्ध) से प्रजा के लोगों को प्रसन्न रखते हुए (अथवा अपने अपने कर्तव्य की शिक्षा द्वारा अमात्यादि प्रकृति वर्ग को अनुरञ्जित करते हुए) राज्य करते हैं। सन्तान के अतिरिक्त इनको और किसी प्रकार का शोक नहीं है। आज विशेष तिथि (माघी आदि) है इसलिये भगवती गंगा तथा यमुना के संगम में महारानी के साथ स्नानादि करने के वाद इस समय तम्बू (पटगृह) में बैठे हैं। सो क्योंकि इस समय महाराज (भूषण, वस्त्रादिकों से) अलंकृत हो रहे हैं इसलिए मैं भी उनके भाई की तरह अङ्गानुलेपन, चन्दनादि का भागी होता हूं।

(नेपथ्ये)

(हद्धी हद्धी । एसो तालविन्तपिधाणं णिक्खिविअ णीअमाणो अच्छराविरहिदेण मोलिरअणदाए योइदो मणी आमिससङ्किणा गिद्धेण आक्खित्तो ।)

हा धिक् हा धिक् । एष तालवृन्तपिधानं निक्षिप्य नीयमानोऽप्सरोविरहितेन मौलिरत्नतायां योजितो मणिरामिषशङ्किना गृध्रेणाक्षिप्तः। (१)

विदूषकः—[(**आकार्ण्य**) अच्चाहिदं अच्चाहिदम् । परमबहुमदो क्खु तव वअस्स संगमणीओ णाम चूडामणी । अदो क्खु असमत्तणेवत्थो एव्व तत्तभवं आसणादो उट्ठिदो । ता पासपरिवत्ती ।] (**इति निष्क्रान्तः** ।)

अत्याहितमत्याहितम् । परमबहुमतः खलु तव वयस्य संगमनीयो नाम चूड़ामणिः । अतः खल्वसमाप्तनेपथ्य एव तत्र भवानासनत उत्थितः । तत्पार्श्वपरिवर्त्ती भवामि (२)

प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशति राजा सूतश्च कञ्चुकिवेधकौ परिजनश्च ।)

(नेपथ्य में ।)

(१) तालवृन्तमेव पिधानं तालवृन्त पिधानम् , निक्षिप्य एकतः कृत्वा ।

हा ! अत्यन्त खेद है कि जिस समय तालवृन्त का आच्छादन हटा कर (उघाड़े हुए) मणि को ले जा रहे थे उस समय गृध्र ने मणि को मांस समझ कर झपट लिया, इस मणि को महाराज ने उर्वशी के विरह में अपने मस्तक का भूषण बनाया था ।

(२) "अत्याहितं महाभीतिः कर्म जीवानपेक्षि च" इति कोषः । असमाप्तनेपथ्यः अपूर्णव्रतनियमः । वेधक इति किरातस्य नाम । क्वचिद्रेचक इत्यपि ।

विदूषक–(**सुनकर**) *अनर्थ होगया, अनर्थ होगया । निःसन्देह यह महाराज की अत्यन्तप्रिय संगमनीय नामक चूड़ामणि है । इसलिये शरीर प्रसाधन के पूर्ण होने से पहिले ही पूज्य महाराज आसन से उठ गये हैं । सो मैं भी उनके पास जाता हूं ।*

(यह कहकर चला गया । प्रवेशक ।)

(इसके बाद राजा और सूत, तथा कञ्चुकी वेधक और परिजन के लोग आते हैं ।)

राजा—वेधक, वेधक !

आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहगतस्करः ।

येन तत्प्रथमं स्तेयं गोप्तुरेव गृहे कृतम् ॥ (३)

किरातः—(एसो अग्गमुहलग्गहेमसुत्तेण मणिणा अणुरञ्जअन्तो विअ आआसं भमादि ।)

एषोऽग्रमुखलग्नहेमसूत्रेण मणिनानुरञ्जयन्निवाकाशं भ्रमति। (४)

राजा—पश्याम्येनम् ।

असौ मुखालम्बितहेमसूत्रं बिभ्रन्मणिं मण्डलशीघ्रचारः ।

अलातचक्रप्रतिमं विहङ्गस्तद्रागलेखावलयं तनोति ॥ (५)

राजा—*वेधक, वेधक !*

(३) **अन्वयः**—आत्मन इति । आत्मनः वधम् आहर्ता असौ विहगतस्करः क्व (अस्ति) ? येन गोप्तुः एव गृहे तत्प्रथमं स्तेयं कृतम् ।

च० टी०—**आत्मनः स्वस्य वधम् आहर्ता वधकर्ता असौ विहगतस्करः विहगश्चासौ तस्करश्चेति, पक्षिचोरः इत्यर्थः क्व कुत्रास्ति ? येन चोरेण गोप्तुः पालकस्यैव गृहे तत्प्रथमम् आद्यम् स्तेयं चौर्य्यम् कृतम् । अनुष्टुप् छन्दः ।**

हि० टी०—*अपनी मृत्यु को बुलाने वाला वह पक्षी कहां है ? जिसने प्रजा के स्वामी के ही घर में पहली चोरी की है ।*

(४) अग्रमुखेत्यत्र मुखाग्रमिति पूर्वनिपातनियमाज्ज्ञेयम् । मुखस्य आननस्य अग्रे अग्रभागे लग्नः हेम्नः सुवर्णस्य सूत्रं यस्य अनुरञ्जयम् मणिरागेण रञ्जितं कुर्वत् ।

किरात—*यह देखो ! मणि सहित सोने की जञ्जीर को मुख के अग्रभाग में (चोंच में) दबाये यह गीध मानो आकाश को (मणि राग से) रञ्जित करता हुवा घूम रहा है ।*

राजा—*हां इसे देख रहा हूं ।*

(५) **अन्वयः**—असाविति । मुखालम्बितहेमसूत्रं मणिं बिभ्रत्, मण्डलशीघ्रचारः असौ विहङ्गः अलातचक्रप्रतिमं तद्रागलेखावलयं तनोति ।

च० टी०—**मुखे आलम्बितं कलितं हेमसूत्रं सुवर्णसूत्रं यस्य तं मणिं बिभ्रत् धारयन् तथा मण्डलशीघ्रचारः मण्डलैः तदाकार-**

कथय, किं खल्वत्र कर्तव्यम् ।

विदूषकः–(उपेत्य) [भोः, अलं एत्थ घिणाए । अवराही सासणीओ ।]

भोः ! अलमत्र घृणया । अपराधी शासनीयः ।

राजा—सम्यगाह भवान् । धनुर्धनुस्तावत् ।

परिजनः—[जं भट्टा आणवेदि ।] (इति निष्क्रान्तः ।)

यद्भर्ताज्ञापयति ।

राजा—न दृश्यते हि विहगाधमः ।

विदूषकः—(इदो इदो दक्खिणन्तरेण चलिदो सउणिहदासो ।)

इत इतो दक्षिणान्तरेण चलितः शकुनिहतासः । (आः)

राजा—(दृष्ट्वा) इदानीम्—

भ्रमणैः शीघ्रं चारो गतिर्यस्य सः, असौ विहङ्गः पक्षिचोरः अलातचक्र-प्रतिमम्-अलातं ज्वलत्काष्ठं तस्य चक्रम् भ्रमणजनितमण्डलं तत्प्रतिमं तत्सदृशं तद्रागलेखावलयं तस्य मणेः रागस्य रक्तवर्णस्य रक्तवर्ण-कान्तेर्वा लेखा तस्याः वलयं मण्डलं तनोति करोति। उपजातिर्वृत्तम्।

हि० टी०—मुख में सुवर्ण की जंजीर सहित मणि को धारण किये, शीघ्रगति से (चारों ओर) मंडराता हुआ यह पक्षी (गीध) माणि की राग रेखाओं से मण्डल बना रहा है, और यह मण्डल अलात चक्र की तरह प्रतीत होता है। (जलती हुई लकड़ी को चारों ओर घुमाने से जो मण्डल बनता है उसे अलात चक्र कहते हैं ।

तो कहो, अब इस विषय में क्या करना चाहिये ।)

विदूषक—(समीप जाकर) भगवन् ! अब दया न कीजिए । अपराधी को अवश्य दण्ड देना चाहिये ।

राजा—तुम ने ठीक कहा । धनुष लाओ, धनुष लाओ ।

परिजन—जो महाराज की आज्ञा । (यह कह कर चला गया)

राजा—अब तो वह नीच पक्षी दीखता भी नहीं है ।

विदूषक—वह दुष्ट पक्षी दक्षिण की तरफ गया है ।

राजा—(देख कर) इस समय—

प्रभापल्लवितेनासौ करोति मणिना खगः।
अशोकस्तवकेनेव दिङ्मुखस्यावतंसकम् ॥ (६)

यवनी—[(धनुर्हस्ता प्रविश्य) भट्टा एदं ससरं चावम् ।]
भर्तः ! इदं सशरं चापम् ।

राजा–किमिदानीं धनुषा। बाणपथातीतः क्रव्यभोजनः। तथाहि–

आभाति मणिविशेषो दूरमिदानीं पतत्रिणा नीतः।
नक्तमिव लोहिताङ्गः परुषघनच्छेदसंपृक्तः ॥ (७)

---

(६) अन्वयः—प्रभेति। असौ खगः प्रभापल्लवितेन अशोकस्तवकेनेव मणिना दिङ्मुखस्य अवतंसकं करोति।

च० टी०–असौ खगः पक्षी प्रभया कान्त्या पल्लवितेन विस्तृतेन अशोकस्य स्तवकेन गुच्छेनेव प्रतीयमानेन मणिना दिङ्मुखस्य (अवयवः तस्येतियावत्) अवतंसकं* भूषणं करोति (इव)। अनुष्टुप् छन्दः।

हि० टी०—*इस समय यह पक्षी; अपनी कान्ति के कारण अति विस्तृत प्रतीत होने वाले, अशोक पुष्प के गुच्छे के सदृश इस मणि से मानो दिङ्नायिका के मुख को सुशोभित कर रहा है।*

यवनी–(धनुष को हाथ में लिए हुए प्रवेश करके) स्वामिन् ! *लीजिए यह बाण सहित धनुष है ।*

राजा—*इस समय धनुष से क्या करना है । यह मांस भोजी पक्षी बाण की मार से दूर निकल गया है । जैसे कि—*

(७) अन्वयः–आभातीति। इदानीं पतत्रिणा दूरं नीतः परुषघनच्छेदसंपृक्तः मणिविशेषः नक्तं लोहिताङ्गः इव आभाति।

च० टी—इदानीम् अधुना पतत्रिणा पक्षिणा दूरं नीतः प्रापितः परुषघनच्छेदसंपृक्तः परुषघनच्छेदेन परिणतमेघखण्डेन संयुक्तः

---

* अवतंसक कानों के भूषण को कहते हैं, कानों के भूषण धारण करने से मुख की ही शोभा होती है। यहां पर कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि मानों यह गीध इस मणि को दिग्वधू के कानों का भूषण बना रहा है।

आर्य ! तालव्य !

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः ।

राजा—मद्वचनादुच्यन्तां नागरिकाः सायं निवासवृक्षाग्रे विचीयतां विहगाधमः ।

कञ्चुकी—यथाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

विदूषकः—(भो, विसमीअदु भवं संपदम् । कहिं गदो सो रअणुकुम्भीलओ भवादो सासणादो मुञ्चिस्सदि ।

भोः, विश्राम्यतु भवान्साम्प्रतम् । कुत्र गतः स रत्नकुम्भीरको भवतः शासनान्मोक्ष्यते ।

(इत्युपविशतः ।)

राजा—वयस्य !

रत्नमिति न मे तस्मिन्मणौ प्रयासो विहङ्गमोत्क्षिप्ते ।
प्रियया तेनास्मि सखे संगमनीयेन सङ्गमितः ॥ (८)

आच्छादितः मणिविशेषः उत्कृष्टः मणिः नक्तम् रात्रौ लोहिताङ्गः मङ्गल इव आभाति ईषत् प्रतीयते । 'लोहिताङ्गो महीसुतः' इत्यमरः ।

हि० टी०—गृध्र मणि को बहुत दूर ले गया है, वह (मणि) इस समय, रात्रि में घने मेघों से आवृत मङ्गल नक्षत्र की तरह टिमटिमा रही है ।

कञ्चुकी—आज्ञा कीजिये महाराज !

राजा—मेरी तरफ से नगर निवासियों से कहो कि सायंकाल को पक्षियों के निवास के वृक्षों में उस नीच पक्षी को ढूंढो ।

कञ्चुकी—जो महाराज की आज्ञा। (यह कहकर चला गया ।)

विदूषक—राजन् ! अब आप विश्राम करें । वह चोर पक्षी आप से दण्ड पाये बिना कहां जा सकता है । (दोनों बैठ जाते हैं)

राजा—मित्र !

(८) अन्वयः—रत्नमिति । विहङ्गमोत्क्षिप्ते तस्मिन्मणौ रत्नम् इति (कृत्वा) मे प्रयासः न (अस्ति) हे सखे ! तेन संगमनीयेन प्रियया सङ्गमितः अस्मि ।

(ततः प्रविशति सशरं मणिमादाय कञ्चुकी ।)

कञ्चुकी—जयति जयति देवः ।

अनेन निर्भिन्नतनुः स वध्यो रोषेण ते मार्गणतां गतेन ।
प्राप्या- प्राप्तापराधोचितमन्तरीक्षात्समौलिरत्नः पतितः पतत्री ॥ (९)

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति ।)

कञ्चुकी—अभिप्रक्षालितोऽयं मणिः कस्मै प्रदीयताम् ?

च० टी०—विहङ्गमोत्क्षिप्ते विहङ्गमेन पक्षिणा उत्क्षिप्ते आकाशं नीते तस्मिन् मणौ रत्नम् इति कृत्वा मे मम प्रयासः उद्योगः नास्ति। प्रयासे हेतुमाह—हे सखे ! तेन संगमनीयेन तन्नाम्ना प्रियया उर्वश्या सह संगमितः संगं प्रापितः अस्मि ।

हि० टी०—*गृध्र के झपटे हुए उस मणि के विषय में (अर्थात् उसे प्राप्त करने के लिये) मेरा प्रयास इसलिये नहीं है कि वह 'रत्न' है, किन्तु इसलिये कि उस ने मुझे प्रेयसी उर्वशी से मिला दिया है।*

(इसके बाद बाण सहित मणि को लेकर कञ्चुकी आता है।)

कञ्चुकी—*जय हो ! महाराज की जय हो !*

(९) **अन्वयः**—अनेनेति । मार्गणतां गतेन ते अनेन रोषेण निर्भिन्नतनुः स पतत्री प्राप्तापराधोचितम् (यथास्यात्तथा) अन्तरिक्षात् समौलिरत्नः पतितः।

च० टी०—मार्गणतां गतेन बाणभावं प्राप्तेन ते तव अनेन रोषेण क्रोधेन निर्भिन्नतनुः विदारितशरीरः वधमर्हतीति वध्यः स पतत्री पक्षी प्राप्तापराधोचितम् प्राप्तं लब्धम् अपराधस्य उचितं योग्यं शासनं यथास्यात्तथा अन्तरिक्षादाकाशात् समौलिरत्नः पतितः । उपजातिः छन्दः ।

हि० टी०—*आपके क्रोध ने बाण बन कर मारने के योग्य उस पक्षी के शरीर को फाड़ दिया है, जो कि यथोचित दण्ड को पाकर आकाश से रत्न सहित गिर पड़ा है ।*

(सब आश्चर्य करते हैं ।)

कञ्चुकी—*धोई हुई यह मणि किस को देनी चाहिये ?*

राजा—वेधक ! गच्छ, कोषपेट्टके स्थापयैनम् ।

किरातः-(जं भट्टा आणवेदित्ति ।) [इति मणिमादाय निष्क्रान्तः।]

यद्भर्ताज्ञापयतीति ।

राजा-(तालव्यं प्रति) आर्य, जानाति भवान्कस्यायं बाण इति ?

कञ्चुकी—नामाङ्कितो दृश्यते । नात्र मे वर्णविभावसहा दृष्टिः ।

राजा—तदुपश्लेषय शरं यावन्निरूपयामि । (१०)

विदूषकः—(किं भवं विआरेदि ।)

किं भवान्विचारयति ?

राजा—शृणु तावत्प्रहर्तुर्नामाक्षराणि ।

विदूषकः—(अवहिदो म्हि ।)

अवहितोऽस्मि ।

राजा—(वाचयति)

उर्वशीसंभवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः ।

कुमारस्यायुषो बाणः संहर्ता द्विषदायुषाम् ॥ (११)

राजा-वेधक ! जाओ, इस मणि को खजाने के सन्दूक में रखो ।

किरात-जो महाराज आज्ञा देते हैं । (यह कहकर मणि को लेकर चला गया ।)

राजा-(तालव्य की ओर) आर्य ! आप जानते हैं कि यह बाण किसका है ?

कञ्चुकी-बाण पर नाम तो खुदा है, परन्तु मेरी दृष्टि अक्षरों को नहीं पहचान सकती ।

(१०) उपश्लेषय समीपमानय । निरूपयामि निश्चिनोमि ।

राजा-तो बाण को मेरे पास लावो; मैं ही निश्चय करूंगा ।

विदूषक आप विचार क्या करते हैं !

राजा-तो बाण को चलाने वाले के नाम के अक्षरों को सुनो ।

विदूषक-मैं सावधान हूं ।

राजा-(वाचता है ।)

(११) अन्वयः-उर्वशीति । उर्वशीसंभवस्य धनुष्मतः ऐलसूनोः आयुषः कुमारस्य अयं द्विषदायुषां संहर्ता बाणः अस्तीति शेषः ।

विदूषकः—(दिट्ठिआ संताणेण वड्ढदि महाराओ ।)

दिष्ट्या संतानेन वर्धते महाराजः ।

राजा— कथमेतत् । सखे ! अनिमिष्या वियुक्तोऽहमुर्वश्या । न कदाचिदपि तत्र भवती गर्भाविर्भूतदोहदाप्युपलक्षिता । कुत एव प्रसूतिः । किं तु । (१२)

आबिलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायम् ।
कतिचिदहानि शरीरं श्लथवलयमिवाभवत्तस्याः ॥ (१३)

च० टी०–उर्वशीसंभवस्य उर्वशीगर्भोत्पन्नस्य धनुष्मतः प्रशस्तधनुर्धारिणः ऐलस्य पुरूरवसः सूनोः पुत्रस्य आयुषः आयुर्नामकस्य कुमारस्य बालकस्य अयं द्विषतां शत्रूणाम् आयुषाम् जीवितानां संहर्ता नाशकः बाणः शरः अस्ति । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०–*उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न, उत्तम धनुर्धारी, पुरूरवा के पुत्र आयु नामवाले कुमार का शत्रुओं के प्राण लेने वाला यह बाण है ।*

विदूषक–*बड़े सौभाग्य की बात है कि महाराज की सन्तान के साथ विजय हुई है ।*

(१२) अनिमिष्या देववनितया यद्वा "नैमिषेयसत्रात् अवियुक्तः" इतिपाठः । सत्रात् यज्ञात् । गर्भेण आविर्भूतं संजातं दोहदं यस्याः सा, उपलक्षिता ज्ञाता ।

राजा–*यह कैसे मित्र ! बड़े आश्चर्य की बात है कि-देववनिता उर्वशी से मैं कभी अलग नहीं हुआ अथवा-नैमिषारण्य के यज्ञ के विना मैं कभी उर्वशी से अलग नहीं हुआ । वहां मैंने कभी भी उर्वशी गर्भजनित प्रबल इच्छा वाली नहीं देखी, फिर पुत्रोत्पत्ति कैसे ? किंतु—*

(१३) **अन्वयः**–आबिलेति । तस्याः शरीरं कतिचिदहानि आबिलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायं श्लथवलयमिव अभवत् ।

च० टी०–तस्याः उर्वश्याः शरीरं कतिचिदहानि त्रीणि चत्वारि दिनानि, आबिलं मलिनं पयोधराग्रं चूचुकाग्रम् "आनीलचूचुकाग्र" मिति पाठे–आनीलं आ समन्तात् नीलम्, लवली लताविशेषः, द्राक्षेति केचित्, तस्याः दलवत् पत्रवत् पाण्डुः पीतवर्णा आननस्य-

विदूषकः—(मा भवं माणुसीधम्मं दिव्वाए ताए संभावेदु । पभावगूढाइं ताणं चरिदाइं ।)

मा भवान्मानुषीधर्मं दिव्यायास्तस्याः संभावयतु । प्रभावगूढ़ानि तासां चरितानि ।

राजा—अस्तु तावदेवं यथाह भवान् । पुत्रसंवरणे किमिवकारणं तत्रभवत्याः ?

विदूषकः—(मा वुड्ढिं मं राआ परिहरिस्सदि त्ति ।)

मा वृद्धां मां राजा परिहरिष्यतीति ।

राजा—कृतं परिहासेन । चिन्त्यताम् ।

विदूषकः—(को देवरहस्साइं तक्कइस्सदि त्ति ।)

को देवरहस्यानि तर्कयिष्यति ।

मुखस्य च्छाया कान्तिः यस्मिं तत् श्लथवलयम्, श्लथं विस्रस्तं वलयं यास्मिन् तथा भूतमिव अभवत्, अत्रेव शब्दः संभावनायाम्, एवं गर्भ चिन्हानि संभाव्यन्त इतिभावः। उपमोत्प्रेक्षे तु न शङ्कनीये तयोः साहश्यमूलकत्वात्, साहश्यस्य चात्राप्रतीतेः ।

हि० टी०—लेकिन कुछ दिन तक उसकी चूंचियों का अगला भाग श्याम विदित होता था, मुख की कान्ति लवली लता के पत्तों के समान पीली हो गई थी, कङ्कण ढीले पड़ गए थे ।

विदूषक—आप उस स्वर्गीय अप्सरा में मानुषी धर्मों की संभावना न करें । अप्सराओं के चरित्र प्रभाव से गुप्त होते हैं ।

राजा—संभव है तुम्हारी बात ठीक हो-परन्तु पुत्र को छिपाने में उर्वशी का क्या प्रयोजन था ?

विदूषक—(सन्तान को गुप्त रखने में उसका प्रयोजन यह था कि-) "वृद्धा समझ कर राजा मुझे छोड़ तो न देंगे ।"

राजा—हंसी न कीजिए । इस बात पर विचार कीजिए ।

विदूषक—देवताओं की गुप्त बातों को कौन सोच सकता है ।

कञ्चुकी—(प्रविश्य) **जयति, जयति देवः । देव ! च्यवनाश्रमात्कुमारं गृहीत्वा तापसी संप्राप्ता देवं द्रष्टुमिच्छति ।**

राजा—**उभयमप्यविलम्बितं प्रवेशय ।**

कञ्चुकी—**यदाज्ञापयति देवः ।** (इति निर्गम्य तापसीसहितं कुमारमादाय प्रविष्टः ।)

विदूषकः—(णं क्खु एसो खत्तिअकुमारो जस्स णामाङ्किदो गिद्धलक्खवेही णाराओ उवलद्धो तत्तभवदो बहु अणुकरेदि ।)

ननु खल्वेष क्षत्रियकुमारो यस्य नामाङ्कितो गृध्रलक्ष्यवेधी नाराच उपलब्धस्तत्रभवतो बह्वनुकरोति । (१४)

राजा—**एवमेतत्—**

बाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मि-
न्वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः ।
संजातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्ति-
रिच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमङ्गैः ॥ (१५)

कञ्चुकी—(प्रवेश करके) *जय हो, महाराज की जय हो । भगवन् ! च्यवन ऋषि के आश्रम से कोई तापसी एक कुमार को लेकर आई है, और वह आप से मिलना चाहती है ।*

राजा—*बहुत शीघ्र दोनों को भेजो ।*

कञ्चुकी—*जो महाराज की आज्ञा* (**इस के बाद जाकर तापसी के सहित कुमार को लेकर आगया ।**)

(१४) नाराचः बाणः, उपलब्धः प्राप्तः । तत्रभवतः पूज्यस्य, अनुकरोति अनुकरणं करोति ।

विदूषक—*निःसन्देह यह वही क्षत्रिय कुमार है जिसका नाम गीध को मारने वाले बाण पर खुदा हुआ था । यह आपका बहुत अनुकरण करता है अर्थात् इसकी आकृति प्रायः आपके सदृश है ।*

राजा—*ठीक है—*

(१५) **अन्वयः**—बाष्पायत इति । अस्मिन् निपतिता मम दृष्टिः बाष्पायते, हृदयं वात्सल्यबन्धि (भवति) मनसः प्रसादः (जायते) किं च उज्झितधैर्यवृत्तिः अहं संजातवेपथुभिः अङ्गैः एनम् अदयं परिरब्धुमिच्छामि ।

कञ्चुकी—**भगवति ! एवं स्थीयताम्** । (तापसीकुमारौ यथोचितं स्थितौ ।)

राजा—(उपसृत्य) **भगवति ! अभिवादये ।**

तापसी—[महाराअ, सोमवंसं धारअन्तो होहि । (**आत्मगत्**) भो, अणाचक्खिदो वि विण्णादो एव्व तस्स राएसिण आउसो अ ओरसो संबन्धो (**प्रकाशम्**) जाद, पणम गरुम् ।]

महाराज ! सोमवंशं धारयन्भव । भोः, अनाख्यातोऽपि विज्ञात एव तस्य राजर्षेरायुषश्चौरसः सम्बन्धः । जात ! प्रणम गुरुम् ।

(कुमारो बाष्पगर्भाञ्जलिं बद्ध्वा प्रणमति ।)

राजा—**वत्स ! आयुष्मान्भव ।**

च० टी०—**अस्मिन् कुमारे निपतिता मम पुरूरवसः दृष्टिः बाष्पायते बाष्पमुद्वमति अश्रुसंवृता भवति, हृदयं वात्सल्यबन्धि प्रेमातिशययुक्तम् भवति, मनसः चेतसः प्रसादः प्रसन्नता, जायते । किंच उज्झिता त्यक्ता धैर्यस्य वृत्तिः व्यापारो येन तथाभूतः सन् अहं संजातवेपथुभिः कम्पमानैः अङ्गैः एनं बालकं अदयम्-बलपूर्वकमिति यावत्, परिरब्धुम् आलिङ्गितुम् इच्छामि । वसन्ततिलका छन्दः ।**

हि० टी०—इस बालक को देखते ही मेरे नेत्रों में जल भर आया है, हृदय में एक प्रेम पैदा हो गया है चित्त आल्हादित होता है, और मैं अधीर होकर कांपते हुए अंगों से इस बालक को जोर से आलिंगन करना चाहता हूं ।

कञ्चुकी—*भगवति !* इस प्रकार बैठ जाइए । (**तापसी और कुमार उचित स्थान पर बैठते हैं ।**)

राजा—(**समीप आकर**) *भगवति ! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूं ।*

तापसी—*महाराज ! सोमवंश को चिरकाल तक विस्तार पूर्वक धारण कीजिये ।* (**अपने मन ही मन**) *अरे ! बताये विना भी राजर्षि पुरूरवा तथा उन के पुत्र आयु का औरस सम्बन्ध मालूम हो गया है ।* (**प्रकाश करके**) *बेटा ! अपने पिता को प्रणाम कर ।*

(कुमार आंसु सहित हाथ जोड कर प्रणाम करता है ।)

राजा—*बेटा ! चिरंजीव रहो ।*

कुमारः—(स्पर्शं रूपयित्वा। स्वगतम्।)

यदि हार्दमिदं श्रुत्वा पिता ममायं सुतोऽहमस्येति।

उत्सङ्गे वृद्धानां गुरुषु भवेत्कीदृशः स्नेहः॥ (१६)

राजा—भगवति, किमागमनप्रयोजनम् ?

तापसी-(सुणादु महाराओ। ऐसो दीहाऊ आऊ जादमेत्तो एव्व उव्वसीए किंवि णिमित्तमवेक्खिअ मम हत्थे णासीकिदो। जं खत्तिअस्स कुलीणस्स जादकम्मादिविहाणं तं से तत्तभवदा चवणेण सव्वं अणुट्ठिदम्। गिहीदविज्जो धणुव्वेदे अ विणीदो।)

शृणोतु महाराजः। एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एवोर्वश्या किमपि निमित्तमपेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृतः। यत्क्षत्रियस्य कुलीनस्य जातकर्मादिविधानं तदस्य तत्रभवता च्यवनेन सर्वमनुष्ठितम्। गृहीतविद्यो धनुर्वेदे च विनीतः। (१७)

कुमार—(स्पर्श को मालूम कर, मन ही मन।)

(१६) अन्वयः—यदीति। अयं मम पिता, अहमस्य सुतः इति श्रुत्वा यदि इदं हार्दम्, तर्हि उत्सङ्ग वृद्धानां गुरुषु कीदृशः स्नेहः भवेत् ?

च० टी०-'अयं मम पिता' 'अहम् अस्य सुतः' इति श्रुत्वा यदि इदं मयानुभूयमानं हार्दम् प्रेम जायते। तदा उत्सङ्ग क्रोड़े वृद्धानां वर्धितानां कुमाराणामितिशेषः। गुरुषु पितृषु कीदृशः स्नेहः भवेत् तु इति विचारयितुमपि न शक्यते इतिभावः। आर्याच्छन्दः।

हि० टी०—'मेरा यह पिता है' और 'मैं इसका पुत्र हूं' इतना सुनने मात्र से जब मुझे अनिर्वचनीय आनन्द होता है, तो न जाने पिता की गोद में बढ़े हुए बालकों के हृदय में कितना आनन्द होता होगा !

राजा—भगवति ! किस प्रयोजन से तुम्हारा यहां आना हुआ ?

(१७) निमित्तमपेक्ष्य कारणं विलोक्य। न्यासीकृतः निक्षिप्तः कुलीनस्य महावंशजस्य। गृहीतविद्यः अधीतविद्यः। विनीतः शिक्षितः।

तापसी—महाराज ! सुनिये, इस चिरञ्जीवी आयुष कुमार को जन्म लेते ही उर्वशी किसी कारण से मेरे हाथ सौंप गई थी कुलीन क्षत्रिय के जो जातकर्मादि संस्कार होने चाहियें वे भगवान् च्यवन ने

राजा—**सनाथः खलु संवृत्तः ।** (१८)

तापसी—(अज्ज, फुळ्ळसमिधकुसणिमित्तं इसिकुमारएहिं सह गदेण इमिणा अस्समवासविरुद्धं समाअरिदम् ।)

अद्य पुष्पसमित्कुशनिमित्तं ऋषिकुमारकैः सह गतेनानेनाश्रम-वासविरुद्धं समाचरितम् ।

विदूषकः-(कधं विअ ।)

कथमिव ?

तापसी—(गहीदामिसो किल गिद्धो अस्समपादवसिहरे णिलीअमाणो लक्खीकिदो बाणस्स ।)

गृहीतामिषः किल गृध्र आश्रमपादपशिखरे निलीयमानो लक्ष्यी-कृतो बाणस्य ।

राजा-**ततस्ततः ?**

तापसी-(तदो उवलद्धवुत्तन्तेण भअवदा चवणेण अहं समादिट्ठा णिज्जादेहि एदं उव्वसीहत्थे णासं त्ति । ता उव्वसीं पेक्खिदुं इच्छामि ।)

तत उपलब्धवृत्तान्तेन भगवता च्यवनेनाहं समादिष्टा निर्या-तयैनमुर्वशीहस्ते न्यासमिति । तदुर्वशीं प्रेक्षितुमिच्छामि । (१९)

इस के, अपने हाथ से किये हैं । अब यह वेदादि विद्याओं को पढ़ चुका है और धनुर्वेद में भी शिक्षित है ।

(१८) सनाथः ससहायः । राजा राजपुत्रो वा, अयं शब्दः द्वयोरपि विशेषणं भवितुमर्हति ।

राजा—*अब मुझे (या राजकुमार को) सहारा हो गया है ।*

तापसी—*राजन् ! आज यह फूल, समिधा और कुशा लेने के लिये राजकुमारों के साथ गया था, वहां गये हुए इस ने आश्रम के विरुद्ध आचरण किया ।*

विदूषक—*किस प्रकार ?*

तापसी—*एक गीध मांस के टुकड़े को लेकर आश्रम के पेड़ की चोटी में बैठा ही था कि इस ने बाण से मार डाला ।*

राजा—*हां, इस के बाद फिर ?*

(१९) निर्यातनं न्यासप्रत्यर्पणम् । "दाने न्यासार्पणे वैरशुद्धौ निर्यातनं मतम्" इति मुक्तावली । न्यासः निक्षेपः ।

राजा—तेन ह्यासनमनुगृह्णातु भगवती ।
(प्रेष्योपनीतयोरासनयोरुपविष्टौ ।)

राजा–तालव्य, आहूयतामुर्वशी ।

कञ्चुकी–यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा–(कुमारमवलोक्य ।) एह्येहि वत्स !

सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेन मामुपनतेन ।
आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव ॥ (२०)

तापसी–इस के बाद इस वृत्तान्त को सुन कर भगवान् च्यवन ने मुझे आज्ञा दी कि-इस उर्वशी की धरोहर को उस के हाथ में सौंप आ । सो मैं उर्वशी को देखना चाहती हूं ।

राजा–इस लिये (उर्वशी के आने तक) आप आसन ग्रहण करें।
(नौकर के लाये हुए आसनों में दोनों बैठ जाते हैं ।)

राजा–तालव्य ! उर्वशी को बुलाओ ।

कञ्चुकी—बहुत अच्छा, महाराज ! (यह कह कर चला गया)

राजा–(मार को देखकर) आओ, बेटा ! मेरे पास आओ।

(२०) अन्वयः—सर्वाङ्गीण इति । सुतस्य स्पर्शः सर्वाङ्गीणः किल, उपनतेन तेन चन्द्रकरः चन्द्रकान्तमिव मां तावत् आल्हादयस्व ।

च० टी०—सुतस्य पुत्रस्य स्पर्शः सर्वाङ्गीणः सर्वाङ्गव्यापी किलेति ऐतिह्ये, उपनतेन प्राप्तेन तेन स्पर्शेन चन्द्रकरः चन्द्ररश्मिः चन्द्रकान्तमिव मां पुरूरवसम् आल्हादयस्व प्रीणस्व । यथा–चन्द्रकान्तः चन्द्रकरस्पर्शेन द्रावितो भवति तथैव मामपि कुर्वित्यर्थः । उपमालंकारः । आर्याच्छन्दः ।

हि० टी०-पुत्र का स्पर्श सर्वाङ्गव्यापी होता है, ऐसा सुना जाता है। हे पुत्र ! इस लिये प्राप्त हुए अपने इस स्पर्श (आलिङ्गन) से तुम मुझे आनन्दित करो, जैसे चन्द्रमा की किरण अपने स्पर्श से चन्द्रकान्त मणि को आनन्दित (द्रुत) करती है । चन्द्रकान्त का स्वभाव है कि उस से चन्द्रकिरण का सम्बन्ध होते ही जल निकलने लगता है ।

तापसी—(जाद, णन्देहि पिदरम् ।)

जात ! नन्दय पितरम् । (कुमारो राजानमुप सर्पति ।)

राजा—(आलिङ्गय) **वत्स ! प्रियसखं ब्राह्मणमशङ्कितो वन्दस्व ।**

विदूषकः—(किं ति सङ्किस्सादि । णं अस्समवासपरिचिदो एव्व साहामिओ)

किमिति शङ्किष्यते । नन्वाश्रमवासपरिचित एव शाखामृगः ।(२१)

कुमारः—(सस्मितम्) **तात ! वन्दे ।**

विदूषकः—(सोत्थि भवदो । वड्ढदु भवम् ।)

स्वस्ति भवते । वर्धतां भवान् ।

(ततः प्रविशत्युर्वशी कञ्चुकी च ।)

कञ्चुकी—**इत इतो देवी ।**

उर्वशी—[(**प्रविश्यावलोक्य च ।**) कोणु क्खु एसो कणअपीठोवविट्ठो

तापसी—*बेटा ! अपने पिता को प्रसन्न करो ।*

(कुमार राजा के पास जाता है ।)

राजा—**(आलिङ्गन करके)** *वत्स ! प्रिय सुहृद् इस ब्राह्मण (विदूषक) को निर्भय होकर नमस्कार करो ।*

(२१) आश्रमवाससमयेऽनेन वानरः दृष्टएव, तदद्य मामालोक्य कथं शङ्किष्यते ? येन हिवानरः पूर्वं दृष्ट एव तस्य किं मादृशमानुषदर्शनेन भयमुत्पत्स्यते ? नैतदुचितमितिभावः ।

विदूषक—*यह क्यों शंका करेगा ? भला आश्रम में वास करते हुए बानर तो इस का परिचित है ही । अर्थात्—मैं बानर की तरह हूं, और जब इस ने आश्रम में बानर देखा हुआ है तो मुझ से व्यर्थ शंका इसे नहीं करनी चाहिये ।*

कुमार—**(हंसी के साथ)** *तात ! मैं आपको नमस्कार करता हूं ।*

विदूषक—*तेरा कल्याण हो ! तेरी आयु बढ़े !*

(इस के बाद उर्वशी और कञ्चुकी प्रवेश करते हैं ।)

कञ्चुकी—*महारानी ! इधर आइये, इधर आइये ।*

महाराएण सज्जीअमाणसिहण्डो चिट्ठादि। (तापसीं दृष्ट्वा) अम्महे, सच्चवदीसहिदो पुत्तओ मे आऊ महन्तो क्खु संवुत्तो।]

को नु खल्वेष कनकपीठोपविष्टो महाराजेन सज्ज्यमानशिखण्डस्तिष्ठति। अहो, सत्यवतीसहितः पुत्रको मे आयुः महान्खलु संवृत्तः(२२)

राजा—(विलोक्य) वत्स !

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा।
स्नेहप्रस्रवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम् ॥ (२३)

तापसी—(जाद, एहि। पच्चुपगच्छ मादरम्।)

जात, एहि। प्रत्युपगच्छ मातरम्।

---

(२२) कनकपीठोपविष्टः सुवर्णस्यासनोपरि स्थितः। सज्ज्यमानः शोभ्यमानः शिखण्डश्चूडा यस्य सः –"शिखण्डोवर्हचूड़योः" इति मुक्तावली।

उर्वशी–(प्रवेशकर और देखकर) यह सोने के आसन के ऊपर कौन बैठा होगा जिसके बाल महाराज ने हाथों से संवारे हैं। (तापसी को देखकर) अहो ! सत्यवती के साथ मेरा पुत्र आयु है, यह तो बड़ा होगया है !

राजा–(देखकर) वत्स !

(२३) अन्वयः—इयमिति। वत्स ! त्वदालोकनतत्परा स्नेहप्रस्रवनिर्भिन्नम् स्तनांशुकम् उद्वहन्ती इयं ते जननी प्राप्ता।

च० टी०— वत्स ! त्वदालोकनतत्परा त्वद्दर्शनसंलग्ना, स्नेहेन प्रेम्णा प्रस्रवः दुग्धक्षरणं तेन निर्भिन्नं–नितरां भिन्नं संगतम्–आर्द्रीभूतमितियावत्, स्तनांशुकम् स्तनवस्त्रम् उद्वहन्ती धारयन्ती इयं ते तव जननी माता (उर्वशी) प्राप्ता। सुतदर्शनात् मातुःस्तनाभ्यां दुग्धक्षरणस्वभावेन स्वभावोक्त्यलंकारः। अनुष्टुप् छन्दः।

हि० टी०–वत्स ! तेरी मा उत्सुक होकर तुझे देखने को आई है, प्रेम वश इसके स्तनों से जो दूध निकल रहा है उससे इसका वस्त्र भीग गया है।

तापसी–बेटा ! इधर आकर अपनी माता के पास बैठो।

(इति कुमारेण सहोर्वशीमुपसर्पति ।)

उर्वशी—(अज्जे, पादवन्दणं करेमि ।)

आर्ये ! पादवन्दनं करोमि ।

तापसी—(वच्छे, भत्तणो बहुमदा होहि ।)

वत्से ! भर्तुर्बहुमता भव ।

कुमारः—अम्ब ! अभिवादये ।

उर्वशी—[वच्छ ! पिदरं आराधयन्तो होहि । (राजानं प्रति) जेदु जेदु महाराओ ।]

वत्स ! पितरमाराधयन्भव । जयतु जयतु महाराजः ।

राजा—स्वागतं पुत्रवत्यै । इत आस्यताम् ।

उर्वशी-(अज्जा उवविसध ।)

आर्याः ! उपविशत । (सर्वे यथोचितमुपविष्टाः ।)

तापसी—(वच्छे, गिहीदविज्जो आऊ संपदं कवचारुहो संवुत्तो । एसो भत्तणो समक्खं णिज्जादिदो सहिहत्थणिक्खेवो । ता तुम्हेहिं विसज्जिदं अत्ताणं इच्छामि । उवरुज्झइ मे अस्समधम्मो ।)

वत्से ! गृहीतविद्य आयुः सांप्रतं कवचार्हः संवृत्तः । एष भर्तुः समक्षं निर्यातितः सखीहस्तनिक्षेपः । तद्युष्माभिर्विसर्जितमात्मानमिच्छामि । उपरुध्यते मे आश्रमधर्मः । (२४)

(तापसी यह कह कर कुमार के साथ उर्वशी के पास जाती है ।)

उर्वशी—*माता ! तुम्हारे चरणों में मेरा नमस्कार हो ।*

तापसी—*बेटी ! अपने पति की प्यारी हो ।*

कुमार—*माता ! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूं ।*

उर्वशी—*बेटा ! पिता में तेरी भक्ति हो ।* (राजा की ओर) *जय हो, माहारज की जय हो !*

राजा—*पुत्रवति ! मैं तेरा स्वागत करता हूं । आओ, यहां बैठो ।*

उर्वशी—*आर्य ! सब बैठ जाइये ।*

(सब उचित २ स्थानों पर बैठ जाते हैं)

(२४) विसर्जितं प्रेषितम्, भवतोऽनुज्ञया वनं प्रति गन्तुमिच्छामीत्यर्थः । उपरुध्यते विघ्नितो भवति ।

उर्वशी—(कामं चिरस्स अज्ज उत्तं पेक्खिअ अवहिदहिअएण जुज्जदि पुणो अस्समधम्मं विभाविदुम् । ता गच्छदु अज्जा पुणोदंसणाअ ।)

कामं चिरस्यार्यपुत्रं प्रेक्ष्यावहितहृदयेन युज्यते पुनराश्रमधर्मं विभावयितुम् । तद्गच्छत्वार्या पुनर्दर्शनाय ।

राजा—**आर्ये, तत्र भवते च्यवनाय मम प्रणाममावेदयिष्यसि ।**

तापसी—(एव्वं भोदु ।)

एवं भवतु ।

कुमारः—**आर्ये, सत्यमेव निवर्तनम् । इतो मामपि नेतुमर्हसि ।**

राजा—**अयि वत्स, उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे । द्वितीयमध्यासितुं तव समयः ।**

तापसी—(जाद, गुरुणो वअणं अणुचिट्ठ ।)

जात ! गुरोर्वचनमनुतिष्ठ ।

तापसी—*उर्वशि ! तेरा पुत्र आयु सब विद्याओं को पढ़ चुका है और अब कवच धारण के योग्य (युवक) हो गया है । तेरे पति के सामने मैंने तेरी इस धरोहर को सौंप दिया है । अब मैं तुम से विदा होना चाहती हूं मेरे यहां रहने से आश्रम धर्म में विघ्न होगा ।*

उर्वशी—*आर्ये ! चिरकाल के अनन्तर महाराज का दर्शन करके आपका हृदय स्वस्थ होगया है, अतः अब आश्रम धर्म का अनुष्ठान करना ठीक ही है । इसलिये अब आप जावें मगर फिर दर्शन अवश्य देना ।*

राजा—*भगवति ! पूज्य च्यवन महाराज को मेरी ओर से प्रणाम कहना ।*

तापसी—*बहुत अच्छा ।*

कुमार—*आर्ये ! यदि सचमुच ही तुम जा रही हो, तो यहां से मुझे भी आश्रम में ले चलो ।*

राजा—*हे पुत्र ! तूने ब्रह्मचर्याश्रम को तो समाप्त कर लिया, अब तेरा गृहस्थाश्रम का समय है ।*

तापसी—*बेटा ! पिता की आज्ञा को मानो ।*

कुमारः—तेन हि—

यः सुप्तवान्मदङ्के शिखण्डकण्डूयनोपलब्धसुखः ।
तं मे जातकलापं प्रेषय शितिकण्ठकं शिखिनम् ॥ (२५)

तापसी—(एव्वं करेमि ।)

एवं करोमि ।

उर्वशी—(भअवदि, पादवन्दणं करेमि ।)

भगवति, पादवन्दनं करोमि ।

राजा—**भगवति ! प्रणमामि ।**

तापसी—(सोत्थि भोदु तुम्हाणम् ।) (इति निष्क्रान्ता ।)

स्वस्ति भवतु युष्मभ्यम् ।

कुमार—*तो इस लिये*—

(२५) **अन्वयः**—यः सुप्तवानिति । यः शिखण्डकण्डूयनोपलब्धसुखः (सन्) मदङ्के सुप्तवान्, जातकलापं तं मे शितिकण्ठकं शिखिनं प्रेषय ।

च० टी०—**यः शिखण्डकण्डूयनेन शिखण्डखर्जनेन उपलब्धं प्राप्तं सुखं येन तथा भूतः सन् मदङ्के सुप्तवान् निद्रां लेभे जातकलापम् उद्गतपिच्छभारं तं मे शितिकण्ठकं नीलग्रीवं तन्नामानं वा शिखिनं मयूरं प्रेषय । शितिकण्ठक इत्यत्र अनुकम्पायां कन् । "कलापः संहते बर्हे काञ्च्यादौ तृणवृन्दयोः" इति कोषः । आर्या वृत्तम् ।**

हि० टी०—*जो शिखण्ड (कलगी) को खुजलाते समय आनन्द-मग्न होकर मेरी गोद में सोया करता है, और जिसके बर्ह (पूंछ के लम्बे २ पङ्ख) भी निकल आए हैं, उस मेरे दयनीय नीलकण्ठ मोर को भेज देना ।*

तापसी—*बेटा ! यही करूंगी ।*

उर्वशी—*भगवति ! मैं आपके चरणों को नमस्कार करती हूं ।*

राजा—*भगवति ! मैं प्रणाम करता हूं ।*

तापसी—*तुम सब का कल्याण हो ।* (**यह कह कर चली गई ।**)

राजा—सुन्दरि !

अद्याहं पुत्रिणामग्र्यः सुपुत्रेण तवामुना ।
पौलोमीसंभवेनेव जयन्तेन पुरन्दरः ॥ (२६)

(उर्वशी स्मृत्वा रोदिति ।)

विदूषकः—(किं णु क्खु संपदं अत्तभोदी अस्सुमुही संवुत्ता ।)
किं नु खलु सांप्रतमत्रभवत्यश्रुमुखी संवृत्ता ।

राजा—(सावेगम्)

किं सुन्दरि प्ररुदितासि ममोपनीते वंशस्थितेरधिगमात्स्फुरतिप्रमोदे ।
पीनस्तनोपरिनिपातिभिरर्पयन्ती मुक्तावलीविरचनां पुनरुक्तमस्रैः २७

राजा–सुन्दरि !

(२६) अन्वयः—अद्याहमिति । पौलोमीसंभवेन जयन्तेन पुरन्दर इव अद्याहं तव अमुना सुपुत्रेण पुत्रिणामग्र्यः अस्मि ।

च० टी०—पौलोमीसंभवेन शचीसंजातेन जयन्तेन इन्द्रसुतेन पुरन्दरः इन्द्रः इव, तव अमुना सुपुत्रेण पुत्रिणां पुत्रवताम् अग्र्यः श्रेष्ठः अस्मि । उपमालंकारः । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०–जिस प्रकार शची से उत्पन्न जयन्तनामक पुत्र से इन्द्र पुत्रवानों में श्रेष्ठ है उसी प्रकार मैं भी तेरे इस पुत्र से पुत्रवालों में श्रेष्ठ हूं ।

(उर्वशी याद करके रोती है ।)

विदूषक—अरे ! अब क्यों श्रीमती रोने लगी हैं ?

राजा—[आवेग (चित्त के वेग) के साथ]

(२७) अन्वयः–किमिति । हे सुन्दरि ! वंशस्थितेः अधिगमात् मम स्फुरति प्रमोदे उपनीते सति पीनस्तनोपरिनिपातिभिः अस्रैः पुनरुक्तम् मुक्तावलीविरचनां अर्पयन्ती किं प्ररुदितासि ?

च० टी०–हे सुन्दरि ! वंशस्य कुलस्य स्थितिः अवस्थानं यस्मात्तादृशस्य सुतस्य अधिगमात्प्राप्तेः कुलावस्थानप्राप्तेर्वा मम स्फुरति प्रकाशमाने (महति इति पाठे तु–उद्दामे) प्रमोदे संतोषे उपनीते कृते सति पीनस्तनोपरि निपातिभिः अस्रैः अश्रुभिः पुनरुक्तं यथास्यात्तथा

उर्वशी—(सुणादु महाराआ। पढ़मं उण पुत्तदंसणसमुत्थिदेण आणन्देण विसुमरिदम्हि। दाणीं महिन्दसंकित्तणेण मम हिअए ट्ठिदं समएण।)

श्रृणोतु महाराजः। प्रथमं पुनः पुत्रदर्शनसमुत्थितेनानन्देन विस्मृतास्मि। इदानीं महेन्द्रसंकीर्तनेन मम हृदये स्थितं समयेन।

राजा—**कथ्यतां समयः ?**

उर्वशी-(अहं पुरा महाराअगहिदहिअआ गुरुसावसंमूढ़ा महिन्देण अवधीकदुअ अब्भणुण्णादा।)

अहं पुरा महाराजगृहीतहृदया गुरुशापसंमूढा महेन्द्रेणावधीकृत्याभ्यनुज्ञाता।

मुक्तावलीविरचनां मुक्तापंक्तिनिर्माणं अर्पयन्ती कुर्वती, मुक्ताफलसदृशानि अश्रूणि पातयन्तीत्यर्थः, किं प्ररुदितासि ? किमर्थं रोदितुमारब्धा, आदि कर्मणि क्तः। इदानीं तु पुत्रलाभानन्दावसरे त्वया आनन्दः प्रकटितव्यः, न शोकः इतिभावः।

हि० टी०—*हे सुन्दरि ! वंश के स्थिति रूप पुत्र के समागम से उत्पन्न हर्ष के प्रकाशमान होने पर तुम क्यों रोती हो। तुम्हारे नेत्रों से गिरते हुए आंसू उन्नत स्तनों के ऊपर इस प्रकार लहरा रहे हैं, जिस प्रकार उन के ऊपर एक और मोतियों की माला पड़ी हो।*

उर्वशी—*महाराज ! सुनिये। पाहिले तो मैं पुत्र का दर्शन कर के आनन्द में अपने आप को विह्वल हो भूल गई थी। अब (जयन्तेन पुरन्दरः इस पद्य में) इन्द्र का नाम लेने से मुझे उस से की हुई प्रतिज्ञा याद आगई है।*

राजा—*कहो तो सही वह कौन सी प्रतिज्ञा है।*

उर्वशी—*महाराज ! पहिले पहल जब आपने मेरा हृदय चुरा लिया था उस समय बड़े भयंकर शाप के कारण जब मैं किं कर्तव्य बिमूढ हो गई तो, महाराज इन्द्र ने कुछ समय की अवधि करके मुझे (आपके साथ रहने की) अनुमति देदी।*

राजा—किमिति ?

उर्वशी-(जदा मम सो पिअवअस्सो तुइ समुप्पण्णदस्स मुहं पेक्खदि तदा मम समीवं तुए आअन्तव्वं त्ति। तदो मए महाराअविओअभीरुदाए जादमेत्तो एव्व विज्जागमणिनित्तं अ भअवदो चवणस्स अस्समपदे एसो पुत्तओ अज्जाए सच्चवदीए हत्थे आप्पणा णिक्खित्तो। अज्ज उण पिदुणो आराहणसमत्थो संवुत्तो त्ति काउण णिज्जादिदो एसो दीहाऊ आऊ। एत्तिको मे महाराएण सह संवासो।)

यदा मम स प्रियवयस्यस्त्वयि समुत्पन्नसुतस्य मुखं प्रेक्षते तदा मम समीपं त्वयागन्तव्यमिति। ततो मया महाराजवियोगभीरुतया जातमात्र एव विद्यागमनिमित्तं च भगवतश्च्यवनस्याश्रमपद एष पुत्रक आर्यायाः सत्यवत्या हस्त आत्मना निक्षिप्तः। अद्य पुनः पितुराराधनसमर्थः संवृत्त इति कृत्वा निर्यातित एष दीर्घायुरायुः। एतावान्मम महाराजेन सह संवासः।

(सर्वे विषादं नाटयन्ति। राजामोहमुपगच्छति।)

सर्वे—(समस्ससदु समस्ससदु महाराओ।)

समाश्वसितु समाश्वसितु महाराजः।

राजा—*वह अवधि क्या है ?*

उर्वशी—*"जब मेरे परमप्रिय मित्र महाराज पुरूरवा तेरे गर्भ से उत्पन्न पुत्र का मुख देख लेंगे उस समय तुझे मेरे पास आजाना चाहिये"। इस के अनन्तर मैंने इस भय से कि आपसे वियोग न होजाय, उत्पन्न होते ही इस (आयु को) विद्याध्ययन के लिये भगवान् च्यवन ऋषि के आश्रम में अपने आप पूजनीया सत्यवती के हाथ सौंप दिया था। अब आज यह बालक पिता की सेवा के लिये समर्थ (कार्य संभालने योग्य) होगया है यह सोच कर वह इसे यहां छोड़ गई है। बस अब आपके साथ मेरा इतना ही रहना था।*

(सब खेद को प्रकट करते हैं। राजा मूर्छा को प्राप्त होता है।)

सारे—*धैर्य धारण कीजिये, महाराज ! धैर्य धारण कीजिये।*

कञ्चुकी–समाश्वसितु महाराजः।

विदूषकः—(अव्बम्हण्णं अव्बम्हण्णम् ।)

अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम्।

राजा—(समाश्वस्य) अहो ! सुखप्रत्यर्थिता दैवस्य। (२८)

आश्वासितस्य मम नाम सुतोपलब्ध्या
सद्यस्त्वया सह कृशोदरि विप्रयोगः।
व्यावर्तितातपरुजः प्रथमाभ्रवृष्ट्या
वृक्षस्य वैद्युत इवाग्निरुपस्थितोऽयम् ॥ (२९)

कञ्चुकी—*महाराज ! धीरज धरिये।*

विदूषक—*अहो, अनर्थ होगया ! अनर्थ होगया !!*

राजा—(एक ठंडी सांस लेकर) *आह ! दैव किसी के सुख को सहन नहीं करता।*

(२८) सुखप्रत्यर्थिता सुखविरोधिता। "प्रतिरोधिपरास्कन्दिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः" इति कोषः।

(२९) अन्वयः—आश्वासितस्येति। हे कृशोदरि ! सुतोपलब्ध्या नाम आश्वासितस्य मम सद्यः त्वया सह अयं विप्रयोगः, प्रथमाभ्रवृष्ट्या व्यावर्तितातपरुजः वृक्षस्य वैद्युतः अग्निः इव उपस्थितः।

च०टी०–हे कृशोदरि ! सुतोपलब्ध्या पुत्रप्राप्त्या नामेति प्रकाशे आश्वासितस्य कृतसमाधानस्य मम पुरूरवसः सद्यः शीघ्रमेव त्वया सह अयं विप्रयोगः वियोगः, प्रथमाभ्रवृष्ट्या नूतनमेघवर्षेण, व्यावर्तिता दूरीकृता आतपरुक् ग्रीष्मपीड़ा यस्य वृक्षस्य विद्युत्सम्बन्धी अग्निरिव उपस्थितः प्राप्तः। "नाम प्रकाश्यसंभाव्यक्रोधोपगमकुत्सने" इति कोषः। "अभ्रं मेघोवारिवाहः" इत्यमरः। वसन्ततिलका वृत्तम्।

हि० टी०–हे कृशोदरि ! *पुत्र की प्राप्ति से संतुष्ट मेरे लिये अति शीघ्र प्राप्त हुआ यह तेरा वियोग ऐसा है जैसे कि किसी वृक्ष के लिये प्रथम वृष्टि से ग्रीष्म बाधा शान्त होने पर तत्काल ही वज्रपात उपस्थित हो।*

विदूषकः—(अअं सो अत्थो अणत्थाणुबन्धीत्ति तक्कमि तत्तभवदा वक्कलं गेण्हिअ तवोवणं गन्तव्वं त्ति ।)

अयं सोऽर्थोऽनर्थानुबन्धीति तर्कयामि तत्र भवता वल्कलं गृहीत्वा तपोवनं गन्तव्यमिति ।

उर्वशी—(हा ! हदम्हि मन्दभाआ । मंवि किदविणअस्स पुत्तअस्स लम्भाणन्तरं सग्गारोहणेण अवसिदकज्जां विप्पओअमुहीं महाराओ समत्थइस्सदि ।

हा! हतास्मि मन्दभाग्या । मामपि कृतविनयस्य पुत्रकस्य लभानन्तरं स्वर्गारोहणेनावसितकार्यां विप्रयोगमुखीं महाराजः समर्थयिष्यति ।

राजा—सुन्दरि ! मा मैवम् ।

नहि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि
प्रभवति परवत्ता शासने तिष्ठ भर्तुः ।
अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य राज्यं
विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि ॥ (३०)

विदूषक—*मित्र ! यह वियोग मेरे विचार में किसी और दुःख को लावेगा, इसलिये आपको बल्कल पहन कर तप करने के लिये तपोवन में चला जाना चाहिये । अर्थात् दुःख में दुःख आते हैं, इस लिये आपको इस दुःखमय गृहस्थाश्रम को छोड़ तपोवन जाना चाहिये।*

उर्वशी—*हा ! मैं मन्दभागिनी मारी गई हूं । महाराज ! शिक्षित पुत्र के प्राप्त होने पर और मेरे कार्य समाप्त कर स्वर्ग जाने के बाद आप मुझ वियोगिनी को भी सहारा देते रहेंगे ।*

राजा—*सुन्दरि ! ऐसा मत कहो ।*

(३०) अन्वयः—नहीति । हि सुलभवियोगा परवत्ता आत्मप्रियाणि कर्तुं न प्रभवति, (अतः) भर्तुः शासने तिष्ठ, अद्य अहमपि राज्यं तव सूनौ विन्यस्य विचरितमृगयूथानि वनानि आश्रयिष्ये।

च० टी०–हीति निश्चयेन सुलभवियोगा सुलभः सुप्रापः वियोगः विरहः यस्यां सा, परवत्ता पराधीनता आत्मप्रियाणि आत्मनः स्वस्य

कुमारः–नार्हति तातो नृपपुंगवधारितायां दम्यं नियोजयितुम्।
राजा—अयि वत्स! मा मैवम्।

शमयति गजानन्यान्गन्धद्विपः कलभोऽपि स-
न्प्रभवतितरां वेगोदग्रं भुजङ्गशिशोर्विषम् ।
भुवमधिपतिर्बालावस्थोऽप्यलं परिरक्षितुं
न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो गणः ।। (३१)

प्रियाणि अभिलषितानि कर्तुं न प्रभवति, अतः भर्तुः इन्द्रस्य शासने आज्ञायां तिष्ठ, अद्य अहमपि राज्यं प्रजापालनरूपं तव सूनौ पुत्रे विन्यस्य समर्प्य, विचरितानि कृतगमनानि मृगयूथानि मृगसमूहाः येषु तानि वनानि काननानि आश्रयिष्ये, वनेषु गमिष्यामीत्यर्थः । "परतन्त्रः पराधीनः परवान्" इत्यमरः । "सूनुः पुत्रेऽनुजे रवौ" इति कोषः । मालिनीच्छन्दः ।

हि० टी०—*हे सुन्दरि ! परतन्त्रता (मनुष्य को) मन चाहा कार्य नहीं करने देती, क्योंकि परतन्त्रता में (अभिलषित वस्तु का) वियोग होना सुलभ है । इसलिये तू भी अब इन्द्र की सेवा में जा, और मैं भी आज तेरे पुत्र आयु को राज्य देकर उन वनों में जाऊंगा जहां मृगों के झुंड के झुंड फिरते रहते हैं ।*

कुमार—*पिता जी ! बड़े २ राजाओं से पालन करने योग्य पृथ्वी को पालन करने में मेरे जैसे एक छोटे से बालक को नियुक्त करना आपके लिये उचित नहीं है ।*

राजा—*हे पुत्र ! ऐसा मत कहो ।*

(३१) अन्वयः— शमयतीति । गन्धद्विपः कलभोऽपि सन् अन्यान्गजान् शमयति, भुजङ्गशिशोः वेगोदग्रं विषं प्रभवतितराम्, बालावस्थः अपि अधिपतिः भुवं परिरक्षितुम् अलम् खलु, अयं गणः वयसा स्वकार्यसहो न, किं तु जात्यैव ।

च० टी०–गन्धद्विपः* गन्धराजः कलभः बालोऽपि सन् अन्यान्

---

* गन्धगजलक्षणं च–"यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपाः ।
स वै गन्धगजो नाम नृपतेर्विजावहः" ।।

आर्य तालव्य !

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः ।

राजा-मद्वचनादमात्यपर्वतं ब्रूहि-'संभ्रियतामायुष्मतो राज्याभिषेकः'।

गजान् शमयति परिभवति निवारयतीति यावत्, भुजङ्गशिशोः सर्पशिशोः वेगोदग्रं वेगेन धातोर्धात्वन्तरप्राप्तितयेति विषवेगेन† उदग्रं क्रूरम् विषं गरलम् प्रभवतितराम् मारणसमर्थं भवति, बालावस्थः अपि अधिपतिः राजा भुवं पृथिवीं परिरक्षितुं शासितुमलं समर्थः खलु, अयं गणः गन्धगजादिसमुदायः वयसा-तारुण्यादिना न परंतु जात्यैव प्रकृत्यैव स्वकार्यकरणसमर्थः इत्यर्थः । गुण इति पाठे तु अयं (गन्धगजादीनाम्) स्वकार्यसहो गुणः, न खलु वयसा उत्पद्यते, अपि तु जात्यैव, जन्मसिद्ध इति यावत् इति व्याख्यातव्यम् । हरिणीवृत्तम् ।

हि० टी०—*बेटा ! गन्धगज चाहे बच्चा भी हो फिर भी दूसरे हाथियों को दूर भगा देता है; रस रुधिरादि शरीर के सप्त धातुओं में अति शीघ्र फैलने के कारण भयङ्कर सांप के बच्चे का विष भी मार डालने की शक्ति रखता है; इसी प्रकार राजा यद्यपि बालक ही क्यों न हो तथापि भूमण्डल का शासन कर सकता है, अपना कार्य करने का यह सामर्थ्य गन्धगजादिकों में किसी खास अवस्था के कारण नहीं, किन्तु स्वाभाविक है ।*

आर्य तालव्य !

कञ्चुकी—*महाराज ! आज्ञा कीजिये ।*

राजा—*मेरी ओर से पर्वत मन्त्रि से कहो कि—"आयु कुमार के राजतिलक की सामग्री एकत्रित करो" ।*

---

† विषवेगलक्षणं तु—"धातोर्धात्वन्तरप्राप्तिर्विषवेग इति स्मृतः" इति ।

सप्तधातवः—"रसासृङ्मांसमेदोस्थिमज्जशुक्राणि धातवः" इत्युक्तं वाग्भट्टादौ ।

सप्तविषवेगानां लक्षणानि विषतन्त्रे—"वेगो रोमाञ्चमाद्यो रचयति विषजः स्वेदवक्त्रोपशोषौ।

तस्योर्ध्वस्तत्परौ द्वौ वपुषि जनयतो वर्णभेदप्रवेपौ ॥

यो वेगः पञ्चमोऽसौ नयनविवशतां कण्ठभङ्गं चाहिक्कां

षष्ठो निश्वासमोहौ वितरति च मृतिं सप्तमो क्षभकस्य" ॥

(कञ्चुकी दुःखेन निष्क्रान्तः । सर्वे दृष्टिविघातं रूपयन्ति ।)

राजा—(आकाशमवलोक्य ।) कुतो नु खलु भो विद्युत्संपातः ? (निपुणमवलोक्य) अये ! भगवान्नारदः ।

गोरोचनानिकषपिंगजटाकलापः
संलक्ष्यते शशिकलामलवीतसूत्रः ।
मुक्तागुणातिशयसंभृतमण्डनश्री-
र्हैमप्ररोह इव जंगमकल्पवृक्षः ॥ (३२)

अर्घोऽर्घस्तावत् ।

(कञ्चुकी दुःख के साथ चला गया । सारे नजर फेर देते हैं ।)

राजा—(आकाश की ओर देखकर) *अरे ! बिजली कहां से गिर रही है ।* (अच्छी तरह देखकर) *अरे ! वे तो भगवान् नारद हैं ।*

(३२) अन्वयः—गोरोचनेति । गोरोचनानिकषपिङ्गजटाकलापः शशिकलामलवीतसूत्रः मुक्तागुणातिशयसंभृतमण्डनश्रीः हैमप्ररोहः जङ्गमकल्पवृक्षः इव संलक्ष्यते ।

च० टी०—गोरोचनायाः निकषः कषपाषाणः लक्षणया निकषोपरिपतितरेखा तद्वत्पिङ्गः पीतवर्णो जटाकलापः जटासमूहो यस्य सः, शशिकलावत् अमलं शुभ्रं वीतसूत्रं यज्ञोपवीतं यस्य सः, मुक्तागुणैः मुक्ताहारैः अतिशयेन अत्यन्तं संभृता कृता अत्यन्तं वर्धिता इतियावत् मण्डनश्रीः भूषणशोभा यस्य सः, तथा हैमाः हेमसम्बन्धिनः सौवर्णाः इत्यर्थः, प्ररोहाः निजजटाः यस्यैतादृशो जङ्गमः गमनशीलः कल्पवृक्षः इव संलक्ष्यते विलोक्यते, नारदः इति शेषः । वसन्ततिलकाच्छन्दः ।

हि० टी०—*भगवान् नारद का जटाकलाप कसौटी पर गोरोचन की रेखा की तरह पीला है, चन्द्रमा की कला के समान शुभ्र उन का यज्ञोपवीत है, इस लिये वे (नारद जी) उस चलते फिरते कल्प वृक्ष के समान प्रतीत होते हैं, जो मोतियों की लड़ियों से सुशोभित हो, और सोने की जिन की जटा हो ।*

पहिले अर्घ लाओ ! अर्घ लाओ !!

उर्वशी—(अअं भअवदो अग्घो ।)

अयं भगवतोऽर्घ्यः । (ततः प्रविशति नारदः ।)

नारदः—विजयतां विजयतां मध्यमलोकपालः ।

राजा—भगवन् ! अभिवादये ।

उर्वशी—(भअवं पणमामि ।)

भगवन् ! प्रणमामि ।

नारदः—अविरहितौ दम्पती भूयास्ताम् ।

राजा—(आत्मगतम्) अपि नामैवं स्यात् (प्रकाशम् । कुमारमाश्लिष्य ।) वत्स, भगवन्तमभिवादयस्व ।

कुमारः—भगवन् ! और्वशेय आयुः प्रणमति ।

नारदः—आयुष्मानेधि ।

राजा—अयं विष्टरोऽनुगृह्यताम् ।

(नारदस्तथोपविष्टः । सर्वे नारदमनूपविशन्ति ।)

राजा—(सविनयम्) भगवन् ! किमागमनप्रयोजनम् ?

उर्वशी—यह भगवान् नारद जी के लिये अर्घ है । (इस के बाद नारद जी प्रवेश करते हैं ।)

नारद—जय हो ! मध्यलोक के रक्षक महाराज की जय हो !!

राजा—भगवन् ! मैं आप को प्रणाम करता हूं ।

उर्वशी—भगवन् ! मैं आप को प्रणाम करती हूं ।

नारद—भगवान् करे तुम दोनों के जोड़ का कभी वियोग न हो ।

राजा—(मन ही मन) क्या ऐसा हो सकता है । (प्रकट में कुमार को छाती से लगा कर) बेटा ! भगवान् नारद जी को प्रणाम कर ।

कुमार—भगवन् ! उर्वशी का पुत्र आयु आपको प्रणाम करता है ।

नारद—पुत्र ! चिरञ्जीव रहो ।

राजा—भगवन् ! यह आसन है, इस पर बैठने की कृपा करें ।

(नारद वैसे ही बैठ जाते हैं । सब उन के बाद बैठ जाते हैं ।

राजा—(विनय के साथ) भगवन् ! आपने आने का कष्ट किस कारण से उठाया ?

नारदः—राजन् ! श्रूयतां महेन्द्रसंदेशः ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

नारदः—प्रभावदर्शी मघवा वनगमनाय कृतबुद्धिं भवन्तमनुशास्ति ।

राजा—किमाज्ञापयति ?

नारदः—त्रिकालदर्शिभिरादिष्टः सुरासुरविमर्दो भावी । भवांश्च सांयुगीनः सहायः । तेन न त्वया शस्त्रन्यासः कर्तव्यः । इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति । (३३)

उर्वशी—[(अपवार्य) सल्लं विअ हिअआदो अवणीदम् ।)

शल्यमिव हृदयादपनीतम् ।

राजा—परमनुगृहीतोऽस्मि परमेश्वरेण ।

नारदः—युक्तम् ।

नारद—*राजन् ! देवराज इन्द्र का संदेशा सुनिये ।*

राजा—*महाराज ! सावधान हूं ।*

नारद—*राजन् देवराज इन्द्र ने अपने दिव्य प्रभाव से तुम्हारा वन जाने का संकल्प जान कर तुम्हें आज्ञा दी है ।*

राजा—*क्या आज्ञा देते हैं ।*

(३३) त्रिकालदर्शिभि. त्रिकालविद्भिः, भावी भविष्यत्, सुरासुराणां देवराक्षनां विमर्दः संग्रामः, आदिष्टः कथितः । संयुगे युद्धे साधुः सांयुगीनः । शस्त्रन्यासः शस्त्रत्यागः, यावदायुः यावज्जीवम् ।

नारद—*त्रिकालदर्शी मुनियों ने कहा है कि देवता और राक्षसों का बड़ा भारी संग्राम होने वाला है । युद्ध में आप हमारे बड़े भारी सहायक हैं, इस लिये आप शस्त्र का त्याग न करें और यह उर्वशी जन्म भर तुम्हारे साथ रहेगी ।*

उर्वशी—(अलग) *इन्होंने तो मेरे हृदय से कांटा सा निकाल दिया है ।*

राजा—*मैं देवराज इन्द्र का बड़ा कृतज्ञ हूं ।*

नारद—*ठीक है ।*

त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्त्वं च तस्येष्टकार्यकृत् ।
सूर्यः संवर्धयत्यग्निमग्निः सूर्यं स्वतेजसा ॥ (३४)

(आकाशमवलोक्य ।) रम्भे ! उपनीयतां मन्त्रेण संभृतः कुमारस्याभिषेकः ।

रम्भा—(अअं से अहिसेअसंभारो ।)

अयमस्याभिषेकसंभारः ।

नारदः—उपवेश्यतामयमायुष्मान्भद्रपीठे । (रम्भा कुमारं भद्रपीठ उपवेशयति ।)

नारदः–(कुमारस्य शिरसि कलशमावर्ज्य ।) रम्भे, निर्वर्त्यतामस्य शेषो विधिः ।

रम्भा—(यथोक्तं निर्वर्त्य) [वच्छ, पणम भअवन्दं पिदरो अ ।]

वत्स ! प्रणम भगवन्तं पितरौ च ।

---

(३४) अन्वयः—त्वदिति । वासवः त्वत्कार्यं कुर्यात् त्वंच तस्य इष्टकार्यकृत् सूर्यः अग्निम् अग्निः च सूर्यं स्वतेजसा संवर्धयति ।

च० टी०-वासवः इन्द्र त्वत् कार्यं तव कार्यं कुर्यात् त्वं च तस्य इष्टानि अभिलषितानि कार्याणि करोति यः तादृशःभव, सूर्यः अग्निम् अग्निश्च सूर्यं स्वतेजसा संवर्धयति। आग्नतेजोहि दिने सूर्यमनुप्राविशति रात्रा सूर्यतेजोऽग्निमिति पौराणी प्रसिद्धिः । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०—राजन् ! तुम इन्द्र का कार्य करते रहो और इन्द्र तुम पर उपकार करते रहें । तुम दोनों एक दूसरे पर इस प्रकार उपकार करते हो जैसे सूर्य अग्नि को तेज देता है और अग्नि सूर्य को चमकाती है । (आकाश की ओर देख कर) रम्भा मन्त्र सहित राजकुमार के तिलक की सामग्री लेआ ।

रम्भा—राजकुमार के तिलक की सामग्री यह है ।

नारद—आयु कुमार को एक अच्छे आसन पर विठाओ ।

(रम्भा कुमार को एक अच्छे आसन पर बिठाती है ।)

नारद—(कुमार के शिर के ऊपर कलश को लेजा कर) रम्भा ! इस की शेष विधि भी समाप्त करो ।

रम्भा—(कथनानुसार कर के) बेटा ! भगवान् नारद को और अपने माता पिता को प्रणाम कर ।

(कुमारः सर्वान्प्रणमति ।)

नारदः—स्वस्ति भवते ।

राजा—कुलधुरंधरो भव ।

उर्वशी—(पिदुणो आराहओ होहि ।)

पितुराराधको भव ।

(नेपथ्ये वैतालिकद्वयम् ।)

प्रथमः—विजयतां युवराजः ।

अमरमुनिरिवात्रिः स्रष्टुरत्रेरिवेन्दु-
बुध इव शिशिरांशोर्बोधनस्येव देवः ।
भव पितुरनुरूपस्त्वं गुणैर्लोककान्तै
रतिशयिनि समस्ता वंश एवाशिषस्ते ॥ (३५)

(राजकुमार सब को प्रणाम करता है ।

नारद—*बेटा ! तेरा कल्याण हो ।*

राजा—*बेटा ! अपने कुल में धुरंधर हो ।*

उर्वशी—*बेटा ! पिता की खूब सेवा करना ।* (नेपथ्य में दो वतालिक)

प्रथम—*युवराज की विजय हो—*

(३५) **अन्वयः**—अमरेति । स्रष्टुः अमरमुनिः अत्रिः इव, शिशिरांशोः बुधः इव, बोधनस्य देवः इव, त्वं लोककान्तैः गुणैः पितुः अनुरूपः भव, अतिशयिनि ते वंशे एव समस्ता आशिषः सन्तीति शेषः ।

च० टी०—स्रष्टुः ब्रह्मणः अमरमुनिः देवमुनिः अत्रिः अत्रिनामकमुनिरिव, अत्रेः ब्रह्मणः सुतस्य इन्दुः चन्द्रः इव, शिशिरांशोः चन्द्रस्य बुधः इव, बोधनस्य बुधस्य देवः राजा पुरूरवाः इत्यर्थः, त्वं लोककान्तैः संसारमनोहरैः गुणैः पितुः पुरूरवसः अनुरूपः योग्यः भव, अतिशयिनि सर्वोत्कर्षशालिनि ते तव वंशे कुले एव समस्ताः आशिषः सन्तीति शेषः । ब्रह्मादिपुरूरवःपर्यन्तेषु पुरुषेषु अखिलपूर्वपूर्वगुणसमूहो यथाभूत्तथा त्वय्यपि भूयादितिभावः। मालिनीच्छन्दः ।

हि० टी०—*जिस प्रकार देवमुनि अत्रि ब्रह्मा के समान हुआ है;*

द्वितीयः-- तव पितरि पुरस्ताद् बद्धभावा स्थितेयं
स्थितिमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्प्यधैर्ये।
अधिकतरमिदानीं राजते राजलक्ष्मी-
र्हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गंगा ॥ (३६)

चन्द्रमा अत्रि मुनि की तरह हुआ है; बुध जिस प्रकार शीतल किरणों वाले चन्द्रमा की तरह गुणवाला हुआ है; और फिर महाराज पुरूरवा भी बुध की तरह जिस प्रकार गुणशाली हुये हैं, उसी प्रकार हे कुमार! तू भी महाराज की तरह तेजस्वी हो; तुम्हारे सर्वोच्च वंश में अच्छे २ ऋषियों के आशीर्वाद प्राप्त हैं।

(३६) अन्वयः—तवेति। इयं राजलक्ष्मीः पुरस्तात् तव पितरि, बद्धभावा स्थिता, इदानीं च स्थितिमति अनाकम्प्यधैर्ये त्वयि विभक्ता सती हिमवति जलधौ च व्यस्ततोया गङ्गा इव अधिकतरं राजते।

च० टी०-इयं राजलक्ष्मीः पुरस्तात् पूर्वम् अस्मिन् तव पितरि पुरूरवसि, बद्धभावा सानुरागा, सती स्थिता इदानीं च स्थितिमति मर्यादायुक्ते अनाकम्प्यधैर्येऽनुच्छेद्यचेतः स्थैर्यशालिनि, त्वयि विभक्ता सती हिमवति हिमालये, जलधौ समुद्रे च व्यस्ततोया गङ्गा इव अधिकतरं राजते शोभते। व्यस्ततोया, १-व्यस्तं-विभक्तं तोयं यस्या-स्तथाभूता, २-यथा-गङ्गा पूर्वं हिमवन्तमधिष्ठाय शोभते तदनु च प्रवहन्ती समुद्रेण संगम्य शोभतेतराम्, एवं राजलक्ष्मीरपि पूर्वं पुरूरवसि स्थिता रराज, इदानीं तु क्रमेण तत् पुत्रमध्यास्य पूर्वतोऽप्य-धिकं राजत इति भावः। क्वचित्तु-प्रथमपादे-'तव पितरि पुरस्ता-दुन्नतानां स्थितेऽस्मिन्, इति पाठोदृश्यते-सोऽपि-'पुरस्तात् उन्नतानां महतां (धुरि) स्थिते अस्मिंस्तव पितरि' इत्येवं कथं चिद् योजयित्वा व्याख्येयः। मालिनी वृत्तम्।

हि० टी०—जिस प्रकार हिमालय से पानी लेकर गङ्गा शोभित होती है उसके बाद फिर बहती हुई समुद्र के साथ मिलकर अधिक

रम्भा—(दिट्ठिआ पिअसही पुत्तअस्स जुवराअसिरीं पेक्खिअ भत्तुणो अविरहेण वड्ढदि ।)

दिष्ट्या प्रियसखी पुत्रकस्य युवराजश्रियं प्रेक्ष्य भर्तुरविरहेण वर्धते ।

उर्वशी–(णं साधारणो ज्जेव एसो अब्भुदओ ।) **[कुमारं हस्ते गृहीत्वा]** (जाद, जेट्ठमादरं वन्देहि ।)

ननु साधारण एवैषोऽभ्युदयः । जात, ज्येष्ठमातरं वन्दस्व ।

राजा—**तिष्ठ । सममेव तत्र भवत्याः समीपं यास्यामस्तावत् ।**

नारदः—**आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते ।**
अभियुक्तं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता ॥ (३७)

राजा—**अनुगृहीतोऽस्मि मघवता ।**

सुशोभित होती है । इसी प्रकार यह राज्यलक्ष्मी महाराज पुरूरवा से धैर्यशाली, मर्यादा युक्त तेरे साथ मिलकर विशेष शोभा को प्राप्त हो रही है ।

रम्भा—*सौभाग्यवश हमारी प्यारी सखी उर्वशी ने अपने पुत्र की युवराज शोभा को देखकर अपने पति के वियोग को अनुभव नहीं किया ।*

उर्वशी—*यह सौभाग्य हमारे लिये निःसन्देह साधारण है ।* **(कुमार को हाथ से पकड़ कर)** *बेटा ! ज्येष्ठ माता को प्रणाम कर ।*

राजा—*बेटा ! ठहर । हम सब साथ ही पूज्य महारानी के पास जायेंगे ।*

(३७) अन्वयः—आयुष इति । ते आत्मजस्य आयुषः यौवराज्यश्रीः मरुत्वता सैनापत्ये अभियुक्तं महासेनं स्मारयति ।

च० टी०—**ते तव आत्मजस्य पुत्रस्य आयुषः आयुर्नामधेयस्य यौवराज्यश्रीः राज्यशोभा मरुत्वता इन्द्रेण सैनापत्ये सेनापतेर्भावः सैनापत्यम् तस्मिन् अभियुक्तं नियोजितं महासेनं कार्तिकेयं स्मारयति स्मृतिगोचरीकरोति । "कार्तिकेयो महासेनः" इत्यमरः । "इन्द्रो मरुत्वान्" इति च । अनुष्टुप् छन्दः ।**

हि० टी०—*तेरे पुत्र आयु की राज्य शोभा, इन्द्र के बनाये हुए सेनापति कार्तिकेय की याद दिलाती है ।*

राजा—*मैं देवराज इन्द्र का कृतज्ञ हूं ।*

नारदः–भो राजन् ! किं ते भूयः प्रियं करोतु पाकशासनः ।

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति । यदि भगवान्पाकशासनः प्रसादं करोतु, ततः— (भरतवाक्यम्)

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।
संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूयादुद्भूतये सताम् ॥ (३८)

(अपि च ।)

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥ (३९)

नारद—*हे राजन् ! देवेन्द्र आपकी इच्छानुकूल और क्या अच्छा काम करें ?*

राजा—*भगवन् ! इससे अधिक और क्या प्रिय वस्तु हो सकती है । मगर, यदि इन्द्र मेरे ऊपर प्रसन्न हों, तो—*

(त्रोट के अन्त में भरत मुनि का वाक्य-)

(३८) **अन्वयः**—परस्परेति । सताम् उद्भूतये परस्परविरोधिन्योः श्रीसरस्वत्योः एकसंश्रयदुर्लभं संगतं भूयात् ।

च० टी–सतां साधूनाम् उद्भूतये उत्कृष्टभूत्यै वृद्धये इतियावत्, परस्परविरोधिन्योः परस्परविरोधवत्योः श्रीसरस्वत्योः लक्ष्मीविद्ययोः एकसंश्रयदुर्लभम् एकाधारनिवासदुष्करं संगतं मिलनं भूयात् । विद्वांसः धनिनः भवन्तु, धनिनश्च विद्वांसः भवन्त्वितिभावः । अनुष्टुप् छन्दः ।

हि० टी०—*सज्जन पुरुषों की वृद्धि के लिये, परस्पर विरोध रखने वाली लक्ष्मी और विद्या, जो कि कभी एक मनुष्य के पास इकट्ठी नहीं रहतीं, दोनों एक ही जगह मिल कर रहें ।*

(और भी)

(३९) **अन्वयः**—सर्व इति । सर्वः दुर्गाणि तरतु, सर्वः भद्राणि पश्यतु, सर्वः कामान् अवाप्नोतु, सर्वत्र सर्वः नन्दतु ।

च० टी०–सर्वः लोकः दुर्गाणि दुःखानि तरतु दुःखं न प्राप्नोतु इत्यर्थः, सर्वः लोकः भद्राणि कल्याणानि पश्यतु, सर्वः लोकः कामान् अभिलाषान् अवाप्नोतु प्राप्नोतु, सर्वत्र सर्वस्मिन्स्थले सर्वस्मिन्काले च सर्वः लोकः नन्दतु आनन्दं प्राप्नोतु । न कोऽपि दुःखभाक् कल्या-

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति कविकुलचूडामणिमहाकविश्रीकालिदासप्रणीते विक्रमोर्वशीये त्रोटके पञ्चमोऽङ्कः समाप्तः ।

णरहितः, अभिलाषहीनः भवत्विति भावः । अनुष्टुप् छन्दः । "स्वश्रेयसंशिवं भद्रं कल्याणम्" इत्यमरः । "कामोऽभिलाषः" इति च ।

हि०टी०—*सारे मनुष्य दुःखों को पार करें, सब कल्याण ही कल्याण देखें । सबकी इच्छायें पूर्ण हों, और सब जगह और हमेशा सब आनन्द को प्राप्त होवें।*

(इस के बाद सब के सब चले गये ।)

टीका कर्तुः परिचयः ।

अभूदपायस्य विधातुराशये स्मृतिस्त्रिलोक्याघमतीव त्रिष्टपे ।
समस्तभूमण्डलमण्डनायिता धरा पवित्रीक्रियते कथं मया ॥१॥
स निर्ममौ नैगमशुद्धचेतसां निवासहेतोः खलु भावितात्मनाम् ।
हिमालयेनावृतविग्रहां भुवं मुनीश्वराणां *गढवाल*संज्ञिकाम् ॥२॥
द्विजोत्तमस्तत्र बभूव धार्मिकः धराधुरीणो *जयराम* नामकः ।
यतः स वेदादिसमस्तशास्त्रवित्ततोऽनुलेभे हि पुरोहिताभिधाम् ॥३
क्षीरार्णवादिव निशाकरसारभूतः गौरीपतेरिव गुणानुगकार्तिकेयः ।
जज्ञे ततो *हृदयराम*गुणाग्रणीर्यः पाण्डित्यमाप निखिलेषु सुतोत्तमेषु॥४
निरन्तराराधितपार्वतीश्वराद् द्विजातिमात्रार्चितपादपङ्कजात् ।
स्वकीर्तिशुक्लीकृतविश्वमण्डलात्ततः सुतश् *चक्रधरो*ऽभ्यजायत ॥५॥
चकार टीकां स धियाल्पया यतः नियोजितश्छात्रगणैरयंजनः ।
क्व कालिदासस्य वचांसि मादृशां क्व चाल्पधीः शीतकरग्रहोत्सुका ।६

सदा *गिरिधरो* देवः *परमेश्वरसन्मतिः* ।
सन्मार्गे मङ्गलं कुर्वं स्तत्र बुद्धिं प्रचोदयात् ॥७॥

इतिश्रीमद्विद्वद्वर पण्डित-हृदयराम-तनय-कविरत्न-चक्रधर 'हंस' प्रणीतायां चन्द्रकलायां पञ्चमकला समाप्ता ।
समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

श्लोक-सूची।

विक्रमोर्वशीय त्रोटक के
छन्दों के लक्षण।

अनुष्टुप्—श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

आर्या—यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथातृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या॥

वंशस्थ—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

वसंततिलका—उक्ता वसंततिलका तभजा जगौगः।

द्रुतबिलम्बित—द्रुतबिलम्बितमाह नभौ भरौ।

इन्द्रवज्रा—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।

उपन्द्रेवज्रा—उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

उपजाति—अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु स्मरन्ति जातिष्विदमेवनाम

मन्दाक्रान्ता—मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौंनतौ ताद्गुरू चेत्।

शिखरिणी—रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी।

मालिनी—ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

हरिणी—रसयुगहयैन्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा।

पृथ्वी—जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।

पुष्पिताग्रा—अयुजि नयुगरेफतो यकारो,
युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।

मञ्जुभाषिणी—सजसा जगौ भवति मञ्जुभाषिणी।

शार्दूलविक्रीडित—सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

औपछन्दसिक—पर्यन्तेयौ तथैव शेषं त्वौपछन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्।

पञ्जाब यूनिवर्सिटी द्वारा सन् १९२८ के लिये प्राज्ञ परीक्षा की नियत पुस्तकों का सूचीपत्र

प्रथम पत्र–१ पुरुरूपरूपनिरूपणम् (दशावतार वर्णनम्) मूल
महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त संगृहीतम् ... १॥)
पुरुरूपरूपनिरूपणम् भाषा टीका छप रहा है।
२ विक्रमोर्वशीयम्–पं० चक्रधर शास्त्री कविरत्न कृत
संस्कृत टीका तथा सुललित हिन्दी भाषा सहित १॥)

द्वितीयपत्र–१ पञ्चतन्त्र प्रथम द्वितीय तथा तृतीय तन्त्र
२ स्वास्थ्यवृत्ति सूत्र स्थान अध्याय पञ्चम से अष्टम
तक चरकसंहिता म० म० पं० शिवदत्त संगृहीत ३)

तृतीयपत्र–१ गणितकौमुदी म० म० पं० शिवदत्त कृत सजिल्द १॥)
२ भारत भूगोल ... ... ।≡)
३ भारतवर्ष का इतिहास ईश्वरीप्रसादकृत प्रथमभाग ॥|=)
इतिहास की प्रश्नोत्तरावली ... ॥)

चतुर्थपत्र–१ वृत्तरत्नाकर–पं० रामप्रपन्नशास्त्रि कृत रत्नसंग्रह, अन्वय
बोधिनी, भाषाप्रभाकर ३ टीकाओं सहित ... २)
२ तर्कसंग्रह बालबोधिनी टीका ... ।–)
तर्कसंग्रह भाषाटीका और प्रश्नोत्तरी सहित पं० परमानंद
कृत विद्यार्थियों के लिये उपयोगी है ... ॥।)

पञ्चमपत्र–१ मध्यकौमुदी म० म० पं० शिवदत्त संगृहीत १॥)

षष्ठपत्र–१ संस्कृत से हिन्दी तथा हिन्दी से संस्कृत में अनुवाद।
अनुवाद के लिये कविरत्न पं० चक्रधर 'हंस'
हिन्दी प्रभाकर कृत "अनुवाद चन्द्रिका" बहुत ही
उपयोगिनी है। जोकि आजकल छप रही है।

नोटः–पं० चक्रधर शास्त्री द्वारा संगृहीत प्राज्ञ परीक्षा के प्रश्नप[...]
कर तय्यार हैं, आवश्यकतानुसार आर्डर दीजिये।